मध्यकालीन साहित्य-चिन्तन

मैथिली प्रसाद भारद्वाज

पब्लिकेशन ब्यूरो
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

मध्यकालीन साहित्य-चिन्तन

डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
प्रोफैसर, हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

पब्लिकेशन ब्यूरो
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

प्रकाशक
रणजीत कुमार मल्होत्रा, सेक्रेटरी
पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

प्रथम संस्करण : 1992
ISBN 81-85322 - 11 - 2

मूल्य : 160 रूपये

मुद्रक
आज़ाद हिन्द स्टोर्स (प्रा०) लिमिटेड
34, सैक्टर 17–ई, चण्डीगढ़ ।

अपने श्रद्धेय गुरुवर स्वर्गीय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की पुण्य-स्मृति में सादर समर्पित :

लेखक

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय वक्तव्य

यह बहुत हर्ष का विषय है कि पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ का पब्लिकेशन ब्यूरो अपने हिन्दी प्रकाशनों की श्रृंखला में एक और गौरव–ग्रंथ की वृद्धि कर रहा है । इससे पूर्व ब्यूरो ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रोफैसर गोविन्द नाथ राजगुरु, प्रोफैसर लल्लन राय, डॉ० अतुलवीर अरोड़ा और डॉ० रजनीकान्त पाण्डेय जैसे हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वानों और लेखकों की रचनाओं को प्रकाशित किया था । वरिष्ठ हिन्दी अध्यापक और समीक्षक प्रोफैसर मैथिली प्रसाद भारद्वाज की नव्यतम रचना – **मध्यकालीन साहित्य–चिन्तन** इसी कड़ी का महत्वपूर्ण प्रसार है ।

मध्यकाल को विश्व भर में अवनति, हीनता, पतन तथा अन्धकार के काल के रूप में देखने–परखने की परम्परा रही है । इस दृष्टि के पीछे क्लासिकी–सामन्ती सभ्यताओं के मध्यकाल में ह्रास और पतन का तत्त्व जिम्मेदार रहा है । पर इसी युग में ह्रासशील सामन्ती व्यवस्था की प्रतिक्रिया और विरोध में लोक का जागरण, क्रान्ति, विद्रोह और स्वातंत्र्य–प्रयास भी विचारणीय तथ्य रहे हैं । डॉक्टर भारद्वाज की इस पुस्तक में संगृहीत वैविध्यपूर्ण निबंधों में मध्यकाल के इसी लोकजागरण की आधारभूमि और अन्तर्वस्तु की खोज का सार्थक प्रयास हुआ है । विषय वैदिक आख्यानों से संबंधित हो अथवा बौद्ध–जैन एवं संस्कृत आख्यान–परम्परा से सम्बद्ध; वह भक्तिकालीन आंदोलन से जुड़ा हो या रीतिकालीन सामन्ती व्यवस्था पर आधारित – सामन्ती ह्रास और लोक के जागरण का सूत्र सब में समान रूप में व्याप्त होकर सबको सूत्रबद्धता प्रदान करता है । इस दृष्टि से मानव–विकास के मध्यकालीन सोपान को भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखने–समझने का ही प्रोफैसर भारद्वाज ने अपनी इस पुस्तक द्वारा प्रयास किया है ।

इस अध्ययन के पुस्तक रूप में प्रकाशन के लिए प्रोफैसर टी०एन० कपूर, कुलपति, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के प्रति आभार–अभिव्यक्ति मेरा सुखद

कर्त्तव्य है । उन्होंने मेरी संस्तुति पर सहर्ष और तुरंत प्रकाशन संबंधी औपचारिकताओं की अनुमति देकर न केवल इस पुस्तक का प्रकाशन ही सम्भव बनाया, बल्कि इसी वर्ग के अन्य कार्यों के लिए भी मेरा उत्साहवर्धन किया है ।

अन्ततः पुस्तक के प्रकाशन के लिए पब्लिकेशन ब्यूरो के अधिकारी और कर्मचारी वर्ग का पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त रहा है, जिसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य है । ब्यूरो के प्रोडक्शन एण्ड सेल्ज मैनेजर श्री हंस राज ग्रोवर, प्रोडक्शन एसिस्टेंट श्री सुभाष चन्द्र और उनके सहयोगी इस संदर्भ में विशेष उल्लेख और धन्यवाद के पात्र हैं । इन शब्दों के साथ यह पुस्तक हिन्दी के विद्वानों और पाठकों के लिए प्रस्तुत है ।

रणजीत कुमार मल्होत्रा
सचिव
पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़

प्राक्कथन

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन बहुत ही रोचक और चमत्कृत करने वाला अनुभव है । पूर्व और पश्चिम के पिछली पीढ़ी के लगभग सभी विद्वान इतिहास के तथा साहित्येतिहास के भी मध्यकाल को, भारतीय और पाश्चात्य दोनों संदर्भों में, पतनकाल, अंधकार काल, अवनति का काल तथा हीनता का काल कहते रहे हैं । विशुद्ध सामन्ती, आभिजात्य एवं क्लासिकी परिप्रेक्ष्य में यह बात कुछ-कुछ सही भी लगती है । यह काल यूरोप, अरब, ईरान तथा भारत आदि की क्लासिकी सभ्यताओं, सामन्ती समाजों और आभिजात्य धर्मों (हिन्दू, इस्लाम, ईसाई) के लिए काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है । इस काल में जो जीवन-मूल्य और जीवन-शैलियां इन सब क्षेत्रों में विकसित होती हैं, वे सुनिश्चित रूप में सामन्ती नहीं थीं । केवल इसी दृष्टि से इसे अवमूल्यन और ह्रास का काल कहा जा सकता है । पर सामन्ती मूल्यों में सातवीं शती के बाद से ही ह्रास की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, यदि उस संदर्भ में इसे देखा जाए तो ह्रासशील सामन्ती व्यवस्था की प्रतिक्रिया और विरोध में विकसित, इसे लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति तथा स्वातंत्र्य के रूप में भी देखा जा सकता है । इस परिप्रेक्ष्य में जब इस युग में उभरने वाले लोक के नव-जागरण, नव-जीवन मूल्यों और नवीन धार्मिक-साहित्यिक आंदोलनों का अध्ययन किया जाए तो बहुत ही रोचक, प्रेरक और हर्षदायक अनुभवों से साक्षात्कार होता है । हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण भक्तिकाल, जिसे स्वर्णयुग भी कहा जाता है, तथा बाद का रीतिकाल, जिसे सौंदर्य-श्रृंगार और यौवन का श्रेष्ठ युग कहा जाता है, इसी कालायाम में आते हैं, और इन्हें किसी भी तरह अंधकार, पतन अथवा अवनति के सूचक कहना संगत प्रतीत नहीं होता ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत में वैदिक युग पशुपालन से सामन्तवाद की ओर बढ़ रही समाज-व्यवस्था का काल रहा है । बाद का उपनिषदों का दर्शन और संस्कृत का साहित्य अभिजात वर्ग की विशेष धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं का आधार ग्रहण करता है । संस्कृत साहित्य में या तो आध्यात्मिकता के अथवा आभिजात्य उच्छृंखलता और वासना के स्वर प्रमुख रहे हैं । इसी प्रकार

भाषा–शैली में भी अति–अलंकरण की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। परन्तु वेदों में प्राप्त कुछ आख्यान–अंश, प्राकृत की कुछ कथात्मक रचनाएं और अपभ्रंश के साहित्य का बहुत बड़ा भाग लोक–परम्परा, लोक–मान्यता और सहज रोमांस के तत्त्वों की विद्यमानता के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गुणाढ्य, सोमदेव आदि की आख्यानात्मक रचनाएं अभिजात अथवा उच्च–वर्ग के विरुद्ध लोक की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास करती हैं।

हिन्दी–पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का आरम्भ ही वस्तुतः इस लोक–जागरण से पूर्णतः जुड़ा हुआ है। ये भाषाएं स्वयं में ही इस लोक–जागरण का व्यक्त रूप हैं, अतः इन भाषाओं और लोकजागरण को एक–दूसरे के कार्य और परिणति दोनों कहा जा सकता है। बाहर से आक्रमण करने वाले मुसलमान आरम्भिक संघर्ष के बाद तब तक भारत में स्थिर हो चुके थे। शीघ्र ही लोक के जागरण के परिणामस्वरूप सामन्ती–मतवादी परम्पराओं और हिन्दू तथा इस्लाम दोनों की रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष के स्वर उभरते हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म की उच्च–वर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता तथा शोषण से निराश लोक इससे पहले भी इस परम्परा से विमुख होकर बौद्ध, जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ–पंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था। इस्लाम का अनुयायी लोक, और मुख्यतः निम्न हिन्दू वर्गों से आया हुआ नवदीक्षित मुसलिम जनसामान्य भी मुसलमान शासकों, सामन्तों और मज़हबी नेताओं के द्वारा उतना ही शोषित और दमित अनुभव कर रहा था। आभिजात्यवादी–कर्मकाण्डी मान्यताओं पर से लोक का विश्वास उठ रहा था, और इसी लौकिक क्रान्ति में मध्यकाल में कबीर आदि मार्गदर्शकों के माध्यम से लोक अपने नए व्यक्तित्व की पहचान की प्रक्रिया में से गुज़रता है। इस परम्परा में गुरु नानक देव, दादू दयाल, रविदास, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास आदि सन्त; तथा जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि सूफी प्रेमाख्यानक कवि उभरते हैं। अभिजात धर्म, जीवन–परम्परा, नैतिक मान्यता, और ईश्वर संबंधी आस्था–विश्वास के प्रति भी ये अपने–अपने ढंग से अनास्था प्रकट कर लोक को नवीन आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया स्थान और मूल्य प्रदान करते हैं।

अभिजात वर्ग की मानसिक दासता से मुक्त लोक अब उसकी साहित्यिक–धार्मिक विधाओं के प्रति भी अपनी अनास्था प्रकट करता है। इन सब सन्तों, भक्तों और धर्मगुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश, इसी कारण, अभिजात हिन्दू और मुसलमान दोनों के कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं। मानसिक

दासता से मुक्त लोक अपने सहज अनुभव और सहज भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में भी अब मुक्त हो जाता है । वह अपने सहज ग्राम्य गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि को अपनी सहज, ग्राम्य तथा संस्कृत–विहीन लोक–भाषाओं में अभिव्यक्ति देने के लिए मानसिक दृष्टि से मुक्त हो जाता है । लोक की इस प्रतिक्रिया के भी मोटे तौर पर दो रूप प्रकट हैं । इस प्रतिक्रिया का एक रूप तो वह है, जब नवजागरणशील लोक इस व्यवस्था से सम्बद्ध हर वस्तु और हर स्थिति के प्रति अपनी वितृष्णा और विरोध व्यक्त करता है । दूसरे रूप में वह भाव–भरे मन से प्राचीन ''अच्छे समयों'' और ''अच्छे शासकों'' को याद करके प्रकारान्तर से वर्तमान को अस्वीकार करता है । भारतीय संदर्भ में इस दृष्टि से कबीर, गुरु नानक देव आदि प्रथम वर्ग के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं । इन्हें मध्यकालीन लौकिक नवजागरण के प्रतिनिधि कहा जा सकता है । ये अपनी समकालीन ह्रासशील आभिजात्यवादी – राजनीतिक, सामाजिक, मतवादी तथा सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज का खण्डन करते हैं । दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि तुलसीदास हैं, जिन्हें मध्यकालीन लौकिक पुनरुत्थान या प्रत्यावर्तन के नेता स्वीकार किया जा सकता है । कबीर और गुरु नानक के समान ये भी अपनी समकालीन व्यवस्था से पूरी तरह असंतुष्ट तो थे, पर इसका विकल्प और समाधान वे अपने कल्पित–काम्य–आदर्श (यूटोपिया) ''रामराज्य'' में ढूंढने की कोशिश करते हैं, जो अपनी सम्पूर्ण संरचना में साम्राज्यवादी होने पर भी प्रजावत्सल, जनकल्याणकारी और भक्तवत्सल रूप में परिकल्पित हुआ है ।

मध्यकाल की यह लोकजागरण की प्रवृत्ति और लोक का विद्रोह केवल भारत तक ही सीमित नहीं है । मध्य–एशिया, अरब तथा यूरोप में भी ह्रासशील सामन्ती व्यवस्थाओं के विरुद्ध इसी प्रकार के लौकिक आंदोलन उभर कर समग्र समाज–व्यवस्था, चिन्तन–परम्परा, मत–मज़हब और भाषा–साहित्य को गहराई से प्रभावित करते हैं । ड्रुइड पुरोहित, ट्रॉबोडोर गायक, फ्रांसीसी प्रावेंसलस तथा काथारिस्ट–ग्नास्टिक धर्म यूरोप में इसी जनजागरण के व्यक्त रूप हैं । ''कोर्टेज़िया'' यज्ञ और ''रोमांस'' इसी लौकिक अभ्युदय के व्यक्त सामाजिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति–रूप हैं । अरब–ईरान–अफगानिस्तान में भी सूफी मत, सूफी साधना और सूफी साहित्य कट्टर इस्लामी मान्यता और समाजव्यवस्था को नवीन जीवन–दर्शन और नवीन संवेदना से सम्पन्न बनाते हैं ।

इस पृष्ठभूमि में यदि विचार किया जाए तो मध्यकाल को अवनति, हीनता अथवा ह्रास का काल कहने के बजाय मध्यकालीन लोकजागरण, नवोत्थान तथा नव–परिष्कार का काल कहना अधिक संगत प्रतीत होता है । इस पुस्तक में

संगृहीत वैविध्यपूर्ण निबंधों में मध्यकाल के इस लोकजागरण की आधारभूमि और अन्तर्वस्तु की खोज एक समान तत्त्व के रूप में सर्वत्र विद्यमान है । विषय वैदिक आख्यानों से संबंधित हो अथवा संस्कृत आख्यान परम्परा पर आधारित, वह मध्यकालीन भक्ति से जुड़ा हो या रीतिकालीन सामन्तीय व्यवस्था से सम्बद्ध -- सामन्ती ह्रास तथा परिणामित लोक-जागरण का सूत्र सब में समान रूप में व्याप्त होकर सब को सूत्र-बद्धता प्रदान करता है । यहां तक कि हिन्दी की निकटतम भारतीय भाषा पंजाबी में रचित मध्यकालीन किस्सा-काव्य संबंधी चिन्तन भी इसी तत्त्व का रेखांकन करके मध्यकालीन विचार को विस्तृत राष्ट्रीय फलक प्रदान करता है, और इसे अधिक तार्किक प्रासंगिकता से सम्पन्न बनाता है ।

मध्यकालीन भारतीय साहित्य में किंचित् भी रुचि रखने वाले पाठक वर्ग के लिए यह निबंध-संग्रह बहुत विनम्रता के साथ प्रस्तुत है ।

विनीत

मैथिली प्रसाद भारद्वाज

चण्डीगढ़

अध्याय 1
मध्ययुग, मध्ययुगीन बोध : रचनात्मक एवं निषेधात्मक तत्व
(सन्त-काव्य के विशेष सन्दर्भ में)

मध्ययुग

प्राचीन सभ्यताओं के क्लासिकी समाजों के सन्दर्भ में मध्यकाल का आरम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है । भारतीय इतिहास के अनुसार भी मध्यकालीन प्रवृत्तियां हर्षवर्धन साम्राज्य की समाप्ति के साथ लगभग इसी काल में उभरती प्रतीत होती हैं । विश्व इतिहास में मध्यकाल का विस्तार सातवीं शती ईसवी से सत्रहवीं शती ई० तक लगभग एक हजार वर्षों का स्वीकार होता है । भारत के इतिहास के अनुसार यह काल उन्नीसवीं शती तक खिंच जाता है और इस प्रकार 1200 वर्षों के सुदीर्घ कालायाम को समेटता है । यह काल पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल के रूप में विभाजित होता है । पूर्व-मध्यकाल बारहवीं शती तक चलता है । यह वर्गीकरण क्लासिकी सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन-मूल्यों के एक विशिष्ट काल में ह्रास तथा कुछ ऐसे नवीन मूल्यों के विकास तथा वृद्धि पर आधारित है, जो सुनिश्चित क्लासिकी नहीं थे।[1] पूर्वमध्यकाल क्लासिकी मूल्यों के ह्रास के साथ सम्बद्ध है, जबकि उत्तर-मध्यकाल में लोक-धर्मों, लोकवृत्तियों, रोमानी आदर्शों तथा जीवन सम्बन्धी वैयक्तिक मूल्यों का अभ्युदय होता है । हिन्दी सन्तकाव्य के प्रणेता सभी सन्त और भक्त इसी दूसरे काल-खण्ड के महत्वपूर्ण नेताओं के रूप में उत्तर भारत में उभरते हैं, यह हमारी स्थापना है ।

मध्य-युग : समाज – मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ

भारत में क्लासिकी राजनीतिक शक्ति का ह्रास हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ आरम्भ हो कर 13वीं शताब्दी में केन्द्रीय इस्लामी सत्ता की स्थापना तथा हिन्दू शासन के पतन के साथ पूर्णता प्राप्त करता है । यह एक साम्राज्य द्वारा दूसरे साम्राज्य की पराजय मात्र न होकर राजनीति के लौकिक आधार से पूरी तरह विच्छिन्न हो जाने की प्रक्रिया का अंतिम छोर था । वस्तुतः यह प्रक्रिया साम्राज्य-स्थापना से पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी । यह मानव के सामाजिक इतिहास का सुविज्ञात तथ्य है कि विभिन्न समाजों के आरम्भिक कबीलाई स्वशासन के आधार रूप में जनतांत्रिक तथा लोकप्रिय आकांक्षाएं एवं गणतांत्रिक स्वीकृति के तत्व बीज रूप में विद्यमान रहे हैं । क्लासिकी व्यवस्था तक पहुंचने वाले सभी समाजों ने अपनी आरंभिक

---

1. यह काल-विभाजन इतिहासाधारित है । हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल की अवधारणा इस से भिन्न है ।

स्थितियों में किसी न किसी प्रकार के लोकप्रिय स्वशासन (चाहे वह कुछ विशिष्ट सुविधा सम्पन्न या निहित-स्वार्थ वाले वर्गों तक ही सीमित रहा हो) को अवश्य जिया और अनुभव किया। यूनानी गणराज्य तथा भारतीय जनपद इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि ये आरम्भिक जनपद राजाओं या साम्राज्य-संस्थापक व्यक्तियों द्वारा या तो दबा लिए गए या आत्मसात कर लिए गए।

कबीलाई अथवा आदिम जनतांत्रिक व्यवस्था की अपेक्षा साम्राज्य-स्थापना को मानव की सर्वतोमुखी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति की शक्तियों की सक्रियता और प्रसार की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस व्यवस्था में वर्ग तथा श्रम के विभाजन के कारण विकास की गति बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु साथ ही यह व्यवस्था अपने जन्म से ही अपनी अन्तर्निहित प्रकृति में मुट्ठी भर शासक वर्ग और बृहत् शोषित समुदाय के बीच बढ़ती हुई दूरी, खाई और सीमा-रेखा के बीज लेकर बढ़ती है। आरम्भिक अवस्थाओं में जब राजा लोकप्रिय नेताओं की क्षमताओं और सम्भावनाओं से सम्पन्न रूप में उभरते हैं, तो वे शासित वर्ग के हृदय में सामूहिक वफादारी और राष्ट्रीय उत्साह की भावना के प्रतीक बन जाते हैं। परन्तु कालान्तर में जब यह व्यवस्था अपने अनुत्पादक शासक वर्ग के अस्तित्व के लिए अधिकाधिक दमन कारी सैनिक शक्ति पर निर्भर होकर शोषण और दमन का सहारा लेती है, तो शासित जन के मन में जीतने और हारने, आने और जाने वाले राजा के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा, अरुचि और विलगाव की भावना के विकास का कारण बनती है। विश्व के इतिहास में क्लासिकी समाज व्यवस्थाओं के विरुद्ध लोक के अभ्युदय, क्लासिक-विरोधी प्रतिक्रिया, क्लासिकी व्यवस्था के ह्रास और मध्यकाल के आरम्भ के सूचक-बिन्दु के रूप में इस स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

मध्यकाल : ऐतिहासिक सन्दर्भ

क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, इस्लाम और ईसाई) की छिन्न-भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल को पतनकाल, अन्धकार काल, अवनतिकाल, हीनता का काल आदि भी कहा जाता है। परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती दृष्टि और अभिजात्य रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है। निरपेक्ष दृष्टि से इसे क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह और स्वतन्त्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं के लिए यह काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है। धर्म, मत और सामाजिक मान्यता के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं। सामाजिक व्यवस्था और वर्गभेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं।[2] भारत में इस्लामी शासन के स्थिर हो जाने के बाद ही इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है। हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को आघात प्राप्त होता है। पौराणिक हिन्दू धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी इससे विमुख होकर बौद्ध-जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ-पंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था।[3] इस्लाम का अनुयायी लोक

---

2. ग्रियर्सन, हर्बरट द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक), पृष्ठ 285

3. टामस, पी० इण्डियन वुमेन थ्रू द एजिज, 1964, पृष्ठ 222-224

भी इस्लामी शासन होने पर भी स्वयं को उतना ही शोषित तथा दमित अनुभव कर रहा था। ऐसे अवसर पर तथा इस स्थिति में लोक इस व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न रूपों और तरीकों से अपना विरोध और प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इस प्रतिक्रिया का एक रूप तो वह है जब नवजागरण-शील लोक इस व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ के प्रति अपनी वितृष्णा तथा विरोध व्यक्त करता है, तो दूसरे रूप में वह भाव भरे मन से प्राचीन 'अच्छे समयों' और 'अच्छे शासकों' को याद करके प्रकारान्तर से वर्तमान को अस्वीकार करता है। भारतीय सन्दर्भ में इस दृष्टि से कबीर, गुरु नानक देव आदि प्रथम वर्ग के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं, जो अपनी समकालीन आभिजात्यवादी, राजनीतिक, सामाजिक, मतवादी तथा सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ का खण्डन करते हैं। दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि तुलसीदास हैं, जो कबीर और नानक के समान अपनी समकालीन व्यवस्था से पूरी तरह असन्तुष्ट तो थे, परन्तु इसका विकल्प और समाधान अपने कल्पित-आदर्श (यूटोपिया) रामराज्य में ढूंढने की कोशिश करते हैं, जो अपनी संरचना में साम्राज्यवादी होने पर भी प्रजावत्सल और जनकल्याणकारी रूप में परिकल्पित हुआ है।

मध्यकाल, लोकजागरण और हिन्दी सन्तकाव्य

प्रस्तुत विवेचन की आधारभूमि हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों के बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक की प्रतिक्रिया का उपर्युक्त प्रथम (कबीर, नानक, आदि वाला) रूप है। मज़हबों की भिन्नता होने पर भी यह वर्ग परस्पर निकटता और एकात्मकता अनुभव करता है। ह्रासशील क्लासिकी-आभिजात्यवादी मान्यताओं के ऊपर लोक का विश्वास उठता है। लोक की इसी क्रान्ति में कबीर और गुरु नानक देव जैसे क्रान्तिकारी मार्गदर्शकों के माध्यम से लोक अपने नये व्यक्तित्व, नये अस्तित्व की पहचान करता है।

गुरु रविदास, दादूदयाल, गुरु तेगबहादुर, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास जैसे महान् मध्यकालीन सन्त और समाज सुधारक और फरीद, जायसी, मंझन, कुतुबन, शेख उस्मान और बुल्हेशाह जैसे महान सूफी कवि इसी क्रान्ति और लोकजागरण के भिन्न-देशीय प्रकाश-पुंजों के रूप में अवतरित होते हैं।

अभिजात वर्ग के क्लासिकी धर्म, परम्परा, नैतिक मान्यता, जीवन-पद्धति और यहां तक कि ईश्वर के प्रति भी ये सब अपने-अपने ढंग से अनास्था प्रकट करते हैं। इस प्रकार ये लोक को एक नयी आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया मूल्य तथा नया स्थान प्रदान करते हैं। अभिजात वर्ग की मानसिक गुलामी से मुक्त नवजागृत लोक अब उसकी धार्मिक-साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अनास्था प्रकट करता है। इसीलिए उपर्युक्त सभी सन्तों, भक्तों और धर्मगुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश अभिजात हिन्दू और मुसलमान दोनों के आडम्बरयुक्त कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं।[4] मानसिक दासता से मुक्त और नव-व्यक्तित्व से सम्पन्न लोक अपने सहज अनुभव, सहज चिन्तन तथा सहज भावनाओं की

---

4. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, गुरु तेगबहादुर की वाणी के समाज-शास्त्रीय आयाम (लेख) रमेशकुन्तल मेघ (सम्पा०) **नवम् गुरु पर बारह निबंध**, 1982, पृष्ठ 46-61

अभिव्यक्ति में भी अब मुक्त हो जाता है। वह अभिजात के भाषा-नियंत्रण, साहित्य शास्त्र और आरोपित सामाजिक-नैतिक मर्यादा से भी मुक्त हो जाता है। वह अपने सहज ग्राम्य-गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि को अपनी ग्राम्य, संस्कृत-विहीन भाषा में अभिव्यक्ति देने के लिए भी मानसिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है।[5]

सन्त-काव्य : मुख्य प्रतिपाद्य

परम्परागत काव्य-शास्त्रीय नियमों को सामान्यतः स्वीकार न करते हुए सन्तों की वाणी की रचना लौकिक परम्परा में प्रचलित रागों, श्लोकों और दोहों आदि के माध्यम से हुई है। भक्ति, संन्यास और त्याग सन्त काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। विश्व और वैश्विक सम्बन्धों की अनित्यता और असारता समग्र सन्तकाव्य के चिन्तन का सार है। योगी के लक्षण-कथन में गीता का कथन प्रतिध्वनित होता है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान से अप्रभावित रहना श्रेष्ठ गुणों के रूप में स्थापित हुए हैं। न किसी को भयभीत करने और न भयभीत होने के कथन में श्रामणिक दर्शन प्रतिध्वनित हुआ है। ईश्वर पर आस्था, एकांतिक भक्ति और समग्र भाव से शरणागति एकमात्र कर्त्तव्य और उपाय माने गए हैं। जागतिक सम्बन्धों को अनित्य स्वीकार किया गया है और मोह, माया, क्रोध, मद, काम, लोभ आदि को इस अनित्य संसार में मानव को लिप्त करने वाले हीन अवगुणों के रूप में मान कर परित्याज्य कहा गया है। पाखण्ड और रूढ़ि-त्याग का स्वर सन्त वाणी में प्रमुख है।

सन्त काव्य में समाज के परिवार-वृत्त के अथवा परिवारेत्तर सम्बन्धों के विषय में या तो कुछ भी नहीं कहा गया है या बहुत कम कहा गया है। अगर कहीं भाई-बहन, पति-पत्नी, माता-पिता अथवा मित्र-सम्बंधियों की बात हुई भी है, तो उन्हें अनित्य, अवास्तविक तथा भ्रम मात्र कह कर इनका अवमूल्यन ही हुआ है। वास्तविक सम्बन्ध केवल आत्मा और परमात्मा का ही बताया गया है। सामाजिक अन्तर्सम्बन्ध एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह विचारणीय स्थिति है। प्रकटतः मानव की स्वाभाविक वासनाओं और प्रवृत्तियों की अमान्यता, जिनमें उसकी समूह और सामाजिक वृत्ति भी महत्वपूर्ण है, अवैज्ञानिक और मनोविज्ञान-विरोधी स्थापना स्वीकार हो सकती है, परन्तु सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों में इन प्रवृत्तियों का उन्नयन, अतिरिक्त समाजीकरण अथवा किंचित दमन श्रेष्ठ सामाजिक संरचना की प्रथम शर्त भी है। हर सामाजिक संगठन में घटकों की वैयक्तिकता का कुछ सीमा तक समष्टि में विलयन सर्वत्र काम्य होता है,और जब इन प्रवृत्तियों की अनित्यता की प्रस्थापना द्वारा किसी पराजागतिक (ट्रांसेडेंटल) आदर्श की स्थापना काम्य हो तो यह निश्चित रूप में क्लासिकी समष्टि भावना से भी उच्चतर स्थिति स्वीकार हो सकती है। बृहतर लोक-जागरण के संदर्भ में इस तत्व का विश्लेषण सन्त-काव्य के परिप्रेक्ष्य में रोचक हो सकता है।

सन्तकाव्य : रचनात्मक तत्व

सन्त कवियों के जीवन को धर्म, नैतिकता और सामाजिक मूल्य-मान्यताओं के साथ पूरी

---

5. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन (लेख), परिशोध-14 जनवरी, 1971, पृष्ठ 44-50

तरह प्रतिबद्ध स्वीकार किया जाता है । परन्तु उनके काव्य पर विचार करते हुए प्रायः आलोचक यह कहते हैं कि वे सन्त थे, जगत को मिथ्या मानते थे, अतः उन्होंने सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों और जागतिक विषयों के बारे में स्वीकारात्मक दृष्टि से प्रायः कुछ नहीं कहा । जगत और जागतिक सम्बन्धों को गुरु रविदास मिथ्या और विनाशकारी कहते हैं । उनके अनुसार प्रभु स्वयं बाज़ीगर है और यह जगत उसकी बाज़ी है । प्रभु ही सत्य है और उसकी यह बाज़ी असत्य और अनित्य है ।[6] इसी प्रकार गुरु तेगबहादुर वाणी पर विचार करते हुए मदनलाल गुलाटी कहते हैं--- "उनका दृष्टिकोण केवल भक्त का दृष्टिकोण है । अतः संसार की नश्वरता बताने के बाद उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक पहलुओं पर विचार करने की बात ही नहीं उठती ।............ जब वृक्ष ही ज़हरीला हो, फिर उसके फूलों एवं फलों का वर्णन करने से क्या लाभ ।"[7] सभी सन्तों के काव्य के सम्बन्ध में यह प्रायः समान दृष्टि रही है । पर यह बहुत विचित्र और विचारणीय स्थिति भी है और सैद्धान्तिक कसौटी पर इसका कसा जाना उचित होगा ।

गम्भीर समाज-वैज्ञानिक खोजों पर आधारित जे० पी० स्काट का मत चिन्तन को आगे बढ़ाने में सहयोगी हो सकता है । वह कहते हैं – "जो सामाजिक संस्था या व्यवस्था अपने घटकों के मूलभूत, नैसर्गिक और प्रवृत्तिजन्य व्यवहारों को पूरी तरह से दबाने, विकृत करने या निषिद्ध करने पर प्रयास करती है, वह या तो स्वयं मर जाती है अथवा उस समाज की छिन्न-भिन्नता का कारण बनती है या फिर समाज के घटकों की विकृत और अवांछित व्यवहार प्रक्रियाओं को जन्म देती है ।"[8] मानव मूल रूप में एक विकसित पशु है, जिसका जीवन कुछ आनुवंशिक संस्कारों या प्रवृत्तियों द्वारा तथा अनुभवाधारित ज्ञान द्वारा संचालित होता है ।[9] इसलिए उसके लिए सहज व्यवहार का निषेध, पूर्ण निवृत्ति और संसार की अनित्यता का दर्शन जीवन-संवहन और संचालन में सहयोगी नहीं हो सकता । तो क्या सारे सन्तकाव्य में लगभग सर्वत्र इस प्रकार के निवृत्तिमूलक दर्शन की व्याप्ति सामाजिक छिन्न-भिन्नता और विकृति का कारण बनी ? उत्तर स्पष्ट नकार में दिया जा सकता है । बल्कि यह कहा जा सकता है कि सन्तों की वाणी से सामाजिक जीवन के उच्च और काम्य पक्षों को ही बल मिला, जिसके प्रमाण सन्तों के अपने निजी जीवन में और उनके पंथों के इतिहास में प्राप्त हैं । इस प्रकार इस प्रकट विरोधाभास पर कुछ अधिक विचार अपेक्षित हैं --

किसी कवि, चिन्तक, भक्त या नियामक की वाणी युगीन समाजों के प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने के प्रयास रूप में स्वीकार हो सकती है । यह उसके सामाजिक व्यवहार का अनिवार्य अंग होता है । पूरी ईमानदारी के साथ अपने कथन को स्वांतः-सुखाय कहने वाले की रचना भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सामाजिक अनिवार्यता, मूल्य-योजना और नैतिक मान्यता द्वारा ही रूपाकार ग्रहण करती है । समाज के किसी भी घटक के पूरी तरह

---

6. आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, **रविदास दर्शन**, 1973, पृष्ठ 64
7. मदनलाल गुलाटी, **हिन्दी कवि गुरु तेगबहादुर**, 1968, पृष्ठ 94-95
8. जे० पी० स्काट, **इन्टरनेशनल इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल-सायंसेस**, 1968, पृष्ठ 350
9. **वही०**, पृ० 350

सामाजिकता-विहीन व्यवहार की कल्पना भी सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में कहा गया है — "सामाजिक व्यवहार से तात्पर्य उस व्यवहार से है, जो उसी वंश के अन्य प्राणी के द्वारा या तो सम्प्रेरित होता है या उसे प्रभावित करता है। इस प्रकार हर प्रकार के व्यवहार में कम या अधिक सामाजिकता अनिवार्य है तथा पूरी तरह से सामाजिकता-विहीन व्यवहार की प्रायः सामान्यतः कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[10]

किसी भी प्राणी के किसी भी व्यवहार को सामाजिकता-विहीन स्वीकार नहीं किया जा सकता, और दूसरी ओर लगभग सभी सन्तों (या उनके वर्ग के विश्व के किसी भी भक्त-महात्मा) की वाणी में संसार तथा सांसारिक जीवन की अमान्यता, निषेध अथवा उपेक्षा का स्वर अनिवार्यतः प्रमुख रहा है।[11] अतः यहां एक अन्य स्तर पर विचार अपेक्षित है।

समाज-दर्शन के अनुसार मानव की विभिन्न जीवन-दृष्टियां तथा उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थायें नित्य, शाश्वत, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर युग एवं समाज-सापेक्ष होती हैं। विभिन्न युगों और समाजों में भिन्न हो जाना इनकी नियति भी है और बाध्यता भी। स्पेंग्लर के अनुसार "कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं होता, तथा विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है। प्रत्येक युग और युगीन समाज के शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, नीति-अनीति, औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी अपने-अपने मूल्य, मान आदि होते हैं। इन्हीं मूल्यों और प्रतिमानों के आधार पर ही किसी युग अथवा युगीन समाज का मूल्यांकन और विश्लेषण सम्भव, संगत और उचित है।"[12]

तो क्या संसार की प्रीति झूठी होने, दुनिया सपना मात्र होने तथा ईश्वर ही एकमात्र सत्य होने सम्बन्धी दर्शन सन्तों के युग के समाज का मूल्य और प्रतिमान था? इसका उत्तर 'हां' और 'न' दोनों रूपों में दिया जा सकता है। गुरु तेगबहादुर की वाणी सम्बन्धी इसी प्रकार के प्रश्न के सन्दर्भ में अपनी सुरक्षात्मक टिप्पणी में प्यारासिंह पद्म कहते हैं :-

"---इससे यह अभिप्राय नहीं कि वह (गुरु तेगबहादुर) पलायनवादी थे और इस संसार को मिथ्या अथवा असत्य कह कर योगियों की तरह त्याग का उपदेश दे रहे थे। मालूम होता है उन्होंने अपने समय की दशा को अच्छी तरह जांच लिया था, जिसमें गरीब जनता बुरी तरह पिस रही थी। मज़हब के नाम पर समय की सरकार जो कुछ कर रही थी, वह अति भयंकर रूप धारण किए हुए था और विचारों की स्वतंत्रता नाम मात्र भी नहीं थी। एक भयभीत था, एक-भयानक। एक मज़लूम था एक ज़ालिम।"

इसमें निर्भय होने की शिक्षा देते हुए गुरु ने कहा कि निपुण पुरुष वही है जो दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करे। .... जनसाधारण में कुर्बानी अथवा बलिदान के भाव पैदा करने हेतु आवश्यक था कि इस संसार का **मोह छोड़ा** जाए, इस शरीर

---

10. डेविड एल० सिलस, **इन्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल सायंसेस**, पृष्ठ 342
11. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, सन्तगुरु रविदास की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम (लेख), पृथ्वीसिंह आजाद (सम्पा०) **सन्त गुरु रविदास**, जालन्धर, 1983, पृष्ठ 111-136
12. धीरेन्द्र वर्मा (सं०) **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग-1, पृष्ठ 884-885

को मिथ्या तथा आदर्शों को सर्वोपरि मान कर लोगों को संघर्ष के लिए सावधान किया जाए ।[13]

इस कथन को पूर्ण सत्य तो सम्भवतः न माना जाए, पर इसमें सत्यांश अवश्य है । पूर्ण सत्य न मानने के मार्ग में बाधक तत्व यह है कि केवल कबीर, रविदास, सिख गुरुओं और अन्य भक्तों में ही जिन्हें परिस्थितिवश अपने युग में एक आक्रामक शक्ति का साक्षात्कार करना पड़ा था, जीवन और जगत सम्बन्धी यह धारणा व्यक्त नहीं की । उस काल में भारत में ही नहीं, भारत से बाहर के भी लगभग सभी सन्तों और भक्तों ने जगत और जागतिक क्रियाओं तथा विषयों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा और आस्था व्यक्त की । इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सम्बद्ध तथा नितान्त अकेले, आक्रान्त तथा शासकों द्वारा पूज्य, सभी सन्तों ने लगभग इसी प्रकार के दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

परन्तु ऐतिहासिक सन्दर्भ में मध्ययुगीन किसी भी सन्त तथा लोकनेता की वाणी के पराजागतिक (ट्रांसेडेंटल) स्वर की सत्यता को दृढ़ समाजशास्त्रीय आधार पर सहज रूप में स्वीकार किया जा सकता है । ईसाइयत के मध्ययुगीन रूपान्तर के लौकिक प्रभाव का उल्लेख यहां उपादेय हो सकता है । । ईसाइयत प्राचीन काल की यूनानी-रोमी परिशुद्धतावादी व्यक्तिनिष्ठ (एब्सोल्यूटिस्ट – इंडीविजुएलिस्टिक) समाज-व्यवस्थाओं में एक नए तत्व का समावेश करती है । सामाजिक संरचना में यह तीन विभिन्न तथा विविधरूपी दृष्टियों का विकास करती है । वे हैं --- (1) पराजागतिक, परावैश्विक अथवा विश्वअनुभवातीत (ट्रांसेडेंटल), (2) विश्ववादी (यूनिवर्सैलिस्टिक), तथा (3) वैयक्तिक (इंडीविजुएलिस्टिक) । इसकी विश्ववादी दृष्टि रोमन वैयक्तिक न्याय तथा विश्व भर को समानता की दृष्टि से देखने की भावना का प्रतिरूप है । दूसरी ओर इसकी पराजागतिक दृष्टि ने जनता को ऐसे मूल्य प्रदान किए जो ईसाई विश्वास के अनुसार निश्चित रूप में इस जगत और वैश्विक कार्यव्यवहार से श्रेष्ठ थे । आरम्भिक ईसाइयत ने प्रचलित सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों को यथावत स्वीकार करने का प्रयास अवश्य किया, पर मध्यकाल के लोकजागरण तथा रोमांसिक अभ्युदय के साथ क्रमशः बड़ी दृढ़तां के साथ यह प्रतिपादित करने का प्रयास अवश्य किया कि प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक-आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन को प्रत्येक जागतिक एवं सांसारिक पदार्थ और प्रक्रिया से भिन्न एवं श्रेष्ठ स्तर पर स्वीकार किया जाना चाहिए । इस प्रकार इसने पूर्वयुगीन वैयक्तिकता अथवा व्यक्ति-निष्ठता की भावनाओं को एक सुदृढ़ तथा गहरा पराजागतिक इन्द्रियातीत (ट्रांसेडेंटल) आधार प्रदान किया । इससे पूर्वकाल की आदिम या कबीलाई व्यवस्थाएं इस प्रकार की अवधारणाएं किसी भी स्तर पर नहीं कर पाई थीं । इस प्रकार मध्यकाल में ईसाइयत विशिष्ट आस्थाशील और नवजागृत लोक में अपने रहस्यवादी-त्यागवादी, संन्यासपूर्ण तथा पराजागतिक निवृत्तिमूलक दर्शन के माध्यम से तत्कालीन मतवादी अथवा राजनीतिक शासनों के विरुद्ध अवमानना, मूल्यहीनता और निर्भयता का भाव जगाने में सफल हुई ।[14]

---

13. प्यारासिंह पद्म (सं०) **वाणी गुरु तेगबहादुर**, 1970, भूमिका भाग, पृष्ठ (ज्ञ)

14. टेल्स, एच पार्सन, **एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल सायंसेस**, खण्ड 13–14, पृष्ठ 226

उपर्युक्त वर्ग की प्रतिक्रिया किसी देश-विशेष अथवा मत-विशेष की विशिष्टता नहीं कही जा सकती । जब कभी भी लोक क्लासिकी परिशुद्धतावाद तथा सामाजिक अत्याग्रहों के विरुद्ध प्रतिकृत हुआ है, तो इसी प्रकार की पराजागतिक धारणाओं के माध्यम से इहलोक और एहलौकिक तत्वों के प्रति हीनता तथा अवमानना की अभिव्यक्ति हुई है । क्लासिकी इस्लाम के विरुद्ध सूफी सन्तों की प्रतिक्रिया इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगण्य है । यूरोप में ह्रासशील क्लासिकी मूल्यों के विरोध में फ्रांसी प्रावेंसलस, ड्रूइड पुरोहितों और ट्राबोडोर गायकों की प्रतिक्रिया भी इसी वर्ग की थी ।[15] सन्तकाव्य के सन्दर्भ में इस अकेले तत्व को मध्ययुगीन बोध के श्रेष्ठतम रचनात्मक तत्व के रूप में रेखांकित किया जा सकता है । सन्तकाव्य के तपस्या, योग, मोक्ष, भक्ति, समर्पण, संन्यास, अहिंसा, जन्मान्तरवाद, आत्मवाद तथा निराशावाद आदि गुण इसी एक तत्व में से उद्‌भूत अवांतर गुणों के रूप में सहज स्वीकार हो सकते हैं ।

सन्तकाव्य : निषेधात्मक तत्व

सन्तकाव्य की रचना के मध्ययुग तक धीरे-धीरे महान सन्तों के शिष्यत्व के आधार पर सम्प्रदायों की रचना आरम्भ हो गई । सम्प्रदायबद्धता के कारण संगठन, व्यवस्था, साधन-सुलभता और उत्साह की मात्रा की वृद्धि स्वाभाविक थी । इससे सन्तों की वाणियों के संग्रह, संरक्षण और प्रचार की व्यवस्था भी हुई । दादूपंथ, कबीरपंथ, सिखपंथ आदि इसके उदाहरण हैं । पर इन्हीं कारणों से परवर्ती सन्तकाव्य में अंधानुकरण और परम्परा निर्वाह की प्रवृत्तियों का विकास हुआ । उलटवासियों की उक्तिचातुरी और व्यंग्यपटुता का स्थान अब दुरूह, अटपटी तथा कृत्रिम शैली और वागाडम्बर ने ले लिया ।[16] पंथों में क्रमशः संकीर्णता का प्रवेश हुआ जिसका प्रभाव परवर्ती वाणियों पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों का प्राधान्य होता है और जिस विचारधारा के लिए यह माना जाता था कि यह सम्पूर्ण विश्व के द्वारा समान रूप में अपनाई जा सकती है, उसके अनुयायियों के भिन्न-भिन्न वर्ग बनते गए । जिस मत के प्रचारकों ने कभी बाह्याडम्बरों को हेय ठहराकर स्वानुभूति और उदाहरण को ही प्रश्रय दिया था, उसमें बाहरी-विधान और वेशभूषा को महत्व दिया जाने लगा । जिनके दार्शनिक सिद्धांत अनिर्वचनीय परमतत्व से ही सम्बंधित थे, उनमें संत की मूर्तिपूजा, पादुका पूजा, सम्प्रदाय के पुराने अवशेषों तक की पूजा के तत्व अधिक महत्वपूर्ण हो गए ।[17] इन्हें निश्चित रूप में मध्यकालीन लोकजागरण की अभ्युदय की अवस्था का अवसान एवं निषेधात्मक स्वरूप कहा जा सकता है ।

---

15. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, 1971, पृष्ठ 27–30
16. परशुराम चतुर्वेदी, **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग 1, पृष्ठ 853–854
17. परशुराम चतुर्वेदी, **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग 1, पृष्ठ 855–856

अध्याय 2

मध्यकालीन जनजागरण और हिन्दी साहित्य

(हिन्दी भक्ति तथा रीतिकाव्य की भूमिका का विशिष्ट संदर्भ)

1. विषय उपस्थापन

विश्व इतिहास के मध्यकाल का आरम्भ ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है, तथा सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इसका प्रसार माना जाता है। भारत के संदर्भ में भी मध्यकाल का आरम्भ वर्धन साम्राज्य के पतन के साथ, लगभग उपर्युक्त काल में ही स्वीकार्य है, परन्तु इसका फैलाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है। इतिहास के इस मध्यकाल को पूर्वमध्यकाल (सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक) और उत्तर मध्यकाल (तेहरवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक) दो विभागों में बांटा जाता है। काल-विभाजन की इस दृष्टि का आधार मानवीय जीवन में वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर पूर्व एवं उत्तर काल से कुछ निश्चित विभेद, विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन की प्रवृत्तियां रही हैं, जिन पर आगे विचार किया जा रहा है।

विश्व इतिहास के काल विभाजन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार भी ग्रहण करते हैं, एवं तदनुरूप वे हिन्दी साहित्य को भी आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में वर्गीकृत करते हैं। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को भी पूर्वमध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल के दो उपवर्गों में विभाजित किया जाता है। परन्तु यह ध्यातव्य है कि विश्व इतिहास और हिन्दी साहित्य के इतिहास के उपर्युक्त वर्गीकरण में पर्याप्त काल-भेद है। हिन्दी साहित्य का आरम्भ इतिहास के उत्तर-मध्ययुग (1200-1857 ई०) में होता है। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल तथा समग्र मध्यकाल विश्व इतिहास के इसी उत्तर-मध्यकाल में समाविष्ट है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदिकाल, पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल) तथा उत्तर-मध्यकाल (रीतिकाल) की प्रवृत्तियां इतिहास के उत्तर-मध्यकाल से ही निःसृत हैं। प्रस्तुत पत्र में मध्यकाल की जन-जागरण की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल की चेतना तथा पृष्ठपीठिका पर विचार हो रहा है।

2. मध्यकाल : मुख्य प्रवृत्तियां

क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, ईसाई और इस्लाम) की छिन्न-भिन्नता मध्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। यही कारण है कि पिछली पीढ़ी के सभी पूर्वी और पश्चिमी विद्वान मध्यकाल को पतनकाल, अंधकार काल, अवनतिकाल और हीनता-काल नाम से भी अभिहित करते रहे हैं। परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती-आभिजात्य (फ्यूडल-

क्लासिकल) दृष्टि का रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है। निरपेक्ष दृष्टि से इसे सामन्ती-क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। मध्यकाल यूरोप, अरब, ईरान और भारत की सामंती सभ्यताओं के लिए और क्लासिकी धर्मों के लिए काफी परिवर्तन, अवमूल्यन (डीवेलुएशन) और विघटन का काल रहा है। धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता की रूढ़िगत मान्यताओं के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं। सामाजिक-व्यवस्था और वर्गभेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं। इसी परिवर्तन के क्रम में पश्चिमी यूरोप के ड्रूइड पुरोहित तथा ट्राबोडोर गायक, फ्रांस के प्रावेंसलस और फारसी तथा भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित काथारिस्ट सारे यूरोप को एक नया प्रेमवादी, रहस्यवादी, भावुक, अभिजातविरोधी एवं जनाभिमुख जीवन-दर्शन प्रदान करते हैं। इसी प्रकार अरब और ईरान में भी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध सूफी विचार-दर्शन तथा जीवन-प्रक्रिया का अभ्युदय होता है।

भारत में वैदिक युग कर्मकाण्ड का तथा सामन्ती व्यवस्था की ओर बढ़ रही समाज-व्यवस्था का काल रहा है। बाद का उपनिषदों का दर्शन और संस्कृत का साहित्य अभिजात वर्ग की विशेष धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं का आधार ग्रहण करता है। संस्कृत-साहित्य में या तो आध्यात्मिकता के अथवा आभिजात्य उच्छृंखल वासना और भाषा-शैली के अलंकरण के स्वर प्रमुख रहे हैं। इसके विरुद्ध बौद्ध-जैन प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य का बहुत बड़ा भाग लोकपरम्परा, लोकमान्यता और सहज रोमांस के तत्वों की विद्यमानता के प्रमाण प्रस्तुत करता है। गुणाढ्य, सोमदेव आदि की कृतियां अभिजात अथवा उच्चवर्ग के विरुद्ध लोक की भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती हैं।

हिन्दी और पंजाबी आदि लोकभाषाओं की आरम्भिक कृतियां अवश्य धर्म-दर्शन, नैतिक मान्यताओं तथा सामन्ती वीर-भावना का प्राधान्य लिए हुए हैं। परन्तु शीघ्र ही लोक का नवजागरण इस स्थिति को बदल देता है। बाहर से आक्रमण करने वाले मुसलमान आरम्भिक संघर्ष के बाद भारत में स्थिर हो जाते हैं। इसके साथ ही विश्व स्तर पर अभिजात के विरुद्ध लोक का विद्रोह उभरता है। यूरोप तथा अरब-ईरान में सामन्ती-मतवादी परम्पराओं के विरुद्ध स्थानीय लोक मत-मज़हब के स्तर पर ही विद्रोह के स्वर ऊंचे करता है। भारत में भी जन-जागरण के परिणाम-स्वरूप हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है। हिन्दू-धर्म की उच्च-वर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी उससे विमुख होकर बौद्ध, जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ पंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था। इस्लाम का अनुयायी लोक तथा जनसामान्य भी स्वयं सामन्ता द्वारा उतना ही शोषित तथा दमित अनुभव करता है। दोनों सम्प्रदायों का यह बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक परस्पर एकात्मकता अनुभव करता है। अभिजात्यवादी, कर्मकाण्डी मान्यताओं से लोक का विश्वास उठता है और लोक की इसी क्रान्ति में कबीर जैसे मार्गदर्शक के माध्यम से लोक अपने नए व्यक्तित्व को पहचानता है। इसी परम्परा में गुरु नानक, दादू दयाल, रविदास, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास आदि सन्त तथा जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख उसमान आदि सूफी प्रेमाख्यान कवि उभरते हैं।आभिजात्य धर्म, जीवन परम्परा, नैतिक मान्यता, ईश्वर सम्बन्धी विश्वास आदि के प्रति ये अपने-अपने ढंग

से अनास्था प्रकट कर लोक को नवीन आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया स्थान और मूल्य प्रदान करते हैं ।

अभिजात की मानसिक दासता से मुक्त लोक अब उसकी साहित्यिक-धार्मिक विधाओं के प्रति भी अपनी अनास्था प्रकट करता है । इन सब सन्तों, भक्तों और धर्मगुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश, इसी कारण, अभिजात हिन्दू-मुसलमान दोनों के कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं । मानसिक दासता से मुक्त लोक अपने सहज अनुभव और सहज भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में भी अब मुक्त हो जाता है । वह अपने सहज ग्राम्य गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों को अपनी सहज, ग्राम्य तथा संस्कृत-विहीन लोक-भाषाओं में अभिव्यक्ति देने के लिए मानसिक दृष्टि से मुक्त हो जाता है ।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल (पूर्वमध्यकाल) तथा रीतिकाल (उत्तर मध्यकाल) के साहित्य का उपर्युक्त ऐतिहासिक उत्तरमध्यकालीन जनजागरण के संदर्भ में अध्ययन-विवेचन ही इस पत्र की विचार सीमा है ।

3. हिन्दी भक्ति-काव्य : जनजागरण का संदर्भ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काव्य की प्रेरक शक्तियों के रूप में हिन्दू जाति की निराशा और हताशा को मुख्य कारण बताया है । वह कहते हैं : 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उसके देवमन्दिर गिराए जाते थे । देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे । ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे । आगे चल कर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए । इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही । अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ।'' आचार्य शुक्ल के आधार पर परवर्ती साहित्येतिहासकार इसी कथन को दोहराते गए और भक्तिकालीन साहित्य को हताश जाति की पलायन-प्रवृत्ति का प्रतिनिधि साहित्य मान लिया गया । परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य विद्वानों ने इस धारणा का विरोध किया । अब यह सर्वमान्य है कि तत्कालीन परिस्थितियां भक्ति आंदोलन के लिए उपयुक्त वातावरण अवश्य प्रस्तुत करती हैं, परन्तु यह नकारात्मक, अभावात्मक और प्रतिरक्षात्मक न होकर इसकी प्रेरणा सर्जनात्मक तथा घनात्मक थी ।

3.1 पीठिका

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद राजनीतिक सत्ता का विघटन आरम्भ हुआ । तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तर भारत में हिन्दू राज्यसत्ता का लोप आरम्भ हुआ और मुस्लिम केन्द्रीय शासन की स्थापना आरम्भ हुई । सामन्तवाद की शीर्ष अवस्था में राजभक्ति की भावना प्रमुख रहती है, परन्तु ह्रास की अवस्था में अब उसी राजभक्ति के स्थान पर उपेक्षा, घृणा और यहां तक कि विरोध की भावनाओं के विकास का कारण बनती हैं । कवियों के लिए राज्याश्रय की संभावनाएं

या तो समाप्त हो जाती हैं या सीमित हो जाती हैं । चरित काव्य अथवा वीरकाव्य लेखन की परम्परा केवल राजस्थान के कुछ राज्याश्रित कवियों द्वारा ही जीवित रखी जाती है, पर उन कृतियों का स्वरूप भी संस्कृत-प्राकृत की पूर्व कृतियों के समान गम्भीर, गरिमापूर्ण नहीं बन पाता । इन कृतियों में जनता की राजभक्ति की मनोभावनाओं के स्थान पर आश्रित कवियों की आश्रयदाताओं के प्रति चाटुकारिता और झूठी प्रशंसा के स्वर ही मुख्य रहते हैं, अतः जनसामान्य से इस साहित्य का कोई भावात्मक सम्बन्ध बन नहीं पाता । इस सामाजिक और राजनीतिक पराभव के परिणामस्वरूप कुछ काल तक तो शून्यता की स्थिति विद्यमान रहती है, पर यही शून्यत्व लोकाभ्युदय और जनजागरण की नवीन शक्तियों के अभ्युदय की भूमिका बनाता है ।

इतिहास का यह उत्तर-मध्यकाल राजनीतिक दृष्टि से सामंतवाद के ह्रास का काल रहा है । धर्म के प्रभुत्व की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण है । इस काल में परम्परित राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ परम्परित धर्म सत्ता का भी ह्रास होता है । उस शून्यत्व को भरने के लिए धर्म की एक नई शक्ति, तंत्र-साधना, प्रबल होती है । अतः कुछ विद्वान धर्म की दृष्टि से इसे तंत्रकाल कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं । उत्तरी भारत में सातवीं से बारहवीं शताब्दी के काल में शारीरिक भोगवाद से सम्पन्न तांत्रिक गुह्य साधनाएं पतनोन्मुख बौद्ध महायान, मन्त्रयान और बज्रयान की परम्परा में विकसित सहजयान को आक्रान्त कर लेती हैं । शैव, शाक्त और वैष्णव परम्पराओं तक में इन गुह्य साधनाओं की गहरी घुसपैठ होती है, और वे मानपूर्ण स्वीकृति प्राप्त करती हैं । इस भोगवाद की उतनी ही सशक्त प्रतिक्रिया उसके समानान्तर शंकराचार्य के मायावादी अद्वैतवाद की वैराग्य भावना के रूप में प्रतिष्ठित होती है । बज्रयानी सिद्ध सम्प्रदाय के आधार पर विकसित नाथपंथ इन दोनों के काम्य तत्वों के स्वीकार तथा त्याज्य तत्वों के बहिष्कार के द्वारा जनसामान्य में धार्मिक दुर्वस्था के सुधार तथा अतिवादों के निराकरण में प्रवृत्त हो चुका था, परन्तु सारे जनसामान्य को आन्दोलित तथा प्रभावित करने की शक्ति अभी उसमें नहीं आई थी । उसी समय भारत पर इस्लामी आक्रमण होते हैं । तलवार की शक्ति वाले आक्रामकों के साथ-साथ कट्टर-पंथी मुल्लाओं का भी देश में प्रवेश होता है, और इस प्रकार राजनीति के साथ-साथ कट्टर एवं उग्र धर्म-संस्कृति के भी दोहरे आक्रमण का भारतीय जाति को सामना करना पड़ता है । भारतीय समाज इस समय दोहरा आक्रमण झेलता है--- आन्तरिक राजनीतिक-धार्मिक विशृंखलता का तथा बाह्य राजनीतिक-धार्मिक घुसपैठ का । ऐसे अवसर पर एक जीवित और जीवन्त जाति के रूप में हिन्दू समाज अपनी जीवनी शक्ति को एक नए रूप में पुनः जाग्रत करता है । भक्ति आन्दोलन के रूप में वह जहां एक ओर अपनी आन्तरिक कमजोरियों से लड़ने में समर्थ होता है, वहां जनसामान्य में बाहरी राजनीतिक और सांस्कृतिक आक्रमण को झेलने की क्षमता का भी विकास करता है । वह इस प्रकार के मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा में प्रवृत्त होता है, जिनमें मानव जीवन का सत्य निहित है तथा जो हर प्रकार की सामयिक समस्याओं के समाधान में समर्थ थे ।

इस धार्मिक आन्दोलन की सब से बड़ी विशेषता इसकी विस्तीर्ण मानवीयता ही नहीं सर्वजीववाद है, जिस के अनुसार उच्च-निम्न, हिन्दू-मुसलमान ही नहीं, केवल मानव मात्र ही

नहीं, बल्कि पशु-पक्षी, जड़-चेतन सब को समान रूप में श्रद्धा, प्रेम और अपनत्व के बन्धन में समेट लिया जाता है। इस युग की प्रमुख चारों साहित्यिक उपधाराओं में यह तत्व समान एवं समानान्तर रूप में उपलब्ध होता है। नाथपंथी अलखवादी जोगियों की परम्परा को विकास और प्रसार देने वाले कबीर, रविदास, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों-भक्तों की वाणी में सब से उभरा स्वर इसी विश्वात्मवाद का है। सूफियों के अनुयायी कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान आदि के प्रेम-काव्यों में भी इसी विश्वप्रेम, भोगवाद की निरर्थकता तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय का स्वर ही प्रमुख है। रसावतार श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधा का कीर्तन करने वाले प्रेम-भक्ति के प्रचारक व प्रसारक (प्रवर्तक) वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सूरदास और नन्ददास भी इहलौकिकता और आध्यात्मिकता को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठापित करके इसी विश्वात्मवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास करते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम पूर्ण ब्रह्म राम और जगज्जननी सीता की मर्यादा-भक्ति के उपासक तुलसी भी 'सियाराममय सब जग जानी' के द्वारा उसी एक तत्व को रेखांकित करते हैं। ये सभी धर्म और सम्प्रदाय जीवन की बाह्य और आभ्यंतरिक शुद्धता पर बल देते हैं। बाह्याडम्बर का ये खण्डन करते हैं। भौतिक वैभव को और धार्मिक आडम्बर, पाखण्ड आदि के प्रदर्शन को समान रूप में हेय माना जाता है। प्राणी मात्र के प्रति दया, विश्व-मैत्री और सर्वधर्मसमभाव की उदात्त एवं निर्मल भूमि पर मानव जीवन की स्थापना सबका समान लक्षण है। वर्णाश्रम धर्म के भ्रष्ट रूप की अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी निन्दा करते हैं। यहां तक कि वर्णाश्रम की सार्थकता के प्रति आस्थावान तुलसी भी युगीन वर्णाश्रम प्रणाली के प्रति अपना गहरा क्षोभ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में व्यक्त करता है। शास्त्रीय-मर्यादा की विच्युति पर सब खेद प्रकट करते हैं। सभी में विशृंखलित सामाजिक जीवन को पुनः संघटित करने की उमंग, स्फूर्ति और प्रेरणा लक्षित होती है। सभी जीवन की समग्रता पर दृष्टि रखते हुए मनुष्य जीवन को जीने योग्य बनाने का सही मार्गदर्शन करते हैं। इस सब के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण भारतीय जीवन में एक नई चेतना की लहर का प्रसारण होता है। क्रियात्मक और सृजनात्मक शक्तियां जातीय जीवन को सुप्तावस्था से जगा कर नवीन प्राणवेग का संचार करती हैं। इसका प्रभाव उच्च से निम्नतम वर्गों पर समान रूप से होता है, और केवल आध्यात्मिक चिन्तन और साधना ही नहीं, साहित्य, संगीत, कला और सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में नवजीवन और नवप्राणों का स्फुरण होता है।

3.2 भक्ति युग : स्वर्ण युग

भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग भी कहा जाता है। इसका आधार असंदिग्ध रूप में इससे पूर्व के आदिकाल तथा परवर्ती रीतिकाल से उसकी तुलनात्मक मूल्यदृष्टि ही रही है। इस तुलना का आधार भी बहुजन अथवा सर्वजन को अपने काव्य-विषय का उपजीव्य बनाना ही भक्तिकाल के साहित्य की विशिष्टता है, जो गुण राज्याश्रय-आकांक्षी आदिकालीन या रीतिकालीन कवियों के भाग्य में नहीं था। यह असंदिग्ध है कि दसवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक परिव्याप्त आदिकाल से रीतिकाल तक के साहित्य के तीनों युगों में संवत् 1375 से 1700 तक के भक्ति युग को सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक चेष्टा, साहित्यिक सृजन तथा कलात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से सर्वोत्तम, या दूसरे शब्दों में स्वर्णयुग की संज्ञा से आसानी से अभिहित किया जा सकता है।

भक्ति की जनाभिमुखता का आधार उसके अन्तर्निहित मूल तत्व हैं। शांडिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भक्त की ईश्वर के प्रति पूज्य भावना में श्रद्धा, प्रेम, मैत्री, वात्सल्य तथा भीति आदि की जिन चित्त-वृत्तियों का संयोग होता है, वे इस भाव को बहुत मनोहारी, आकर्षक तथा काम्य बना देती हैं। इसे बौद्धिक तर्कवाद, बाह्य कर्मकाण्ड आदि की अपेक्षा ये अधिक सर्वजन-काम्य बना देती हैं। आदिकाल की नाथों-सिद्धों की वाणियों का साहित्यिक मूल्य जहां प्रायः नगण्य ही है, वहां श्रृंगार और वीर भावों पर आधारित रासो परम्परा में भी भावों की प्रधानता कम और सच्चे-झूठे आख्यानों को घड़ने की प्रवृत्ति अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक किसी भी दृष्टि से इन कृतियों का मूल्य तथा उपादेयता बहुत कम है। दूसरी ओर, भक्ति काल के बाद का रीति युग नायक-नायिका भेद, श्रृंगार के दार्शनिक-साहित्यिक उपस्थापन तथा लालित्य-चेतना की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म, काम्य और मनोहारी होने पर भी नर-नारी प्रणय के अपने अतिसीमित आधार के कारण तथा अधिसंख्यक कृतियों में संस्कृत रीति परम्परा के पिष्टपेषण एवं आश्रयदाता सामंतों के मनोविनोद की छिछली भावुकता के परिणामस्वरूप मानव-जीवन के विविध पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ आदि की उपेक्षा करता है। भक्तिकाल को स्वर्णयुग मानने के लिए यह महत्वपूर्ण ऋणात्मक दृष्टि है।

धनात्मक (पाजिटिव) रूप में भक्तिकाल की विशिष्टताओं की चर्चा अधिक संगत होगी। इस काल के काव्य की प्रेरक शक्ति सार्वजनीन भक्ति भावना है, किसी आश्रयदाता की वीरता, दानशीलता अथवा प्रेम-शृंगार की झूठी-सच्ची प्रशंसा नहीं। सैंकड़ों भक्त कवियों को आश्रयदाता की चाटुकारिता तथा परिणामस्वरूप उपलब्ध होने वाले प्रलोभनों से कोई सरोकार नहीं। भक्ति का आन्तरिक तथा सहजात भाव ही इन कवियों की जन्मजात प्रतिभा के काव्य रूप में फूटने का अभिप्रेरक रहा है। इस तथ्य से यह सहज ही निर्णय लिया जा सकता है कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा, वैयक्तिक सुरक्षा और सम्मान आदि के लिए लिखे गए पूर्व अथवा पर-काल के साहित्य की अपेक्षा अपनी सहज अन्तः-प्रेरणा तथा भक्ति जैसे सार्वजनीन, कोमल एवं कमनीय भाव का आश्रय लेकर रचित भक्तिकालीन साहित्य अधिक भावपूर्ण होता।

जनजागरण की भूमिका में इस युग के कवियों को स्थापित करने वाला एक अन्य तथ्य महत्वपूर्ण है। क्लासिकी भारत की मर्यादा के तब तक काफी धूमिल हो जाने पर और उस दृष्टि से मध्य काल के सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक अन्धकार के उस काल में ये सब कवि किसी न किसी रूप में युग-आदर्श के नवनिर्माण की महत्त भावना लेकर ही कविकर्म में प्रवृत्त हुए। भक्ति सम्बन्धी अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धांतों की आधारभूमि पर ये अपने-अपने ढंग से युग के नव-निर्माण का आयोजन करते हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जनसामान्य में इनके द्वारा जगाई गई उच्च नैतिक चेतना आज भी किसी न किसी रूप में और पर्याप्त सीमा तक आज भी भारतीय जनमानस के लिए काम्य और अनुगमनीय बनी हुई है। विद्वान इस संबंध में एकमत हैं कि इतिहास में पहली बार सारा देश एक विशेष भावधारा से आन्दोलित हो उठा था। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन का मत दृष्टव्य है।

"--- हम अपने आपको धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहां तक कि बौद्ध धर्म के

आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है । इस युग में धर्म मुट्ठी भर अभिजात वर्ग के लोगों के ज्ञान का नहीं, अपितु निम्न से निम्न वर्ग के घटक तक के भावावेश का विषय हो गया था । यहां से हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश में जाते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं, जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं, बल्कि, उनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नार्ड आव क्लेयरबाक्स, टामस ए केम्पिस और सेंट टेरेस से है ।''

'बिजली की चमक के समान' सारे उत्तर भारत में भक्ति के इस उन्मेष के लिए ईसाई प्रभाव अथवा इस्लामी विजय, और भारतीय समाज के पराभव से उद्भूत निराशा भावना आदि बड़े उथले कारण विभिन्न समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हुए हैं । वस्तुतः किसी भी जीवन्त जाति में जहां अपने ह्रास के कारण तथा बीज स्वयं उसी में निहित होते हैं, उसी प्रकार उसके पुनर्जागरण तथा नवचैतन्य के अंकुर भी उसी में छिपे रहते हैं, जो यथावसर अपने सही मूल्यों और जीवनादर्शों को नई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप पुनः खोजने और स्थापित करने में समर्थ होते हैं । केन्द्रीय शासन की विच्छिन्नता, आभिजात्य-शास्त्रीय व्यवस्था के ह्रास, सिद्ध-तांत्रिक आदि गुह्य मत-सम्प्रदायों के फैलाव, शिक्षा-स्वाध्याय के अभाव में ज्ञान के स्थान पर झूठे दम्भ और पाखण्ड के प्रसार, बाह्याडम्बर और निरर्थक कर्मकाण्ड के प्रचलन ने कुछ इस प्रकार की परिस्थितियां पैदा कर दी थीं कि देश अपनी सम्पूर्ण सामाजिक-नैतिकता, ज्ञान की गरिमा और भाव-गाम्भीर्य से शून्य होता जा रहा था । वल्लभाचार्य के शब्दों में देश म्लेच्छों से आक्रान्त हो रहा था । गंगा आदि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे थे । अशिक्षा तथा अज्ञान वैदिक धर्म के विनाश के कारण बन रहे थे । ज्ञान विस्मृत हो रहा था । सत्पुरुषों को पीड़ित किया जा रहा था । उनके अनुसार ऐसे समय में कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण था । यहां यह स्पष्ट है कि ये भक्त संसार के भयों और जाति की पराजयों से भयाक्रान्त और निराश होकर सामाजिक जीवन से विमुख तथा ईश्वर-भक्ति में लीन नहीं हुए । ये अधिक प्रबल आस्था और विश्वास के साथ नवीन सामाजिक, नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना में प्रवृत्त हुए । अपने इस भाव का आश्रय इन्होंने किसी लौकिक-मर्त्य मानव को न चुन कर स्वयं ईश्वर को, ब्रह्म को ही उसके विभिन्न रूपों में स्वीकार किया, और भक्ति जैसे प्रबल भाव से समन्वित करके उसे सर्वजनग्राह्य और सर्वजनकाम्य बना दिया ।

युगीन परिस्थिति का तुलसीदास ने भी बड़ा मार्मिक चित्रण किया है । वह कहते हैं :-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहां जाई, का करी ।

ऐसे समय दारिद्रय के दशानन रावण द्वारा दबाई गई सृष्टि के परित्राण के लिए तुलसीदास कातर भाव से राम के सामने रक्षा की गुहार लगाते हैं । यही स्थिति थोड़े-बहुत भेद के साथ प्रायः सब भक्त कवियों की है । इसमें विशेषता यही है । आभिजात्य दृष्टि से सामाजिक-नैतिक पतन और दुर्दशा से पीड़ित जाति के लिए महनीय लोकादर्श और भक्ति के प्रबल भावावेग से युक्त यह आन्दोलन भाव और विचार दोनों स्तरों पर साहित्य के अन्य युगों

की अपेक्षा बहुत महान् सिद्ध होता है, और स्वर्णयुग सम्बन्धी अवधारणा को पुष्ट करता है ।

3.2 भक्ति के विविध रूप

इस युग में भक्ति के विविध रूप सामने आते हैं ।

3.2.1 निर्गुण भक्ति

कालक्रम की दृष्टि से निर्गुण भक्ति का स्वरूप सर्वप्रथम है । कबीर इसके प्रारम्भिक तथा मुख्य कवि और साधक हैं । कबीर सिद्ध और नाथ परम्पराओं से दाय में प्राप्त अद्वैतवाद, रहस्यात्मक साधना-पद्धति, धार्मिक दम्भ और आडम्बर के प्रति विरक्ति, और कोरी विद्वत्ता के प्रति विरोध की भावना, और जाति-पांति तथा ऊंच-नीच के खण्डन की प्रवृत्तियों को रामानन्द से प्राप्त भक्ति एवं प्रेमभाव से सरल, सहज तथा मनोहारी बना देते हैं । हठयोगी रहस्यवाद को वह प्रेमाभक्तिपूर्ण और अनुभूतिपूर्ण प्रेमयोग में बदल देते हैं । निर्भीकतापूर्वक वह हिन्दू तथा मुसलमान, मौलवी तथा पाण्डे, दोनों के अभिजात्यवादी मिथ्यावाद, थोथे कर्मकाण्ड और पाखण्ड का खण्डन करते हैं । कबीर नर-आश्रय में और व्यवसाय रूप में कविता करने वाले कवि नहीं थे । इसी से उन्हें अपने काव्य में चमत्कार, मनोरंजन और शैली के लालित्य की अपेक्षा नहीं थी । वह सच्चे क्रान्तदर्शी जनकवि, समर्थ सन्देशवाहक, प्रबल समाजसुधारक और भावुक भक्त थे । यही कारण है कि काव्य कला के नियमों के अनुसार उनके काव्य को जो भी कहा जाए, हृदय की गहरी सम्वेदना, चिन्तन की ईमानदारी और अभिव्यक्ति की शक्तिमत्ता के गुणों के कारण वह हिन्दी के श्रेष्ठ कवि वर्ग में परिगण्य हैं । उनके विचारों में मानवता के चिरमान्य मूल्यों और सार्वजनिक मर्यादाओं की विद्यमानता सर्वस्वीकृत तथ्य है ।

कबीर के अतिरिक्त इस परम्परा में रविदास, नानक, कमाल, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि कवि हुए जिन्होंने लोक की भाषा में अपने सरल और सहज भक्ति तथा जनकल्याण के भावों को उस निम्न तथा सर्वसाधारण जन-जन तक पहुंचाया जिनके लिए धर्म और सामान्य सम्मानपूर्ण मानवीय जीवन के द्वार तब तक बन्द थे ।

3.2.2 प्रेम-मार्गी आख्यान परम्परा

यह भक्तिकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा है । इसके अधिसंख्यक कवि मुसलमान थे और सूफी विचारधारा द्वारा प्रभावित थे । वैष्णव भक्ति के समान इनकी भक्ति का स्वरूप भी प्रेम और भावनामूलक था । प्रतीक और अभिव्यक्ति की पद्धति में अवश्य भेद था । उन्होंने भारत में प्रचलित लौकिक प्रणय सम्बन्धी भावना-पूर्ण आख्यानों का आश्रय लेकर पद्मावत, मधुमालती, मृगावती, चित्रावली आदि प्रबन्ध-काव्यों का ठेठ अवधी भाषा में सृजन किया । प्रणयाकर्षण की इन कृतियों में लौकिक प्रेम के पीछे आध्यात्मिक प्रेम के भावपूर्ण संकेत उपलब्ध होते हैं । इनके काव्य में सामान्यतः किसी प्रकार के सिद्धान्तवाद या धार्मिकता-दार्शनिकता का आग्रह नहीं है । पद्मावत इस दृष्टि से इस धारा का सर्वश्रेष्ठ काव्य है । इस काव्य के सम्बन्ध में वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है ....

"......... पद्मावत काव्य का अनुशीलन करते हुए जिस बात की गहरी छाप मन पर पड़ती है, वह यह कि इस कवि ने भारत भूमि की मिट्टी के साथ अपने को कितना मिला दिया

था। जायसी सच्चे पृथिवीपुत्र थे। वे भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है। गांव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण-सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊंचा किया है। जनता की उक्तियां, भावनायें और मान्यतायें मानो स्वयं छन्द में बंध कर उनके काव्य में गुंथ गई हैं।" यही कारण है कि जायसी का पद्मावत एक रोमानी कथा मात्र न रह कर एक धर्मग्रन्थ, सामाजिक-नैतिकता की संस्थापक रचना और व्यवहार-ज्ञान का विश्वकोष बन गया है। प्रेमाख्यानक धारा में तो यह श्रेष्ठतम है ही, समग्र हिन्दी भक्तिकाव्य में भी यह तुलसी के मानस के साथ हिन्दी की श्रेष्ठतम वर्ग की प्रबन्ध कृतियों में परिगण्य है। मंझन की मधुमालती, उसमान की चित्रावली, कुतुबन की मृगावती आदि इस वर्ग की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं, तथा हिन्दी भक्तिकाल की स्वर्ण युग एवं जनजागरण युग के रूप में प्रस्थापना में सहयोगी हैं।

3.2.3. राम-भक्ति-काव्य

हिन्दी सगुण भक्ति धारा राम भक्ति और कृष्णभक्ति के रूप में उपलब्ध है। सगुणोपासक भक्त कवियों में अकेले तुलसीदास का व्यक्तित्व इतना महान् और कृतित्व इतना उच्च कोटि का है तथा उन्होंने रामभक्ति की स्थापना एवं प्रचार में इतनी सफलता प्राप्त की है कि उतनी किसी सुसंघटित तथा व्यवस्थित सम्प्रदाय को भी संभवतः नहीं मिली। तुलसी अपने नायक राम में परम ब्रह्मत्व और पूर्ण मानवत्व की प्रतिष्ठा करके मनोहारी लोकभाषा में रामचरितमानस की रचना करते हैं। राम को वह जीवन के सभी क्षेत्रों के तथा मानवीय सम्बन्धों के आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रस्थापित करते हैं, और राम के भवतारक नाम को जन-जन के हृदय में रमा देते हैं। "कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहं हित होई"------ अर्थात् काव्य की सफलता जन-जन के कल्याण की क्षमता की कसौटी मानने वाला महाकवि तुलसी सीधे-सीधे भक्ति काल को पूर्ववर्ती आदिकाल तथा परवर्ती रीतिकाल की अपेक्षा उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देता है। प्राकृतजन का गुणगान करने वाले कवियों की भर्त्सना करके मानों वह उपर्युक्त दोनों कालों के आश्रयाकांक्षी कवियों के काव्य की निम्नता को रेखांकित कर देता है। यह वृत्ति भक्ति काल के सब कवियों की रही है, पर लोक-मंगल और काव्योत्कर्ष का जो समन्वय तुलसी में उपलब्ध है, वह सारे हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। दृष्टि की व्यापकता और भावना की गहराई, गम्भीर पांडित्य और विनम्र सहृदयता, संवेदन-शीलता तथा लोकहित की भावना-तुलसी को ऊंचे-नीचे पंडित-मूर्ख सब को प्रभावित करने में सक्षम बनाती है। क्रान्त-दृष्टि, गम्भीर दार्शनिकता तथा रससिद्ध काव्यत्व शक्ति से सम्पन्न अकेले तुलसीदास संभवतः सारे भक्तिकाल की स्वर्णयुग के रूप में स्वीकृति में समर्थ हैं।

अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान और हृदयराम आदि राम भक्ति शाखा के कुछ अन्य कवि हैं, परन्तु तुलसी के उच्चतम लोकादर्श तथा श्रेष्ठ काव्यत्व के समक्ष वे हिन्दी साहित्येतिहास में प्रायः धूमिल ही बने रहे।

3.2.4. कृष्ण भक्ति काव्य

आसाम-बंगाल से गुजरात तक के बड़े भू-भाग को प्रेमाभक्ति से रसमय करने का श्रेय उत्तर-भारतीय भक्ति आन्दोलन की कृष्ण-भक्ति शाखा को है । गोकुल-वृन्दावन को केन्द्र बनाकर अनेक सम्प्रदायों ने कृष्ण के बाल तथा मधुर रूपों का देश भर में प्रचार किया, तथा यह रूप अनेक शताब्दियों से भारतीय संगीत, साहित्य, चित्र एवं अन्य ललित कलाओं का आधार-विषय और मुख्य प्रेरणा-स्रोत बना रहा है ।

हिन्दी में भले ही 14वीं शताब्दी में विद्यापति के मैथिली भाषा में रचित पदों के साथ कृष्ण की भावावेगमयी प्रेमाभक्ति से पूर्ण काव्य का आरम्भ होता है, परन्तु सूरदास को ही वास्तव में व्यवस्थित रूप में इस धारा के प्रवर्तक कहा जा सकता है । ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के मुख्य शिष्य थे, उनके पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के श्रेष्ठकाव्य के रूप में प्रयोक्ता तथा अष्टछाप के शीर्ष कवि थे । कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास अष्टछाप के अन्य उच्चस्तरीय कवि थे । पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त गौड़ीय वैष्णव, सखी, राधावल्लभी आदि कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय भी इस काल में कृष्ण भक्ति संबंधी सैद्धान्तिक प्रचार और काव्यरूप में उसके सृजन में प्रवृत्त थे । हितहरिवंश राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे तथा उच्चस्तरीय कवि थे । हरिदास भी सरस कवि होने के साथ-साथ प्रसिद्ध संगीताचार्य भी थे । इन सब सम्प्रदायों के शताधिक प्रसिद्ध और अल्पप्रसिद्ध कवियों ने भक्तिकाल को सर्वाधिक सम्पन्न साहित्यकाल और स्वर्णकाल बनाने में योग दिया । सूरदास निःसन्देह इस काव्यधारा के सूर्य ही हैं । यदि लोकमंगल की दृष्टि से तुलसी अनुपम हैं, तो काव्य के लालित्य और उत्कर्ष की दृष्टि से सूरदास अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध होते हैं । सूर कृष्णकाव्यधारा की भाषा-शैली, विषय-वस्तु, भाव-विभाव तथा दर्शन चिन्तन के मूल तथा अनन्त स्रोत हैं, और उच्चतम कसौटी भी । वह मानव की सहज सौन्दर्याकांक्षा और ललित वृत्ति को परिष्कृत एवं उदात्त रूप में स्थापित करते हैं । सूरदास को विश्व के चोटी के कवियों में बिना किसी झिझक के परिगणित किया जा सकता है ।

मीरा, रसखान आदि कृष्ण भक्ति के अन्य कवि हैं, जो किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हुए बिना अपनी स्वतंत्र काव्य-साधना से इस काव्यधारा और युग को सम्पन्न बनाते हैं । रसखान की दास्यभाव की विह्वलता तथा मीरा के पदों की गीति-भावना भक्तिकाल में अप्रतिम है ।

भक्तिकाव्य के लोकाभिमुख होने तथा जनजागरण का अग्रदूत होने का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है, इसके द्वारा लोकभाषाओं की स्वीकृति । आधुनिक भारतीय भाषाओं का स्वीकार जहां इन्हें लोक के बीच में खड़ा करता है वहां इससे लोकभाषाओं का भी बहुत कल्याण होता है । हिन्दी की व्यापकता तथा सार्वदेशिकता की दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत बड़ा कारण भी है और उपलब्धि भी है । जीवनादर्शों की दृष्टि से भी भक्त कवियों द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श ही जनसाधारण का पथ-प्रदर्शन और नियमन करता रहा है । वास्तव में भक्ति काव्य द्वारा स्थापित मूल्य और मर्यादायें आधुनिक काल तक भारत में मान्य हैं । उत्तर भारत के जन-समाज का मानस आज तक बहुत कुछ उसी आधार पर गठित हुआ है ।

3.3 हिन्दी रीतिकाव्य : जनजागरण का संदर्भ

उत्तर भारत में भक्ति का आंदोलन 15वीं-16वीं शताब्दियों में अपने शीर्ष पर रहा ।

उपर्युक्त कवि इसके प्रबल सन्देशवाहक बने । इसके बाद की दो शताब्दियां भी यद्यपि इतिहास में भक्तिकाल में ही परिगण्य हैं, परन्तु तब तक भक्ति का पूर्वकालीन प्रबल उन्मेष और आवेग मन्द होने लगा था । भक्ति सम्बन्धी विभिन्न शाखायें अब सम्प्रदायबद्ध होकर बाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड में उलझती गईं । क्रान्तिकारी पूर्वकालीन सन्तों और भक्तों के नाम पर सम्प्रदायों-उप सम्प्रदायों का गठन हुआ, गद्दियां और मठ स्थापित होते गए, और जिन परम्परित-अभिजात तत्वों का वे सन्त तथा भक्त विरोध करके भक्ति को जनाभिमुख बनाने का उपक्रम कर गए थे, उन्हीं तत्वों के साथ उनकी वाणियों और उनसे सम्बद्ध स्थानों तथा उपादानों को जोड़ कर गरिमा-मण्डित करने के प्रयास उनके शिष्यों द्वारा होने लगे । भक्ति की पूर्वकालीन प्रेरणा समाप्त होती जा रही थी । सब से अधिक चिन्तनीय तथ्य तो यह था कि उस काल के कवि लोक का, लोकनायक राम तथा कृष्ण का, भक्ति का और धर्म का आश्रय छोड़ कर सामन्तों, जागीरदारों, ठाकुरों, जमीनदारों और राजाओं का आश्रय तथा शरण खोजने लग गए थे । वे राधा-कृष्ण के आध्यात्मिक रसानन्द को छोड़ कर आश्रयदाताओं के वासनात्मक शृंगार और विलास का आधार ग्रहण करने लगे थे । अनुभूति की गहनता, भावुकता, भावात्मकता और संवेदना की गहनता का स्थान अब अलंकारों की छटा, भाषा की ऊहात्मकता और वाणी का चातुर्य लेने लगा था । यही कारण है कि पूर्वकालीन भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने जातीय इतिहास के उत्तरमध्यकाल के 1900 सं० तक के दो सौ वर्षों को रीतिकाल, शृंगारकाल, अलंकृतिकाल और ह्रास तथा अवनति काल का नाम दिया है । इस युग में समान्तवाद के ह्रास की उन पूर्वप्रवृत्तियों को पुनर्जागरण और पुनरावृत्ति देखी जाती है, जो संस्कृत के अलंकृत काव्य के सृजन, अलंकारशास्त्र के विवेचन और टीका आदि के जन्म का कारण बनी थी । कवियों में इस युग में अभिजात तथा लोक दोनों के प्रति उन्मुखता का अभाव प्रबल हुआ था, छोटे-छोटे सामन्तों के प्रति चाटुकारिता और आश्रय-प्राप्ति की भावना विकसित हुई थी, जिसके परिणामस्वरूप महत्प्रेरणा तथा अन्तः प्रेरणा के अभाव के कारण पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रबल हुई थी । क्रियाशीलता, उदात्त कल्पना और महदादर्श के स्थान पर जीवन भोगविलास की ओर उन्मुख हो गया था । हर बड़े आन्दोलन के बाद इस प्रकार का आलस्य, प्रमाद और स्खलन एक सामान्य नियम है । इसीलिए इस युग को मध्यकाल का उतार कहा जा सकता है ।

रीतिकाल के काव्य के विकास में जहां संस्कृत में इसकी विशाल परम्परा की विद्यमानता, भाषा-कवियों को राज्याश्रय की सुलभता, तथा काव्य के स्वतंत्र रूप की प्रतिष्ठा की सुविधा जैसे कारण उत्तरदायी माने जाते हैं, वहां तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है । राजनीतिक उथल-पुथल, सत्ता-वैभव की क्षणभंगुरता ने जीवन के दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहयोग दिया । जहां एक के अनुसार विरक्ति, त्याग और ईश्वर के प्रति आस्था के भाव जागरित हुए, वहां दूसरे के आधार पर भोगवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ । यह समृद्धि और विलासिता का काल था । अब कोरी विलासिता उपास्य बन गई । उच्च वर्ग के लोग स्वयं कला और कविता के संरक्षक ही नहीं थे, कुछ तो स्वयं भी कलाकार थे । सजाव-शृंगार की प्रबल आकांक्षा इस युग के काव्य में स्पष्ट है । राम और कृष्ण के उपास्य एवं लोक कल्याणकारी रूप में भी शृंगारिकता का

आरोप हुआ। यही कारण है कि कुछ अतिरिक्त आदर्शवादी समीक्षक रीतिकालीन साहित्य पर अश्लीलता, सामाजिक प्रगति की अक्षमता, आश्रयदाता की चाटुकारिता, विलास-प्रियता और रूढ़िवादिता आदि का आरोप लगाते हैं। ये आरोप आंशिक रूप में सत्य भी स्वीकार किए जा सकते हैं, परन्तु युग-सापेक्षता में इन्हें दोष न कह कर युगीन-प्रभाव की सहज-स्वाभाविक परिणति कहना सम्भवतः अधिक वैज्ञानिक दृष्टि हो सकती है।

राजनीतिक दृष्टि से यह मुगल शासन के सुदृढ़ता के साथ स्थापित हो जाने का युग था। देश में केन्द्रीय सुदृढ़ शासन स्थापित हो जाने के परिणाम-स्वरूप पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक शान्तिपूर्ण तथा भौतिक विकास का वातावरण विकसित हो गया था। शान्ति के इस परिवेश में कला, संस्कृति और सुरुचि को विशेष अवसर प्राप्त हुआ। शिष्ट, सुसंस्कृत, ललित और कोमल व्यवहार का सम्मान बढ़ा। नागरिकता को गुण और ग्राम्यता या फूहड़ता को परित्याज्य माना गया। सुविधापूर्ण जीवन का विकास हुआ, जो कला प्रेम के साथ-साथ विलासिता को भी विकसित करता है। धर्म का भाव भी जीवन में विकसित हुआ, भले ही वह कुछ संकुचित और संकीर्ण रूप में ही संभव हो सका। भाषा-साहित्य को राजाओं-सामन्तों का आश्रय और संरक्षण प्राप्त हुआ, जो कवि-प्रतिभा के प्रोत्साहन के साथ-साथ दूर-दूर से गुणीजनों तथा प्रतिभाओं को आकृष्ट करने में समर्थ हुआ, और इस प्रकार कला और काव्य के सृजन के लिए प्रेरणा तथा संरक्षण प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस काव्य की निजी विशेषताओं में भाषा के संदर्भ में ब्रज-भाषा का खूब परिमार्जन हुआ। वर्ण-संघटना, शब्द-मैत्री और रोचक उपमानों के साथ सजीव अंग-प्रत्यंगों की रूपमाधुरी का सजीव शब्दावली में वर्णन इस युग की भाषागत विशिष्टताएं हैं। सुकुमार भावों और लालित्यपूर्ण चेष्टाओं की मार्मिक अभिव्यंजना इसकी अन्य विशेषता है। मनोभावों का सूक्ष्म चित्रण बहुत सीमित क्षेत्र में हुआ है पर बहुत हृदयग्राही बन पड़ा है। कवि जीवन के अन्य पक्षों को उपेक्षित करके श्रृंगार, यौवन और किशोरावस्था को ही अपना एक मात्र आधार बनाते हैं। यही कारण है कि इसे यौवन का काव्य भी कहा जाता है। इन्हें नायिकाओं के कवि भी कहा जाता है। संघर्ष, साधना, वास्तविक जीवन के उतार-चढ़ाव से इस साहित्य का कोई नाता नहीं रहा। यही कारण है कि इस काव्य में विविधता के दर्शन नहीं होते। परन्तु यह काव्य साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ग्राम्य क्षेत्रों तक के जनसामान्य में इस काव्य का प्रचार-प्रसार होता है, और काव्य-सौन्दर्य, अलंकार और नायिका-भेद का विवेचन लोक-व्यापी बन जाता है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि इस काल में भी हिन्दी-साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि हुई। रीतिबद्ध और रीतिमुक्त, श्रृंगार के अतिरिक्त वीरकाव्य, नीति-काव्य आदि की भी इस काल में रचना हुई। यदि कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि भक्त कवि विश्व साहित्य में गणना के उपयुक्त हैं, तो रीतिकाल के अकेले बिहारी की ख्याति भी केवल हिन्दी क्षेत्र से बाहिर ही नहीं देश से बाहिर तक भी व्याप्त हुई है। केशव, देव, मतिराम, भूषण, घनानन्द आदि कवि भी हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं और ब्रजभाषा का परिमार्जन करके इसे हिन्दी क्षेत्र से भी बाहिर तक प्रसारित और प्रतिष्ठित कर देते हैं।

अध्याय 3

ऋग्वैदिक आख्यान – भारतीय आख्यान परम्परा का उत्स

भारतीय आख्यान अथवा कथा-साहित्य की तुलना उस नदी से की जा सकती है जो एक छोटे से पर्वतीय स्रोत के रूप में आरम्भ होकर नवोनव क्षेत्रों में से प्रवाहित होते हुए विभिन्न नदी-नालों रूपी सहयोगी तत्वों को समाविष्ट करके एक वृहद्‌ाकार नदी का रूप धारण कर लेती है। स्थान, काल एवं परिस्थिति-भेद से उसके स्वरूप-आकार आदि में भेद उत्पन्न होता है। परन्तु मूलतः उसकी आत्मा एवं मूल-चेतना का सम्बन्ध आदि-काल से परवर्ती कालों में सतत अक्षुण्ण बना रहता है।

वैदिक आख्यान

ऋग्वेद में लौकिक-साहित्य के अवशेष रूप में प्राप्त प्रायः बीस कविताओं को जो सम्वाद रूप में निजंधरी, पौराणिक अथवा कथात्मक इतिवृत्त हैं, सम्वाद, आख्यान अथवा इतिहास-सूक्तों का नाम दिया गया है।[1] विंटरनित्स इन्हें वैदिक स्तुतियों तथा यज्ञ गानों के बीच असावधानी अथवा किसी अन्य कारणवश आए प्राचीनतम जनसाहित्य के अवशेष मानते हैं।[2] इन संवाद-सूक्तों को भारतीय कथा-साहित्य के बीज कहलाने का श्रेय प्राप्त है। इनमें हमें निजंधरी तथा पौराणिक कथाओं के तत्व उपलब्ध होते हैं। इनमें मानवीकृत ग्रह-नक्षत्रों तथा गगन-विहारी देवताओं के क्रिया-कलापों के संकेत उपलब्ध होते हैं। आर्यों और दस्युओं के युद्ध-उपाख्यान तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के सूत्ररूप में ग्रहण किए जा सकते हैं।[3] उर्वशी-पुरूरवस तथा यम-यमी आदि के आख्यान तत्कालीन सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में बदलते हुए मानों का हल्का सा संकेत देते हैं।

प्रमुख आख्यानों पर संक्षिप्त विचार रुचिकर होगा।

प्रथम ज्ञात भारोपीय प्रेमाख्यान (उर्वशी-पुरूरवस आख्यान)

उर्वशी-पुरूरवस की कथा को प्रथम ज्ञात भारोपीय प्रेमाख्यान तथा सम्भवतः विश्व का प्राचीनतम प्रेमाख्यान माना जाता है। इसमें मानव पुरूरवस तथा देवयोनि की अप्सरा उर्वशी के

---

1. कर्मकाण्डों से असम्बद्ध, प्राचीन काव्य के अवशिष्ट अंशों में बीस के लगभग ऐसी कविताएं हैं, जो निजंधरी, मिथकीय अथवा संवाद शैली की कथाएं हैं तथा जिन्हें संवाद, आख्यान अथवा इतिहास-पुराण कहा जा सकता है।

   एम० विंटरनित्स, **सम प्राबल्मस ऑफ इंडियन लिट्रेचर**, कलकत्ता, 1925, पृष्ठ 4

2. **वही०**, पृष्ठ 11

3. एन० एम० पेंजर, **ओशन आफ स्टोरीज**, खण्ड-2, परिशिष्ट 1, पृष्ठ 245

प्रेम, मिलन तथा विरह के संकेत मिलते हैं । ऋग्वेद का मूल आख्यान अंश-अंश में होने के कारण बहुत स्पष्ट नहीं है, परन्तु परवर्ती काल के साहित्य को जितना अधिक इस आख्यान ने प्रभावित किया है उतना कोई दूसरा वैदिक आख्यान नहीं कर सका ।[4] शतपथ ब्राह्मण में मूल आख्यान पर्याप्त विस्तार से वर्णित मिलता है ।[5] इन्द्रपुरी में परस्पर प्रणयाकृष्ट उर्वशी तथा पुरूरवस का मिलन होता है । वह मर्त्यलोक में पुरूरवस की पत्नी के रूप में रहना स्वीकार करती है । पर इसके लिए उसको विशिष्ट अनुबन्ध में आबद्ध किया जाता है । पुरूरवस को नग्नावस्था में देखने पर उर्वशी उसे छोड़ जाएगी .... ऐसा निर्णय हुआ । उर्वशी की दीर्घकालिक अनुपस्थिति गन्धर्वों को अप्रिय लगती है । योजनानुसार विश्वावसु रात्रि के अन्धकार में उर्वशी के मेष-युगल का हरण करता है । उर्वशी के आर्तनाद पर पुरूरवा नग्न ही उठ दौड़ते हैं । गंधर्व अवसर पाकर प्रकाश कर देते हैं, जिससे उर्वशी उसे नग्नावस्था में देख अनुबन्ध से मुक्त हो जाती है । श्रीमद्भागवत के अनुसार उर्वशी शापित अवस्था में मर्त्यलोक में आने पर बाधित हुई थी और उपर्युक्त घटना शाप-मुक्ति का कारण बनती है ।[6] एक अन्य मान्यता के अनुसार दोनों के प्रणय की बात जान इन्द्र सहर्ष उसे पुरूरवा को सौंपते हैं । एक पुत्र की उत्पत्ति पर वह वापिस इन्द्रलोक को लौट जाती है । परन्तु पुरूरवा की म्लान और दुःखी अवस्था के कारण वह पांच बार फिर पृथ्वी पर लौटती है और पुरूरवा से उसे पांच और पुत्र उत्पन्न होते हैं ।[7] घटाबढ़ी के साथ यह आख्यान कृष्णयजुर्वेद, महाभारत (वनपर्व, 46 अध्याय), विष्णुपुराण (अंश 4, अध्याय 6), वायुपुराण (अध्याय 91), ब्रह्मपुराण (अध्याय 10, 101 व 151), विष्णुधर्मोत्तर (प्रथम खण्ड 130-6), हरिवंशपुराण, कथा-सरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी में वर्णित हुआ है । महाकवि कालिदास के अमर नाटक विक्रमोर्वशीय का विषय बनने पर यह आख्यान अपने विकास की चरमसीमा पर पहुंच जाता है ।

परवर्ती मतवादी संयोजन का प्रयास

ऋग्वेद के सरल प्रेमाख्यान को परवर्तीकाल में विशिष्ट यज्ञादि की प्रतिष्ठा का साधन बनाने का प्रयास हुआ है । विष्णुपुराण के अनुसार मैत्रेयी के निवेदन पर पाराशर चन्द्रवंशियों का वृत्तान्त सुनाते हैं । बुध और इला से पुरूरवा का जन्म होता है । मित्रावरुण के शाप से उर्वशी को मर्त्यलोक में रहना पड़ेगा । इस दैवी योजना के अनुसार उसकी दृष्टि पुरूरवा पर पड़ती है । दोनों प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं ।

उपर्युक्त अनुबंध के भंग होने पर उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है । बड़े कष्टों के साथ पुरूरवा उसे एक सरोवर में अन्य अप्सराओं सहित हंसिनी रूप में आमोद-प्रमोद में रत पाता है । वह उसके आग्रह को ठुकरा देती है । फिर दया करके वर्ष पर्यन्त मिलने का वचन देती है । उर्वशी

---

4. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा – परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 3-12, दिल्ली, 1956
5. शतपथ ब्राह्मण (काण्ड 11, अध्याय 5, प्रथम ब्राह्मण) – सायण भाष्य, श्री हरिस्वामी भाष्य सहित–चतुर्थ भाग, पृष्ठ 2577-2583, बम्बई, 1940
6. हिन्दी साहित्य कोश – भाग 2, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, सं 2020 (उर्वशी सम्बन्धी टिप्पणी - पृष्ठ 51-52)
7. हिन्दी साहित्य कोश – भाग 2, पुरूरवस सम्बन्धी टिप्पणी, पृष्ठ 317

के सतत् सान्निध्य के अभिलाषी पुरूरवा को गंधर्व विशिष्ट यज्ञादि द्वारा गंधर्व योनि में सम्मिलित होने का परामर्श देते हैं। एतदर्थ उसे विशिष्ट अग्नि प्रदान करते हैं। पुरूरवा अग्नि मार्ग में छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। लौटने पर अग्नि के स्थान पर वह एक वृक्ष खड़ा देखता है। उसी की अरणि से अग्नि उत्पन्न करके यज्ञ द्वारा अग्नि-त्रय के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनता है।[8]

पितृसत्तात्मक तथा मुक्त यौन सम्बन्धों का संघर्ष

ऋग्वेद में प्राप्य आख्यान लघु अंशों में होने पर भी विशुद्ध ऐहलौकिक यथार्थता तथा सजीव तत्वों से पूर्ण है। पुरूरवा के बार-बार आग्रह करने पर भी उर्वशी उसे लौट जाने का उपदेश देती है। प्राप्त अट्ठारह मन्त्रों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वह अब पुरूरवा के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखती। विद्वानों का मत है कि आर्यों की अपेक्षा आरम्भिक अनार्य जातियां नर-नारी सम्बन्धों में अधिक मुक्त तथा सुसंस्कृत रही हैं। ऋग्वैदिक आर्यों की समाज-व्यवस्था कठोर पितृसत्तात्मकता की ओर बढ़ रही थी।[9]

इसके विपरीत देव, किन्नर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, दानव आदि जातियों में स्त्रियों को पर्याप्त स्वातंत्र्यपूर्ण वातावरण उपलब्ध था।[10] उर्वशी, मेनका, रम्भा, उलूपी, हिडिम्बी, शूर्पणखा, ताड़का तथा अयोमुखी आदि अनेक अनार्य महिलाओं के से स्वातंत्र्य तथा मुक्त प्रणयचयन के उदाहरण ब्राह्मण-आर्य वर्ग में प्रायः अप्राप्य हैं। पुरूरवा की उक्तियां पितृसत्तात्मक सामन्त की विशुद्ध कन्या-प्राप्ति का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। मध्यकाल के समान उसे हर्म्य में बन्द कर सकने में तो वह सम्भवतः समर्थ नहीं था पर उसका प्रणयावेदन इस प्रवृत्ति का संकेत अवश्य देता है। उर्वशी उसे लौट जाने को कहती है (मन्त्र-2) इस पर पुरूरवा कहता है – तुम्हारे विरह के कारण मेरे तूणीर से बाण नहीं निकलता, जयश्री नहीं मिलती और युद्ध में जा कर मैं अपरिमित गायों को नहीं ले आ सकता। राजकार्य वीर-विहीन हो गया है। इसकी कोई शोभा नहीं है। मेरे सैनिकों ने युद्ध में सिंहनाद करने की चिन्ता छोड़ दी है (मन्त्र-3)। उर्वशी के उत्तर से यही प्रतीत होता है कि वह उस प्रकार की परिवार-व्यवस्था में सुखी नहीं है। उसका कथन है ..... 'यदि उर्वशी श्वसुर को भोजन-सामग्री देने की इच्छा करती, तो सन्निहित गृह से पति के शयनगृह में जाती और दिनरात स्वामी के पास रमण सुख भोगती – (मन्त्र-4)। पुरूरवा सुजूर्णि, श्रेणी, सुम्न, आपि, हृदेचक्षु, ग्रंथिनी, चरण्यु आदि महिलाओं से अपने सम्बन्ध-विच्छेद की स्मृति दिलाकर उसे लौटाना चाहता है – (मन्त्र-6)। मन्त्र 10 व 12 में पुरूरवा पुत्र का मोह व आकर्षण जगा कर उसे रोकने का प्रयास करता है। मन्त्र 14 में वह मृत्यु-भय दिखाता है, पर वह अन्त तक अपने प्रण पर दृढ़

8. विष्णुपुराण (अंश 4, अध्याय 6) – चतुर्थ संस्करण, श्लोक 35-94, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2014 वि०
9. भारोपीय नारी की कहानी स्त्री की सामान्य हीनता, दीनता और अधीनता की त्रासद कथा है जो निजंधरी युग के मुक्त प्रणय से आरंभ होकर मध्यकाल की दासता पर समाप्त होती है।

पी० टामस, इंडियन वूमेन थ्रू द एजिस, न्यूयार्क, 1948, पृष्ठ 48

10. सारे भारोपीय साहित्य में एक बात अवश्य स्पष्ट है कि सभी अनार्य जातियां आर्यों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और सुदृढ़ यौन-प्रकृति व संस्कृति से सम्पन्न थीं।

पी० टामस, पूर्वोक्त, पृष्ठ 10

रहती है ।[11] संवाद-आख्यान के समुचित अध्ययन से यह प्रणयासक्त पुरूरवा को उसकी पूर्व – प्रेमिका द्वारा त्यागे जाने की सशक्त ऐहलौकिक कथा सिद्ध होती है, जिसके विषय में विद्वानों का मत है कि अज्ञान अथवा भ्रमवश विशुद्ध यज्ञ तथा स्तुतियों के उद्देश्य से रचित संग्रह में स्थान पा सकी ।[12]

यम–यमी आख्यान (नृतत्वशास्त्रीय विकासक्रम का सशक्ततम आख्यान)

ऋग्वेद में यम–यमी आख्यान का सुरक्षित रहना भी बड़ी विचित्र घटना है । ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक मूल में स्वीकृत हो जाने पर परवर्ती भाष्यकार एवं विद्वान इसे हटा तो नहीं सके परन्तु इसे विचार करने के अवश्य अनुपयुक्त समझा गया । सामाजिक परिवर्तन तथा नृतत्वशास्त्रीय विकासक्रम की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । यमी कामोतप्त होकर अपने भाई यम को यौन सम्पर्क के लिए आमंत्रित करती है । यम इस सम्बन्ध को अनुचित ठहराता है जब कि यमी सन्तति-वृद्धि के लिए देवताओं के आदेश का हवाला देकर उसे उद्यत करना चाहती है । यम भाई बहन के इस सम्बन्ध को अस्वाभाविक तथा सामाजिक नियमों के प्रतिकूल मान कर अस्वीकार कर देता है । यमी का आग्रह आदिम युगीन निर्द्वन्द्व यौनाकर्षण तथा सन्तति प्रसार का द्योतक है, जबकि यम बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार इसे निषिद्ध-सम्बन्ध (इन्सेस्ट) तथा व्यभिचार मानता है ।

अविविक्त सम्भोग–काल का स्मृति–अवशेष

मानवता के आरम्भ में पुरुष तथा स्त्री के लैंगिक सम्बन्धों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है । उसमें माता–पिता, बहन–भाई आदि की सम्बन्ध भावना का अभी विकास नहीं हो पाया था । मोर्गन, बेकोफिन तथा इस क्षेत्र के आरम्भिक विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि यह अविविक्त सम्भोग का युग था । इस काल में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष के लिए थी और इसी प्रकार प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री के लिए था ।[13] विश्व के कुछ आदिम कबीलों में अब भी इस परम्परा की विद्यमानता के संकेत मिलते हैं ।[14] प्राचीन यूनानी तथा रोमन वर्णनों से भी

---

11. **ऋग्वेद** – 10 मण्डल, 95 सूक्त (पंचम अध्याय, मन्त्र 1–18) सं० अनु० रामगोविंद त्रिवेदी, प्रयाग, 1954
12. क्योंकि अधिसंख्यक वैदिक सूक्त यज्ञ गान सम्बन्धी ऋचाएं हैं अतः इसमें कोई सन्देह प्रतीत नहीं होता कि ये उस संग्रह के बीज रूप हैं जिसका प्रणयन यज्ञ सम्बन्धी गानों और स्तुतियों के रूप में हुआ था । परन्तु संग्रह कर्त्ताओं ने किसी प्रकार की साहित्यिक रुचि के कारण अथवा असावधानी के कारण या अनभिज्ञता के कारण इन विशुद्ध लौकिक अथवा सांसारिक कविताओं को भी अपने आध्यात्मिक संग्रह में शामिल करने से कोई परहेज नहीं किया, जो अपनी भाषा, छन्द–विधान आदि की दृष्टि से उतनी ही पुरानी तथा पूजनीय थीं जितनी यज्ञ सम्बन्धी ऋचाएं एवं गान । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ग की कविताओं का बड़ा भाग इतना इहलौकिक था कि इन्हें ऋग्वेद संहिता में सम्मिलित नहीं किया जा सका ।

    एम० विंटरनित्स, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 4

13. आरम्भिक यौन-स्वच्छन्दता से क्रमशः एकव्रती परिवार का विकास हुआ । किसी भी वर्ग की सुनिश्चित परिवार-व्यवस्था प्राचीन गोत्र-सम्बंधों तथा भद्र समाज के बीच में बहुत बाद में विकसित होने वाला उपजात है ।

    हावर्ड बेकर तथा हैनरी एल्मर बार्नीज, **सोशल थाट फ्राम लोर टू सांयस**, खण्ड-2, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ 755

14. **द नेटिव रेसिज आव द पैसिफिक स्टेटस आफ द नार्थ अमेरिका**, खण्ड-1, न्यूयार्क, 1875-76

पार्थियन, सीदियन, हूण आदि जातियों में अविविक्त-सम्भोग के प्रचलन का संकेत मिलता है । गुणचन्द्र गणि की प्राकृत रचना महावीर चरित्र (संवत् 1139, ई० 1082) में रिपुप्रतिशत्रु का अपनी कन्या मृगावती से गंधर्व-विवाह इसी प्रकार की किसी परम्परा का अवशेष प्रतीत होता है ।[15] सामाजिक विकासक्रम में दूसरा परिवर्तन सपिंड परिवारों का होता है । इसमें एक पीढ़ी के स्त्री-पुरुष परस्पर पति-पत्नी होते हैं ।[16]

मिस्र-रोमन तथा भारतीय पुराण-परम्परा की एक-मात्र प्राप्त सांझी कड़ी

मिस्र-रोमन पुराण-परम्परा की आकाश-देवी नूत तथा सूर्य-देव परस्पर पति-पत्नी हैं । उनकी सन्तान परस्पर विवाह सम्बन्धों में बद्ध होती है ।[17] यहां हमें बहुत महत्वपूर्ण संकेत मिलता है । भारतीय-ईरानी तथा ग्रीक-रोमन पुराण परम्परा का बड़ा अंश एक ही जाति की सांझी धरोहर है । यम-यमी भी तो आदित्य (सूर्य) तथा योषा (सरण्यू) की सन्तान हैं ।[18] मिस्र-रोमन परम्परा में स्पष्ट शब्दों में नूत व सूर्य की सन्तान के विवाह को स्वीकार किया गया है । सूर्य को 'रा' अथवा 'रहा' कहा गया है, जो संस्कृत में 'रवि' से बहुत भिन्न नहीं है । इसी प्रकार देवी नूत के अन्य नाम 'आरोरा' अथवा 'इओस' हैं । 'इओस' तथा 'योषा' अथवा 'उषा' में साम्य देखा जा सकता है । इस प्रकार (ग्रीक-रोमन-मिस्री) 'रा' तथा 'इओस' एवं (वैदिक-आर्य) रवि तथा योषा की सन्तान द्वारा विवाह-बद्ध होना अथवा उसकी कामना करना सांझी परम्परा के भिन्न-देशीय संकलित स्मृति-शेष प्रतीत होते हैं ।

काल-परिवर्तन तथा सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व

भारतीय साहित्य में यमी द्वारा उस परम्परा का संकेत परन्तु यम द्वारा इन्कार बदले हुए काल का परिचय देते हैं, जब सपिंड सम्बन्ध भी निषिद्ध-सूची में सम्मिलित हो चुके थे । इस प्रकार यम-यमी के वैदिक आख्यान के रूप में हमें अपने सांस्कृतिक विकास-क्रम तथा

---

15. **प्राकृत साहित्य का इतिहास** डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृष्ठ 550-51

16. परिवार के इस रूप में केवल पूर्वजों और उनके वंशजों, अर्थात् सन्तान को परस्पर विवाह-बद्ध होने के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से प्रतिबंधित किया जाता है । परन्तु भाई और बहन तथा नर अथवा नारी वर्गीय चचेरे, ममेरे, मौसेरे आदि भाई-बहन चाहे प्रथम, द्वितीय अथवा किसी दूरस्थ सम्बन्ध से ही भाई बहन हों, इस परिवार व्यवस्था में स्वाभाविक रूप में पति तथा पत्नी होते हैं ।

    एफ० एंगिल्स, **द आरिजिन आफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड द स्टेट**, पृष्ठ 57-58

17. मिस्री-रोमी पुराण परम्परा की देवी नूत जो सूर्य देवता 'रा' अथवा 'रेहा' की पत्नी थी, पांच उत्तरोत्तर दिनों को पांच बच्चों को जन्म देती है । वे ओसिरिस, ज्येष्ठ होरेस, देवता सैत, देवी आइसिस तथा देवी नेपथिस थे । बाद में सेत ने अपनी बहन नेपथिस से और ओसिरिस ने अपनी बहन आइसिस से विवाह किया ।

    'द मिथ आफ ओसिरिस', जे० जी० फ्रेजर, **द गोल्डन बौऊ**, पृष्ठ 478-79

18. अन्तरिक्ष में स्थित गंधर्व व जल के धारक आदित्य (सूर्य, रवि) और अन्तरिक्ष में ही रहने वाली योषा (सूर्य की स्त्री सरण्यू) हमारे माता-पिता हैं । इसलिए हम सहोदर बन्धु हैं (यम) । **ऋग्वेद**, 10 मण्डल, सूक्त-10, मन्त्र 4

समग्र आर्य-वर्ग की एकता का एक अन्य सूत्र प्राप्त होता है । इस आख्यान से सम्पत्ति के मातृ-सत्तात्मक उत्तराधिकार का भी हल्का संकेत प्राप्त होता है । यमी कहती है – 'विस्तृत समुद्र के मध्य द्वीप में आकर इस निर्जन-प्रदेश में मैं तुम्हारा सहवास व मिलन चाहती हूँ क्योंकि (माता की) गर्भावस्था से ही तुम मेरे साथी हो । विधाता ने मन-ही-मन समझा है कि तुम्हारे द्वारा मेरे गर्भ से जो पुत्र पैदा होगा, वह हमारे पिता का एक श्रेष्ठ नाती होगा ।'[19] प्रचलित परम्परा के अनुसार यम का पुत्र उसके पिता का पौत्र होना चाहिए था, नाती नहीं । परन्तु उत्तराधिकार-परम्परा में पिता की निश्चयात्मकता बहुत बाद की बात है । बर्बरावस्था की मध्यावस्था तक सम्पत्ति मां की ओर के सम्बंधियों को ही उत्तराधिकार में प्राप्त होती थी ।[20] सीज़र महान की प्रेमिका तथा मिस्र की रानी सुप्रसिद्ध क्लिओपेत्रा का विवाह भी उसके अपने ही भाई टोल्मी से हुआ था । मिस्र के देवपुत्र फेराओ राजवंश में सम्पत्ति के उत्तराधिकार को अक्षुण्ण रखने के लिए बहन-भाई का विवाह एक अनिवार्यता थी तथा मातृसत्तात्मकता के प्रचलन का परिचायक भी ।[21]

प्राचीन प्रचलन की स्मृति सी दिलाती यमी कहती है – यद्यपि मनुष्य के लिए ऐसा संसर्ग निषिद्ध है, तो भी देवता लोग इच्छा-पूर्वक ऐसा करते हैं । इसीलिए मेरी जैसी इच्छा होती है तुम भी करो । पुत्र-जन्मदाता पति के समान मेरे शरीर में पैठो – मेरा सम्भोग करो (मंत्र-3) । वह कहती है – रूपकर्त्ता, शुभाशुभ-प्रेरक, सर्वात्मक, दिव्य और जनक-प्रजापति ने हमें गर्भावस्था में ही दम्पत्ति बना दिया है । प्रजापति का कर्म कोई लुप्त नहीं कर सकता । हमारे इस सम्बन्ध को द्यावापृथिवी भी जानते हैं (मंत्र-5) । यमी का यह कथन कश्यप तथा अदिति की सन्तान आदित्यों में, जो मानवों के पूर्वज थे, बहन-भाई के स्वाभाविक यौन सम्बन्धों की ओर संकेत करता है ।

यम उसके प्रलोभन, उपदेश तथा कटूक्ति के आगे झुकने से इन्कार कर देता है । फिर भी उसके कथन से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह मनोवैज्ञानिक निषेध की अपेक्षा सामाजिक-अपयश से अधिक भयभीत है । वह कहता है – देवों के जो गुप्तचर हैं, वे दिनरात विचरण करते हैं – उनकी आंखें कभी बन्द नहीं होतीं (मंत्र-8) । वह कहता है – भविष्य में ऐसा युग आयेगा, जिसमें भगिनियां अपने बन्धुत्व-विहीन भ्राता (परपुरुष) को पति बनायेंगी (मंत्र-10) ।[22] भगिनियों से यहां तात्पर्य सर्व-सामान्य स्त्रियों से है जबकि भ्राता का तात्पर्य पर-पुरुष है ।[23]

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद का यह 24 मन्त्रों का लघु संवाद-आख्यान नृतत्वशास्त्रीय तथा सामाजिक विकासक्रम सम्बन्धी बहुत बड़ी गुत्थी के लिए कुंजी के रूप

---

19. ऋग्वेद, 10 मण्डल, 10 सूक्त, मन्त्र 4
20. हावर्ड बेकर तथा हैनरी एल्मर बार्नीज, पूर्वोक्त, पृष्ठ 755
21. क्लिओपेत्रा – एमिल लुडविग- (हिन्दी अनुवाद), दिल्ली-1960
22. ऋग्वेद, (10 मण्डल, 10 सूक्त), पृष्ठ 1222-1223, सं० अ० रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रयाग 1954
23. वही०, (भूमिका) अध्याय-ऋग्वेद और नारी जाति, पृष्ठ 65

में हमें उपलब्ध होता है । यूरोपियन तथा भारतीय आर्यों की सांझी परम्परा की मान्यता के प्रमाण रूप में भी यह महत्वपूर्ण कड़ी कही जा सकती है । वैदिक साहित्य में इस वर्ग का कोई अन्य सशक्त तथा मांसल आख्यान दुर्लभ है ।

श्यावाश्व का आख्यान

ऋग्वेद पांचवें मण्डल, 61 वें सूत्र में श्यावाश्व की कथा 19 मन्त्रों में कही गई है । सायण भाष्य के माध्यम से ही इस आख्यान को भली भाँति समझा जा सकता है । ऋषि अर्चनाना राजा रथवीति की पुत्री मनोरमा के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसे अपनी पुत्रवधु बनाने की कामना करते हैं । वह उसे रथवीति से मांगते हैं और वह स्वीकार भी कर लेता है । परन्तु राजरानी को यह सम्बन्ध इसलिए स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अर्चनाना-पुत्र श्यावाश्व ऋषि नहीं है । श्यावाश्व ग्लानि से भर उठते हैं । वह कन्याप्राप्ति के लिए कठोर तपस्या करते हैं । मरुतों को प्रसन्न करके उनसे ऋषित्व प्राप्त करके वह राजकन्या मनोरमा से विवाह करने में सफल होते हैं ।

इसे प्रेमाख्यान के बजाय पितृसत्तात्मक अथवा सामन्ती वर्ग की कन्याप्राप्ति की रूढ़ि के अन्तर्गत मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । फिर भी एक दृष्टि से यह आख्यान बहुत महत्वपूर्ण है । इससे लक्षित होता है कि ब्राह्मणवर्ग में वैदिक-काल में मात्र जन्मजात सवर्णता अथवा उच्चता अभी पूर्णतया स्वीकृत नहीं हुई थी । ऋषि-पुत्र भी ऋषित्व-हीन होने की अवस्था में उच्च-कुल में विवाह के उपयुक्त नहीं माना जाता था । इसके अतिरिक्त पत्नी-प्राप्ति के लिए तपस्या, मरुतों के दर्शन तथा प्रयत्न एवं दैवी सहायता से कन्या-प्राप्ति की रूढ़ियां यहां प्रथम बार हमें उपलब्ध होती हैं जिनका परवर्ती साहित्य में अत्यधिक प्रयोग हुआ है ।

शुनः शेप का आख्यान

शुनःशेप की कथा अतिप्राचीन आदिम-मानव के धार्मिक क्रिया-कलाप का संकेत देती है । इसमें नर-बलि का संकेत मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण में मूल वैदिक सूक्तों के साथ गाथाओं तथा सरल गद्य में कथा वर्णित हुई है । ऐतरेय ब्राह्मण के सरल गद्य-पद्य-मय आख्यान को भारतीय साहित्य का बहुमूल्य रत्न कहा गया है ।[24] ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी अतिप्राचीनता अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध हो जाती है । आख्यान के अन्त में कहा गया है – यह शुनःशेप का आख्यान है जिसमें गाथाओं के अतिरिक्त एक सौ से अधिक ऋग्वेद के मन्त्र हैं । राजसूय यज्ञ में होतृ-पुरोहित द्वारा राजा पर पवित्र जल-सिंचन के पश्चात् यह कथा कही जाती है । वह स्वर्णासन पर बैठ कर कथा कहता है । स्वर्णासन पर बैठा अध्वर्यु पुरोहित उत्तर देता है । स्वर्ण यथार्थ में जय का प्रतीक है । इससे उसकी जय व महत्ता में वृद्धि होती है । ...... इसलिए यज्ञकर्त्ता न होने पर भी विजयाकांक्षी कोई भी राजा शुनःशेप की कथा सुने तो किसी प्रकार का भी पापांश उसके निकट नहीं आयेगा .... पुत्राकांक्षी व्यक्ति भी यदि शुनःशेप का आख्यान सुनें तो अवश्य पुत्र-प्राप्ति से लाभान्वित होंगे ।[25]

---

24. एम० विंटरनित्स, पूर्वोक्त, पृष्ठ 12

25. वही०, पृष्ठ 12-13

इससे शुनःशेप के आख्यान की प्राचीनता सिद्ध होती है । राजा के संस्कार के अवसर पर ब्राह्मणों अथवा श्रौत-सूत्रों में कहीं भी नरबलि का उल्लेख नहीं मिलता । इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसे अवसर पर मात्र आख्यान कथन की परम्परा उसकी प्राचीन निजंधरी स्वीकृति तथा मान्यता की द्योतक है ।[26] इससे यही सिद्ध होता है कि कथा के आधार पर यज्ञ में नरबलि का प्रचलन आर्य परम्परा में भी किसी अतिप्राचीन आदिम-युग में अवश्य रहा होगा ।

इसी प्रकार प्रमद्वरा एवं अग्नि की प्रेम कथा का संकेत भी ऋग्वेद में ही उपलब्ध हो जाता है ।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में वैयक्तिक देवताओं, सामूहिक घटनाओं तथा दानस्तुतियों से सम्बद्ध आख्यान भी उपलब्ध होते हैं । इनमें प्रमुख हैं – अगस्त्य व लोपामुद्रा (1-179), गृत्समद (2-12), वसिष्ठ और विश्वामित्र (3-53, 7-33), सोम का अवतरण (3-43), वृहस्पति का जन्म (6-71), राजा सुदास (7-18), नहुष (7-95), अपाला (8-91), नाभानेदिष्ठ (10-61-62), वृषाकपि (10-86), सरमा तथा पणि (10-108), देवापि तथा शांतनु (10-98), नचिकेता (10-135), आदि ।[27] ऋग्वेद के अतिरिक्त शेष वैदिक तथा ब्राह्मण-साहित्य में भी आख्यान उपलब्ध होते हैं, परन्तु उर्वशी-पुरूरवस,यम-यमी तथा शुनःशेप के समान मांसल रचनाओं का परवर्ती वैदिक-साहित्य में प्रायः अभाव ही है ।[28] प्रायः कथाएं यज्ञों के प्रचार एवं स्पष्टीकरण के उद्देश्य से रचित हुई प्रतीत होती हैं, और कई बार उनसे मूल निजंधरी तत्वों को अलग कर पाना कठिन हो जाता है ।[29]

---

26. एम० विंटरनित्स, **ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर,** भाग 9 (अंग्रेजी अनुवाद – मूल जर्मन से) कलकत्ता, 1927, पृष्ठ 211
27. यह (शुनःशेप) कथा बहुत पुरानी होनी चाहिए क्योंकि इसमें मानवबलि का संकेत मिलता है जो संभवतः बहुत प्राचीनकाल में राजसूय यज्ञ के अवसर पर प्रचलित रही हो । परन्तु हमारे ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा श्रौतसूत्रों में राजा के संस्कार के अवसर पर नरबलि का कहीं संकेत भी नहीं मिलता

    वही०, पृष्ठ 13
28. **हिन्दी विश्वकोष** – भाग 1, नागरी प्रचारिण सभा, काशी, 1960, पृष्ठ 332-333
29. एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आव इंडियन लिट्रेचर,** भाग-9, (अंग्रेजी अनुवाद – मूल जर्मन से), कलकत्ता , 1927, पृष्ठ 211

अध्याय 4

संस्कृत काव्यों में कथा-तत्व तथा प्रेम का स्वरूप

(हिन्दी आख्यान साहित्य की पृष्ठ-पीठिका का संदर्भ)

संस्कृत काव्य के इतिहास का आरम्भ चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व तक ले जाया जा सकता है। महान वैयाकरण पाणिनी को 'पातालविजय' तथा 'जाम्बवती विजय' नामक दो महाकाव्यों का रचयिता माना जाता है। पतंजलि भी दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में काव्य छन्दों में दरबारी शैली की अलंकृत ऐहलौकिक रचनाओं के होने का हवाला देते हैं। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व से ईस्वी सन् के आरम्भ तक संस्कृत काव्य की कोई रचना उपलब्ध नहीं होती। ऐसा माना गया है कि इस कालावधि में दरबारों में प्राकृत काव्य का विकास हो रहा था जिसका प्रमाण हाल की सतसई तथा गुणाढ्य की अप्राप्य रचना बृहत्कथा के रूप में उपस्थित किया जाता है।[1] ईसा-पूर्व से चौथी शताब्दी ईस्वी तक प्राकृत के पुनर्जागरण के पश्चात् अलंकृत दरबारी काव्य गुप्त वंश के शासन काल में अपने स्वर्णयुग के उच्चतम् शिखरों पर पहुंच गया। सामन्तवाद तथा अभिजातवर्ग का विकास इस प्रकार के नवजागरण के लिए अनिवार्य तत्व था। तत्कालीन भारतीय राजनैतिक स्थिति इसके सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुई।[2]

संस्कृत ललित साहित्य : भेदोपभेद

संस्कृत ललित साहित्य अथवा काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भाग किए जाते हैं। दृश्य काव्य में नाटक तथा उसके सब भेदोपभेद सम्मिलित हैं। श्रव्य-काव्य को आकार, प्रभाव तथा शैली-गत भेद से गद्य, पद्य तथा चम्पू में विभाजित किया जाता है। पद्य के प्रबन्ध तथा मुक्तक दो भेद किए जाते हैं। महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य, प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आते हैं। चम्पू का तात्पर्य गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। अन्य सब नाम-भेद हैं, काव्यत्व प्रमुख है। काव्य के गद्य, पद्य, चंपू अथवा महाकाव्य, खण्ड-काव्य एवं मुक्तक में काव्यत्व प्रमुख तत्व हैं। वस्तुतः रस- निष्पत्ति तथा अलंकृति काव्य के इतने महत्वपूर्ण उपकरण मान लिए गए कि जीवन की यथातथ अभिव्यक्ति, वास्तविक घटना का सत्य सजीव चित्रण तथा चरित्रों का उभार आदि

---

1. विकासोन्मुख सामन्तयुग में समाज के वर्ग-विभक्त हो जाने और अभिजातवर्ग के उदय के बाद सामन्ती-दरबारी वातावरण में विशिष्ट कवियों द्वारा विकसनशील महाकाव्यों के अनुकरण पर अलंकृत महाकाव्यों और खण्ड-काव्यों की, और विकसनशील रोमांसिक गाथाओं या गाथा-चक्रों के अनुकरण पर रोमांसिक कथा-काव्यों या प्रेमाख्यानों की रचना होने लगी।

   हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, प्रथम संस्करण – पृष्ठ 182, 2015 वि०

2. एम० विंटरनित्स, **हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर**, खण्ड-3, भाग-1, पृष्ठ 37

तत्व वर्णन-कुशलता एवं चमत्कार के नीचे दब गए । कथा-तत्व, घटना, चरित्र-चित्रण इन सब को संस्कृत-काव्य में नगण्य समझा गया । यही कारण है कि संस्कृत में वास्तविक गीतिकाव्य का अभाव है । यहां नाटक नाटकीय काव्य हैं, ऐतिहासिक रचनाए काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ परन्तु अनैतिहासिक हैं । गद्य-रोमांस में शैली की उत्कृष्टता के लिए कथानक का गला घोंट दिया गया है ।[3]

संस्कृत महाकाव्य

रामायण को आदि – महाकाव्य माना जाता है । अश्वघोष के दो महाकाव्य 'बुद्ध चरित' तथा 'सौंदरानन्द' इसके बाद आते हैं । इसके पश्चात कालिदास के 'कुमार सम्भव' तथा 'रघुवंश' का स्थान है । भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध', श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' प्रमुख महाकाव्य हैं । इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े महाकाव्य संस्कृत साहित्य के सुदीर्घ इतिहास काल में रचे गए ।

संस्कृत खण्डकाव्य

कालिदास का 'मेघदूत' खण्डकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है । इसके अतिरिक्त पवन दूत हंस सन्देश, शृंगारतिलक, घटकर्प काव्य, अमरुकशतक, भर्तृहरि-शतक, योगिनी विलास, आर्यासप्तशती, गीत गोविन्द अच्छे खण्डकाव्य हैं । संस्कृत साहित्य में उपर्युक्त रचनाओं को कई बार गीतिकाव्य के अन्तर्गत माना जाता है । डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० शम्भुनाथ सिंह इस मत को स्वीकार नहीं करते ।[4]

संस्कृत नाटक

उपलब्ध नाटक साहित्य में अश्वघोष का 'शारद्वती पुत्र प्रकरण' तथा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'विक्रमोर्वशीय', 'मालविकाग्निमित्र' आरम्भिक तथा महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं । भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' के अतिरिक्त 12 अन्य नाटक प्राप्त हुए हैं । ये कालिदास से पूर्व के माने जाते हैं । शूद्रक का 'मृच्छकटिक' सम्भवतः विश्व साहित्य की महत्वपूर्ण घटना है । प्राचीन सामन्तवादी युग में इस प्रकार की प्रगतिशील रचना की प्राप्ति सचमुच चमत्कृत करने वाली घटना है । श्रीहर्ष का 'नागानन्द नाटक' तथा 'रत्नावली' व 'प्रियदर्शिका' नाटिकाएं प्रसिद्ध हैं भवभूति कालिदास के पश्चात् उच्चकोटि के नाटककार हुए । उनके 'महावीर चरित', 'उत्तर

---

3. प्रायः कवि कथा-वस्तु, वृत्त अथवा चरित्रों में दूसरे दर्जे की या नाम मात्र की रुचि दिखाते हैं तथा इनके विकास को वह तब तक के लिए टाल देते हैं जब तक वे (कवि) अपने भावुकतापूर्ण विस्तृत वर्णनों को अथवा भावुकता भरे सूक्ष्म काव्य अथवा गद्य उद्गारों को उण्डेल नहीं डालते । ...... इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि संस्कृत में वास्तविक गीतिकाव्य का अभाव है, तथाकथित नाटक वस्तुतः नाट्यकाव्य हैं, ऐतिहासिक रचनाएं काव्य के रूप में महत्वपूर्ण होने पर भी तथ्यों के सम्बन्ध में उदासीन हैं । गद्य आख्यान अथवा रोमांस कथानक की रोचकता को शब्द-चमत्कार अथवा अभिव्यक्ति चमत्कार के मोह के समक्ष बलिदान कर देते हैं और प्रायः गद्य भी काव्य का ही प्रभाव सामान्यतः प्रेषित करता है ।

   एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे०, **ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिट्रेचर**, पृष्ठ 37-38

4. **हिन्दी साहित्य कोष**, भाग-1, प्रथम संस्करण, संवत 2015, पृष्ठ 199 तथा 247

रामचरित' तथा 'मालतिमाधव' नाटक मिलते हैं। भट्ट नारायण का 'वेणिसंहार', विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', मुरारि का 'अनघ राघव' आदि प्रसिद्ध नाटक हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'धर्मशर्माभ्युदय' तथा 'हनुमन्नाटक' को भी इस सूची में सम्मिलित किया जा सकता है।

कथा तत्व

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि संस्कृत काव्य में घटना, पात्र, कथा तथा जीवन के यथार्थ चित्रण को रस-निष्पत्ति तथा विशिष्ट वर्णन शैली की अपेक्षा निम्न स्थान प्राप्त है।[5] परन्तु नाटक तथा प्रबन्ध रचना के लिए कथा का ढांचा आवश्यक तत्व रहा है। इसलिए संस्कृत काव्य के रचयिताओं को कथानक का आश्रय लेना पड़ा। इनकी रचनाओं के कथानक प्रायः राज्यवंश तथा दरबारी वातावरण से सम्बंधित हैं। मुख्य पात्र उच्चकुल का धीरोदात्त, धीर प्रशांत, धीरललित अथवा धीरोद्धत स्वभाव का होने से कथानक प्रायः अभिजात-वर्ग, राज्य दरबार तथा उच्च वर्ग के क्रिया-कलाप तक सीमित रहा है। जहां कहीं निम्न वर्ग के पात्रों की आवश्यकता अनुभव भी हुई है तो भी उन के सुख-दुःखों, कष्टों तथा सामाजिक विषमताओं को कोई स्थान नहीं मिलता है। इससे कथानक एकांगी बन गए हैं। उनका जनसामान्य के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कथानक रूढ़ियां

इस पर भी लोक की सामान्य रूढ़ियों, मान्यताओं तथा विश्वासों से वे अपने को अलग नहीं कर पाए हैं। यही कारण है कि लोकप्रिय साहित्य की कथानक-रूढ़ियों तथा कथाविकास की परिस्थितियों का उपर्युक्त रचनाओं में भरपूर उपयोग हुआ है।

शाप, वरदान, पुत्र तथा सिद्धि-दायक फल, दिव्य-शक्तियुक्त शस्त्र तथा अन्य उपकरण, दैवी सहायता अथवा हस्तक्षेप, अलौकिक पात्रों की अवतारणा, स्वप्न-दर्शन, गुणश्रवण तथा प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा प्रेम, विरह के कारण मृत्यु, पशु-पक्षी पात्र, शुक आदि पक्षी तथा पवन, मेघ आदि प्राकृतिक उपकरणों का दौत्य-कार्य, मुनि कन्या से प्रेम, गंधर्व-विवाह, कन्या-हरण, रूपपरिवर्त्तन, मुद्रिका अथवा अन्य किसी चिन्ह द्वारा स्मृति-लाभ, स्वर्गलोक तथा अन्य काल्पनिक-लोक, आकाशवाणी, भविष्यवाणी, भविष्य-कथन, स्वप्नफल आदि अनेक लोकप्रिय कथानक-रूढ़ियां प्रायः हर रचना में यथास्थान प्रयुक्त हुई हैं। अभिजात-वर्ग के साहित्य में स्थान पा लेने पर परवर्ती साहित्य के लिए ये रूढ़ियां कथा-विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गईं। अपभ्रंश तथा हिन्दी के आख्यानक साहित्य में सामान्यतः बिना झिझक इनका प्रयोग हुआ है। परवर्ती भारतीय कथा तथा आख्यानमूलक साहित्य के लिए यदि उपर्युक्त कथानक-रूढ़ियों को संस्कृत काव्य की देन न भी कहा जाए तो भी उनके प्रगतिशील प्रयोग के लिए इसने प्रोत्साहन तथा आवश्यक उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किया।

---

5. सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक सन्दर्भों में वस्तुतः रस को ही कलात्मक सृजन का लक्ष्य माना जाता है। तथ्य, घटना अथवा चरित्रों के सन्दर्भ में जीवन के यथार्थ चित्रण को प्रायः कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। कथा-वस्तु, वृत्त, अथवा चरित्र के प्रति बहुत कम रुचि दिखाई जाती है।

एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 36

प्रेम-अभिप्राय

प्रणयानुनय अथवा भावात्मक-प्रेम की अनुभूति तथा अभिप्राय सामन्तवादी अभिजातवर्ग के विकास के साथ विकसित होते हैं । सामन्तवादी समाज के विकास के साथ स्त्री का स्थान पुरुष की अपेक्षा समाज में घटिया हो जाता है । उच्च दरबारी समाज में जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति का विकास होता है । जीवन को शालीन ढंग से जीना तथा सूक्ष्म भावपूर्ण ढंग से सोचना-विचारना इस संस्कृति के आवश्यक तत्व हैं । उपभोग की वस्तुओं तथा उपकरणों का अधिकाधिक सुन्दर, अलंकृत तथा सुदर्शन होना आवश्यक माना जाता है । ठोस, कठोर, रूक्ष कोई बात पसन्द नहीं की जाती । उपभोग की प्रत्येक वस्तु के साथ एक प्रकार के भावुक सम्बन्ध का विकास होता है । स्त्री का स्थान घरेलू सम्पत्ति का सा हो जाता है । परन्तु उसे अधिकाधिक सुन्दर, सुसज्जित तथा अलंकृत देखने की इच्छा बढ़ती है । सामन्ती-समाज अपने घोड़े-हाथी तथा तलवार की मूठ तक को सुन्दर, अलंकृत देखना पसन्द करता है । उन वस्तुओं के साथ अभिजात मन का रागात्मक सम्बन्ध बनता है । इसमें रागात्मक भाव के साथ शौर्य-भाव रहता ही है । अपनी पसन्द की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए शौर्यपूर्ण आदर्श के अनुसार सामन्त किसी मूल्य पर भी उद्यत रहता है । कन्या-हरण सामन्तवाद के आरम्भ की प्रवृत्ति है । सामन्तवाद में स्थायित्व आने के साथ कन्याहरण का स्थान कन्या-लाभ द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है । कन्या उपभोग की वस्तु है । उपभोग में उसकी स्वयं की रुचि, उसकी स्वीकृति तथा ललक महत्वपूर्ण है । वन्य समाज में स्त्री-हरण सामान्य बात है । वहां इस क्रिया द्वारा प्रभावित स्त्री भी इसे सहज स्वीकार कर लेती है । परन्तु उन्नत सामन्ती समाज की शालीन भावना में इस प्रकार की ज़ोर-जबरदस्ती के लिए कोई स्थान नहीं । सामन्ती समाज अपने सुख के लिए जन-सामान्य का शोषण कर सकता है, परन्तु अपने घोड़े अथवा पालतू पशु-पक्षी के साधारण से कष्ट के कारण भी भूख-प्यास का उड़ जाना और अति भावुक हो उठना उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक है । फ्रांस की महारानी मेरी एन्ताइनेती का भूखी प्रजा को देख कर यह कहना कि -- "......यदि रोटी नहीं मिलती तो ये लोग केक क्यों नहीं खाते........", जहां उसका जन-सामान्य की स्थितियों से घोर अपरिचय सिद्ध करता है, वहां उसकी ललित रुचि तथा भावुक हृदय की ओर भी संकेत करता है । इन परिस्थितियों में स्त्री के साथ एक प्रकार के भावुकतापूर्ण, मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक है । किसी सुन्दर वस्तु की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए उसे विशेष माधुर्य-पूर्ण दृष्टि से देखना एक विशेष मोह है । उसमें पुरुष-स्त्री की काम-भावना के मिल जाने से जिस अभिजात कामना की सृष्टि होती है उसे शौर्यपूर्ण प्रेम कहा जा सकता है । सुन्दर कन्या को देख कर षड्यन्त्र से, युद्ध द्वारा या अन्य साहसिक कार्य द्वारा उसे प्राप्त करना अन्य बात है जबकि परस्पर गहरे आकर्षण द्वारा मानसिक-भावात्मक खिंचाव द्वारा उसे प्राप्त करने की ललक अनुभव करना रोमांसिक प्रेम कहा जा सकता है । प्रेम तथा काम (सेक्स) को प्रायः गड्ड-मड्ड कर दिया जाता है । संस्कृत काव्य साहित्य के विकास में इसी सामन्ती प्रेम-अभिप्राय का विशेष स्थान रहा है । सामन्ती-प्रेम के अभिप्राय का संस्कृत साहित्य में बड़ा उज्ज्वल रूप देखने को मिलता है। और जहां सामन्ती समाज से प्रेम का यह अभिप्राय छन कर जन-सामान्य तक पहुंच गया उसी के अनुसार दरबारी वातावरण में रचित संस्कृत काव्य की प्रेम-भावना ने परवर्ती अपभ्रंश

तथा हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं के लोक-प्रिय साहित्य को प्रणयाकर्षण अभिप्राय प्रदान किया ।

काव्य के आरम्भ की परिस्थितियां

बौद्ध निराशावाद का आदर्श धीरे-धीरे कम हुआ । उसके स्थान पर सुख तथा आनन्द प्राप्ति के भाव का विकास हुआ । 'नागानन्द' का बौद्ध लेखक, जीमूतवाहन के आत्म-बलिदान की कथा में प्रणयाकर्षण के अभिप्राय को गूंथने से नहीं चूका । वह आरम्भ में ही 'मार' अथवा कामदेव के सहयोगी स्त्री-दल द्वारा बुद्ध की कठोर-हृदयता पर व्यंग्य करवाता है । पतंजलि के साक्ष्य से भी हमें यही ज्ञात होता है कि आरम्भ में ही नर-नारी का प्रणयाकर्षण काव्य-साहित्य का मूलाधार रहा है । कामदेव की पुष्प-बाणों से युक्त देवता के रूप में अथर्ववेद में ही कल्पना कर ली गई थी । रामायण में भी इसका वह स्वरूप मिलता है । परन्तु उसके सम्पूर्ण विकास का श्रेय काव्य-साहित्य को ही है ।[6]

अभिजात वर्ग में मनोरंजन

बड़े ठाठ-बाट से मेलों का आयोजन, सामन्तों तथा जनता के मनोरंजन, जल-क्रीड़ाएं, झूले, पुष्प, गन्ध, संगीत, नृत्य, नाटक इत्यादि जिनका विशद वर्णन संस्कृत अलंकृत काव्य का मुख्य अंग है, जीवन के प्रति आशावादी नवीन चेतना को प्रकट करते हैं । इनसे जीवन में एक नवीन सुघड़ता, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य के प्रति बलवती इच्छा का दर्शन होता है ।

नागरिक

दरबारों के साथ-साथ प्रेम के प्रति इस रोमांसपूर्ण तथा भावुक दृष्टिकोण के लिए तत्कालीन उच्चवर्ग का रुचि-विकास महत्वपूर्ण है । उस रंगीन जीवन के मध्य में नागरिक है जिसकी जीवनचर्या, चिन्तन-विधि, स्वभाव, रुचि तथा संस्कृति काव्य को अधिकाधिक प्रभावित करती है ।[7]

नागरिक की जीवनचर्या

वात्स्यायन कामसूत्र में नागरिक की जीवनचर्या का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं । परवर्ती साहित्य के शिष्ट, सूक्ष्म ऐश्वर्य को भली प्रकार समझने के लिए उस साहित्य के आश्रयदाता के जीवन की एक झलक देख लेना अनुपयुक्त नहीं होगा । नागरिक का भवन नदी अथवा सरोवर के तट पर सुन्दर वाटिका से घिरा हुआ है । वाटिका में ग्रीष्म-भवन, बेलि-निकुंज तथा कोमल झूला है । शयन-कक्ष सुवासित, सुगंधित है । कोमल शय्या भी सुवासित है तथा तकियों से

---

6. कामदेव के सम्बन्ध में बुद्धों की 'मार' अथवा मृत्यु देव के रूप में विकसित होने वाली अवधारणा उसे पुष्प-धन्वा देवता के स्थान से विच्युत कर देती है, जिसे अथर्ववेद में प्राक्कल्पित किया गया था तथा महाकाव्यों में पूर्ण रूप में स्थापित किया गया था । उसके स्वरूप, नामावली तथा व्यक्तित्व की पूर्ण पुनर्स्थापना तो आगे चल कर काव्यों में ही हुई ।
   एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 19-20
7. वही, पृष्ठ 21

सज्जित है । पुष्प-हार, चित्र फलक, रंगों का डिब्बा, कुछ पुस्तकें, हाथी दांत की खूंटी पर लटकी वीणा, उगाल दान, द्यूत-पट आदि उस कक्ष को सज्जित करते हैं । वह प्रातःकाल स्नान एवं सज्जा में गुजारता है । उसकी एक-एक क्रिया का विस्तार से वर्णन हुआ है । प्रातःकालीन अल्पाहार के पश्चात् वह मित्रों की संगति में शुक की बातें सुनने में, मुर्गों तथा मेंढों के द्वन्द्व देखने में व्यतीत करता है । दोपहर को हल्का आराम करने के पश्चात् फिर सज्जित होकर मित्रों से मिलता है । संध्या-काल संगीत तथा नृत्य क्रीड़ा में व्यतीत होता है । दैनिक कार्यक्रम के अतिरिक्त उत्सव, पान-गोष्ठी, द्यूत एवं अन्य क्रीड़ा, संगीत, नृत्य, बाह्य भ्रमण आदि का आयोजन भी होता है । नगर-वंधुओं के राजसी भवनों में विशिष्ट सम्मेलन होते हैं, जहां विद्वान तथा कुशाग्र बुद्धि वाले लोग इकट्ठे होकर कला व साहित्य की चर्चा करते हैं ।[8]

इस वातावरण में काम को विशिष्ट कला मान लिया गया । काम तथा काम-कला का तत्कालीन साहित्य, शिल्प तथा जीवन के अन्य सब पक्षों पर गहरा प्रभाव पड़ा है ।

सहृदय समाज

दरबारों तथा सुसंस्कृत नागरिक के अतिरिक्त संस्कृत कवि ने सदा अपने उस विशाल सहृदय-समाज को ध्यान में रखा है, जो युग की परिस्थिति के अनुरूप उसके काव्य की सूक्ष्मताओं का बड़ा पैना पारखी और सजग आलोचक था । स्त्री की सुन्दरता का विशद वर्णन, नख से लेकर शिख तक उसके प्रत्येक अंग प्रत्यंग का विभिन्न मुद्राओं तथा स्थितियों में अलंकृत वर्णन कवि को प्रिय था । प्रणय के विरह तथा मिलन दो रूपों में विरह की स्वीकृति तथा महत्व स्त्री-पुरुष के परस्पर भावात्मक-सम्बन्ध के विकास का संकेत करते हैं । प्रेम को उसके शारीरिक पक्ष में न लेकर सूक्ष्म क्षणों की अनुभूति के रूप में स्वीकार किया गया । प्रेम के इस भावात्मक पक्ष को कहीं-कहीं यहां तक खींचा गया कि 'प्रेम के लिए प्रेम' के सिद्धान्त को महत्व प्राप्त हुआ । सहवास-जन्य मनोवैज्ञानिक प्रेम के विकास को इन काव्यों में प्रायः कोई स्थान नहीं प्राप्त हुआ । किसी भी सुन्दर युवती से प्रेम करना किसी भी युवक का प्रायः अधिकार सा बन गया । इसके अनुरूप प्रेम-पात्र कोई विशेष स्त्री न होकर कोई भी सुन्दरी हो सकती है ।

जैसा ऊपर कहा गया है, संस्कृत काव्य का प्रणयन विशेष दरबारी तथा नागरिक रसिक-वर्ग के लिए हुआ । परन्तु समय पाकर इसके भावपक्ष तथा कलापक्ष की सूक्ष्मताओं का प्रभाव छन-छन कर समाज के निचले स्तर पर जन-सामान्य तक पहुंचता गया ।[9] लोक-साहित्य के अधिक समीप तथा विषयवस्तु की दृष्टि से उसी के आधार पर रचित परवर्ती अपभ्रंश तथा हिन्दी आख्यानक साहित्य के लिए वर्णन शैली की सूक्ष्मता, अलंकृति, विशिष्ट शब्द-योजना तथा भावों की सूक्ष्मता एवं प्रेम का भावात्मक-अभिप्राय संस्कृत काव्य की विशेष देन है ।

---

8. कामसूत्र (वात्स्यायन), प्रस्तुतकर्त्ता बी० मोहन, नई दिल्ली, पृष्ठ 14-17

9. काव्य का प्रणयन सुसंस्कृत नागरिक वर्ग के लिए हुआ था तथा इसका अपना निजी अभिव्यंजना शिल्प, विचार सम्पदा तथा भावना-विन्यास का सूक्ष्म तंत्र विद्यमान था । कालान्तर में इसकी शैली की भव्यता तथा भावना एवं भावुकता की सूक्ष्मता छन कर जनसामान्य तक भी पहुंच गई होगी, तथा यह कल्पना करने का कोई ठोस आधार नहीं है कि उनका संवेदना वृत्त केवल सुविधा सम्पन्न अभिजातवर्ग तक ही सीमित रहा है ।

एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 313

अध्याय 5
बौद्ध-जैन विचारधारा की पूर्वपीठिका और मध्यदेश

बौद्ध-जैन विचारपरम्परा तथा ब्राह्मण मतवाद

कुछ काल तक विकासवाद के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार वेदों के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उनके आधार पर उपनिषदों तथा पुराणों की रचना का सिद्धांत विद्वानों में मान्य रहा है। उनके अनुसार उपनिषदों के कुछ बिखरे सिद्धांतों को समेट कर भ्रष्ट एवं विकृत रूप में सांख्य, जैन, बौद्ध तथा आजीवक सिद्धान्तों का प्रणयन एवं संकलन हुआ।[1] बौद्ध-जैन धर्मों की बाह्य स्वरूप-रचना को तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुसार ब्राह्मण यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड तथा पुरोहित वर्ग की सामन्ती-प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम मानना सर्वथा उचित है, परन्तु यह विचार अब निराधार माना जाता है कि उनकी मूलवर्ती विचारधारा भी उसी ब्राह्मण धर्म के अंशों में से ही निःसृत होकर पुष्पित-पल्लवित हुई।[2]

सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति

प्रस्तुत अंश में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि इन धर्मों ने किस प्रकार भारत की विचार परम्परा, धार्मिक तथा सामाजिक जीवन-दर्शन एवं सांस्कृतिक चेतना को एक बार ही आमूल बदल कर रख दिया। परवर्ती भारतीय मत व धर्म आर्य-ब्राह्मण विचार-परम्परा की अपेक्षा बौद्ध-जैन अहिंसा, भक्ति, कर्मवाद, संन्यास, निराशावाद, पुनर्जन्म, तथा शैव-शाक्त मूर्तिपूजा एवं तान्त्रिक मतवाद से अधिक सम्बद्ध रहे हैं। ब्राह्मण धर्म के मूल अंश बाद के भारतीय जीवन में बहुत ही कम रहे हैं और जो प्राप्त हैं उनका भी पर्याप्त संस्कार हो चुका है। बौद्ध-जैन धर्मों द्वारा हुई इस सामाजिक-धार्मिक क्रान्ति ने भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया और सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवहार तथा साहित्य की धारा को ही सशक्त अभिजात-वर्गीय ब्राह्मण विचारधारा से हटा कर वर्गहीन जनसामान्य की ओर उन्मुख कर दिया।

आर्य-पूर्व भारतीय सभ्यतायें

आर्यों के आगमन से पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत में सिन्धुघाटी सभ्यता की विद्यमानता अब ऐतिहासिक तथ्य है। इसी प्रकार विद्वानों के मतानुसार गंगा-यमुना के तटवर्ती प्रदेश में भी

---

1. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सं०) **बृहत्कथाकोश** (अंग्रेजी), (भूमिका), पृष्ठ 12

2 (क) एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, 1925, पृष्ठ 15–21, तथा
(ख) आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सं०) **बृहत्कथाकोश** (अंग्रेजी), (भूमिका) पृष्ठ 11

उसी काल में अतिविकसित, विचारशील तथा समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है ।[3] वैदिक-साहित्य के प्रारम्भिक अंश गंगा-यमुना के भू-भाग की ओर कुछ विशेष सहानुभूति-पूर्ण प्रतीत नहीं होते । कुछ बाद में भी पंजाब-सिन्धु के उद्दीच्य आर्य शुद्धतम आर्यरक्त के वाहक माने जाते रहे हैं ।[4] गंगा-यमुना के प्रदेश पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेने तथा संस्कृति का केन्द्र सप्तसिन्धु के अरक्षित तथा सक्रिय सीमान्त प्रदेश से हटकर शान्तिपूर्ण मध्यदेश बन जाने पर ही महाभारत काल तक मद्रदेश तथा मद्रभाषा को हीन, नीच तथा पिशाचों से सम्बंधित माना जाने लगा था ।[5]

इतिहास का निर्माता भूगोल

वस्तुतः भूगोल ही इतिहास का निर्माता होता है । मनुष्य में प्रकृति को अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार मोड़ सकने की भारी क्षमता होने पर भी अधिकांशतः उसे प्रकृति के अनुरूप स्वयं को मोड़ना पड़ता है । गंगा-यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था । इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं ।[6]

मध्यदेशीय धर्म—विभिन्न नाम

जैकोबी इसे लोकधर्म नाम देते हैं, जबकि लेमन्न के अनुसार इसके उत्थापक परिव्राजक थे । गार्वे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं । राइस डेवीस इसे सुसंयोजित, तर्कपूर्ण घुमन्तुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं । विंटरनित्स ने इसे संन्यास तथा तप से सम्बंधित धर्म एवं साहित्य का नाम दिया है । डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये इसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसे मागधी धर्म कहते हैं ।[7]

उपर्युक्त सब नाम तथा उनके द्वारा प्रस्थापित विचार स्वयं में सम्पूर्ण न होने पर भी सार्थक अंश प्रतीत होते हैं, और सब को संयोजित करने पर एक विशेष भू-भाग में एक विशेष प्रकार की संस्कृति-सभ्यता की परिकल्पना में अवश्य सहायक हैं ।

परिव्राजक साहित्य के अवशेष

लेमन्न ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भारत में बहुत पहले अब्राह्मण, परिव्राजक संन्यासियों का साहित्य विद्यमान रहा है, जो अब भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया है । उसे हम विभिन्न प्राप्त साहित्य-अंशों में खोज सकते हैं । इसकी पुष्टि करते हुए विंटरनित्स का कथन है कि लेमन्न की धारणा से भी बहुत अधिक मात्रा में वह श्रामणिक अथवा परिव्राजक साहित्य हमें महाभारत के उपदेशात्मक-अंशों, उपनिषदों तथा पुराणों में प्राप्त होता है । इसके अंश बुद्धपूर्व के तथा बुद्धकालीन साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं ।[8]

3 (क) आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सं०) **बृहत्कथाकोश** (अंग्रेजी), (भूमिका) पृष्ठ 11, तथा
(ख) एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 15
4. सुनीतिकुमार चैटर्जी, **इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी**, पृष्ठ 46
5. **पंजाबी बोली दा इतिहास**, प्यारासिंह पद्म, पृष्ठ 130–131
6. **पार्श्व बचनसार** (भूमिका), 1935, पृष्ठ 12–13
7. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, (सं०) **बृहत्कथाकोश**, पृष्ठ 12
8. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 21

ब्राह्मण एवं मागधी-धर्म की भिन्नताएं

उपर्युक्त मत की पुष्टि तथा परवर्ती जीवन एवं चिन्तनधारा पर इन दोनों समानान्तर विचारधाराओं का आनुपातिक प्रभाव स्पष्ट करने के विचार से दोनों के तत्वों व मान्यताओं का भेद स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

ब्राह्मण-तत्व-दर्शन

ब्राह्मण धर्म-दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक नीति-आचार है। निजंधरी आख्यानों के नायक पौराणिक विश्वासों से प्राप्त अतिप्राचीन ऋषि हैं। वे देवताओं के सहचर हैं। वे दैवीशक्ति से सम्पन्न हैं।[9] इनके दैनिक जीवन में ग्रीक वीरों के समान देवताओं की विद्यमानता पड़ौसियों की सी है।[10] वेदों का ज्ञान, देवताओं की स्तुति, अर्चना तथा यज्ञ एवं वर्णव्यवस्था ब्राह्मण धर्म के मूल-स्तम्भ हैं। तपस्या का स्थान भी है पर उसका उद्देश्य अतिप्राकृतिक शक्ति प्राप्त करना है, जिससे इन्द्रासन भी डोल उठे। ऋषि की शाप-शक्ति, सूर्य को निगलने, समुद्र को पी डालने आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं, जिनका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा है। त्याग तथा दान का तात्पर्य है राजा व प्रजा द्वारा ब्राह्मण पूजा, सहस्रों गउओं का दान तथा ब्राह्मणों के हित में सर्वस्व त्याग की भावना।[11] संन्यास को भी स्थान दिया गया है, पर यह प्रारम्भिक तीन आश्रमों में सम्पूर्ण जीवनोपभोगों के अनन्तर वृद्धावस्था में और अधिक शक्ति-उपार्जन के निमित्त किया गया गृहत्याग मात्र हैं।[12]

परिव्राजक दर्शन

परिव्राजक जीवन-दर्शन ब्राह्मण मान्यता के सर्वथा-प्रतिकूल है। आख्यान वेदों पर आश्रित न होकर लोककथाओं एवं लोकगाथाओं से सामग्री ग्रहण करते हैं। पात्र देवता-तुल्य ऋषि न होकर संसार-त्यागी, योगी, संन्यासी हैं। संसार दुःखों का घर माना जाता है और तृष्णा मूल-कारण। संन्यास का उद्देश्य संसार-त्याग, आत्मोन्नति तथा अन्त में निर्वाण-प्राप्ति है। आत्मनिरोध तथा आत्म-त्याग ही तपस्या है। संन्यासी तथा तपस्वी प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव से पूर्ण है। न वह किसी से भयभीत है, न शक्ति प्राप्त कर किसी को भयभीत ही करना चाहता है। यही मैत्री, प्रेम तथा अभय के भाव अहिंसा सिद्धान्त के आधार बनते हैं। जन्मान्तरवाद एवं कर्मसिद्धान्त परवर्ती भारतीय निराशावादी एवं भाग्यवादी जीवनदर्शन को इस विचारधारा की प्रमुख देन है।[13] जीवन की क्षण-भंगुरता, वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु से आक्रान्त मानवता के लिए सत्कर्म, त्याग, तपस्या तथा प्राणीमात्र के प्रति प्रेम एवं मोक्ष अथवा मुक्ति अन्तिम लक्ष्य माने गए हैं। संन्यासी तथा तपस्वी को योगि, अर्हत, केवलि, बुद्ध अथवा जैन जो भी कहा जाए, और, उसका अन्तिम लक्ष्य निर्वाण, ब्रह्म, कैवल्य अथवा विष्णु-पद

---

9. कथाशैली की परम्परा (लेख) श्री नरमदेश्वर चतुर्वेदी, **साहित्य**, जुलाई 1961, वर्ष 12, अंक 2, पृष्ठ 57
10. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 21
11. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सं०) **बृहत्कथाकोश**, पृष्ठ 13
12. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 23
13. ए० एन० उपाध्ये, (सं०) **बृहत्कथाकोश**, पृष्ठ 12

प्राप्ति माना जाए, इन सब के मूल में परिव्राजक धर्म का मोक्ष का सिद्धान्त ही कार्यरत प्रतीत होता है ।[14]

आर्य तथा नवीन भौगोलिक प्रभाव

ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्त मानव के चिन्तन तथा सामाजिक-जीवन के स्वाभाविक विकास को प्रकट करते हैं । वैदिककाल की प्राक-समाजवादी, पशुपालक, घुमन्तू तथा आक्रामक सभ्यता के लिए उसका सक्रिय तथा कतिपय भोगवादी जीवनदर्शन नितान्त स्वाभाविक था । परन्तु भारत के मध्यदेश तक पहुंचते-पहुंचते प्रकृति की अनुकूलता, जीवन-साधनों की सुलभता, शान्ति, सुरक्षा आदि तत्व आर्यों के जीवन-दर्शन को, जो कठोर, संघर्षपूर्ण तथा प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में विकसित हुए थे, अवश्य कुंठित करने लगे होंगे । यदि आर्यों के आगमन तक मध्यदेश में मागधी-धर्मों की विद्यमानता का मत स्वीकार कर लिया जाए तो नवीन प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त आर्यों को तद्देशीय समाज की सशक्त चिन्तन-परम्परा का सामना भी करना पड़ा होगा, और अपने भूगोल से विच्छिन्न, केवल इतिहास पर आश्रित ब्राह्मण विचारधारा नवीन भूगोल तथा इतिहास के इस दोहरे आक्रमण को यदि देर तक सहन नहीं कर सकी तो सर्वथा स्वाभाविक है ।[15] सामाजिक-चेतना में कोई भी विचारधारा अथवा विचार-परम्परा न तो सदा अपने मूल रूप में स्थिर रह सकती है और न समूल नष्ट ही होती है । इसी के अनुसार अपने बहुत से तत्वों का प्रभाव छोड़ती हुई भी विशुद्ध आर्य-ब्राह्मण विचारधारा कालान्तर में इस मागधी विचार-परम्परा में विलीन हो गई ।

ब्राह्मण-परिव्राजक विचार-सम्मेलन तथा उपनिषद

यह परिकल्पना की जाती है कि ब्राह्मण काल के अन्त[16] तक ये दोनों धार्मिक तथा वैचारिक सारणियां परस्पर मिलनी आरम्भ हो चुकी थीं । उपनिषदों में इस सम्मेलन के प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं । यहां याज्ञवल्क्य तथा अन्य व्यक्ति प्रथम बार आत्म-विद्या का

---

14. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 24

15. इब्न खल्दून, हर्डर आदि अनेक विद्वान सभ्यता के विकास को पशुपालक घुमन्तू कबीलों द्वारा नगरों तथा ग्रामों के स्थिर समाजों पर सतत आक्रमण का परिणाम मानते हैं । स्वयं नगर–राज्यों में शासक बन कर बस जाने वाली ऐसी घुमन्तू जातियां शीघ्र ही अपना संगठन, शक्तिमत्ता तथा कठोरता त्याग देती हैं और फिर किसी नवीन आक्रामक बर्बर जाति द्वारा दलित होती हैं । स्टेपीस के आर्यों तथा अरब के रेगिस्तानों की सेमैटिक जातियों के विश्व–भर में फैल जाने का कारण उनका मूलतः पशुपालक तथा घुमन्तू होना ही है । विस्तृत जानकारी के लिए दृष्टव्य :–
    (क) इब्न खल्दून – 'नामेडिक हार्डीहूड' सम्बन्धी टिप्पणी, पृष्ठ 706–707
    (ख) ओपनहैमर – 'आन हर्डस्मैन' सम्बन्धी टिप्पणी, पृष्ठ 723
    (ग) डैवी तथा मोरेट **(फ्राम ट्राइब टू एम्पायर)**, पृष्ठ 218, 'एबाउट सेमेटिक होर्डस एण्ड दीयर इन्वेजन' – 1926, पृष्ठ 104 तथा टिप्पणी – 28
    (घ) हर्डर – थ्योरी आफ सोशल एवोल्यूशन थ्रू द इन्वेज़न आफ हिल नॉमेडस आन प्लेन ड्वैलर्स, पृष्ठ 416–17, हावर्ड बेकर तथा हैरी एल्मर वार्नीस, खण्ड 1, 2 तथा 3 **सोशल थॉट फ्राम लोर टू सांयस**

16. मैक्समूलर पांचवी शताब्दी ईसा–पूर्व में बुद्ध के जन्म के साथ वैदिक-ब्राह्मण काल की समाप्ति मानते हैं और प्रायः विद्वान उनके मत से सहमत हैं ।

प्रचार करते हैं । दूसरी ओर यही परम्परा बाद में जनता को कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक परम्परा से मुक्ति दिलाकर बौद्ध और जैन मतों के रूप में फूट निकलती है, जिन्हें वस्तुतः पूर्ववर्ती मागधी धर्म एवं विचार-परम्परा के उत्तराधिकारी कहा जा सकता है ।[17]

बुद्ध-पूर्व साहित्य में मागधी विचारधारा के अंश

बुद्ध-पूर्व भारतीय साहित्य में मागधी धर्म अथवा विचारधारा सम्बन्धी अंशों का संक्षिप्त परिचय समीचीन होगा । वेदों में जन्मान्तरवाद तथा कर्म-सिद्धान्त के दर्शन नहीं होते । प्रारम्भिक उपनिषदों में भी इनकी कमी है – हां छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में अवश्य कर्म-सिद्धान्त मिलता है, परन्तु वहां भी राजा द्वारा यह सिद्धान्त ब्राह्मण को समझाया गया है । मैत्रायण्य उपनिषद् जो काफी बाद की रचना है, मागधी धर्म के आधारभूत निराशावादी सिद्धान्तों से भरपूर है ।[18]

पिता-पुत्र-संवाद – पीढ़ियों का संघर्ष

पिता-पुत्र- संवाद जो सर्वप्रथम महाभारत के सभापर्व में तथा तत्पश्चात् मार्कण्डेय पुराण, बौद्ध-जातक तथा जैन उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त होता है, ब्राह्मण-आश्रमवादी तथा मागधी-त्यागवादी विचारधाराओं के संघर्ष का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है । पुत्र संसार को मृत्यु तथा नाश का कारण समझ कर त्याग देता है जबकि पिता उसे ऐसा करने से रोकता है और वेदसम्मत वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार गृहस्थ-पालन के पश्चात् वृद्धावस्था में ही संन्यास को उचित मानता है ।[19] हर पीढ़ी में सामाजिक ही नहीं पारिवारिक स्तर पर भी नवीन तथा प्राचीन का संघर्ष होता ही है । नवीन की विजय होना स्वाभाविक है, वह चाहे प्रत्यक्ष हो या कुछ प्रच्छन्न ।

उपर्युक्त संवाद में संघर्ष बहुत सचेत, प्रत्यक्ष तथा उभरे स्तर पर प्राप्त होता है ।

त्यागवाद तथा अब्राह्मण-वर्ग

त्यागवादी विचारधारा का उद्‌गम अब्राह्मण वर्ग ही है । महाभारत में त्याग तथा संन्यास का उपदेश देने वाले प्रायः सभी अब्राह्मण हैं । विदुर इस प्रकार के व्यक्तियों में प्रमुख हैं । वे स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री की सन्तान थे ।[20] उनका विवाह भी पारसव-कन्या से हुआ था, जो

---

17. (क) एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर,** पृष्ठ 15

(ख) सम्भवतः ब्राह्मण काल के अन्त तक आर्य तथा स्थानीय धर्मों के विचारों की ये दोनों सरणियां परस्पर मिल गईं तथा इस अन्तःक्रिया की परिणति एक ओर तो उपनिषदों के रूप में प्रतिफलित हुई जिस में याज्ञवल्क्य तथा अन्य प्रथम बार आत्मविद्या का प्रचार करते हैं, तथा दूसरी ओर वैदिक कर्मकाण्डी मतवाद के विपरीत बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में मागधी धर्मों की सशक्त प्रतिनिधि के रूप में उभर कर प्रत्यक्ष हुई ।

पार्श्व वचनसार, (अंग्रेजी) (भूमिका), पृष्ठ 25

18. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर,** पृष्ठ 25

19. **वही०,** पृष्ठ 25

20. शूद्रयोनावहं जातः, **महाभारत** – 5, 50–5

स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई थी । महाभारत का 'विदुर-हितवाक्य' विदुर के उपदेशों से भरा पड़ा है जिसमें त्यागवादी, संन्यास-सम्बन्धी आचार का प्राधान्य है ।[21] स्त्रीपर्व के 'धृतराष्ट्रशोकपनोदन' में पुत्रों के निधन के कारण शोक-संतप्त धृतराष्ट्र को विदुर संसार की अनित्यता, दुःखों तथा मृत्यु की शक्ति का उपदेश देकर सान्त्वना देते हैं । यहां वे नदी पर झुकी डाली से लटके उस व्यक्ति की कथा सुनाते हैं जिसके नीचे पानी में मगरमच्छ, डाली पर सर्प तथा तट पर बाहर सिंह था । शाखा-मूल को एक चूहा काट रहा था । मृत्यु-मुख में होने पर भी उस व्यक्ति ने मधुमक्खियों द्वारा संचित मधु की बूंदों को टपकते देख उनका स्वाद लेना आरम्भ कर दिया था ।[22] भारतीय त्यागवादी दृष्टांत-कथा का यह सर्वश्रेष्ठ रत्न परवर्ती बौद्ध-जैन ही नहीं ईसाई धर्मकथाओं, फारसी सूफी साहित्य, पंचतन्त्र पर आधारित अरबी 'कलीलग ओ दमनग' कथाग्रन्थ आदि में भी सम्मानित स्थान का अधिकारी बना । इसकी प्रसिद्धि के विषय में इतना जानना ही पर्याप्त होगा कि शायद ही कोई जर्मन बच्चा इस कथा से अनभिज्ञ हो । विश्व की अनेक भाषाओं को भारतीय त्यागवादी विचार-परम्परा को यह पुष्प सुवासित करता रहा है ।[23]

संन्यास धर्म तथा अब्राह्मण उपदेशक

महाभारत में अन्य कई स्थानों पर भी अब्राह्मण तथा निम्नवर्गों के व्यक्ति संन्यास धर्म का उपदेश देते मिलते हैं । वन-पर्व (207-216) में कौशिक ब्राह्मण को धर्मव्याध वास्तविक ब्राह्मणत्व का उपदेश देता है । वह स्वयं बधिक है तथा कौशिक को उसके पास भेजने वाली स्त्री भी (3,206-8) सामान्य गृहस्थ महिला है । शान्ति-पर्व (251-10) में भी वेदाध्यायी अथवा यज्ञकर्त्ता व्यक्ति की अपेक्षा सर्वस्व-त्यागी तथा प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम-भाव रखने वाला व्यक्ति ही वास्तविक ब्राह्मण कहा गया है । शान्तिपर्व का 'तुलाधारी तथा जाजली संवाद' वैराग्यमयी साहित्य का सुन्दर उदाहरण है । इसमें भी निम्नवर्ग का तुलाधार, जाजली नामक ब्राह्मण को मैत्री तथा अहिंसा का उपदेश देता है ।

अहिंसा तथा अब्राह्मण वर्ग

अनुगीता (महाभारत–14,28,6) में अध्वर्यु तथा यति का संवाद मिलता है । यति यज्ञकर्त्ता को बकरे की बलि से रोकता है और शास्त्रार्थ में उसे निरुत्तर कर देता है । फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि अध्वर्यु को ही विजेता दिखाया गया है, जो सुनिश्चित मूलकथा के परवर्ती ब्राह्मणीकरण एवं 'शुद्धिकरण' का असफल प्रयास है । अनुगीता (4 : 50,2) में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म तथा ज्ञान को सर्वोत्तम हित माना गया है । पशुबलि के प्रस्थापकों को नास्तिकों के समान नरकगामी कहा गया है । अनुगीता के आरम्भ में सिद्ध का कथन वस्तुतः परवर्ती महावीर अथवा बुद्ध के कथन की ध्वनि देता है । जनक (14,32) बुद्ध के समान ही ममत्व का विरोध करते हैं । शान्तिपर्व में विदेहराज की उक्ति त्यागवादी विचारधारा में विशेष

---

21. महाभारत – विदुरहितवाक्य – 5, 32 – 40
22. महाभारत – स्त्रीपर्व (2, 7)
23. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 25

स्थान की अधिकारिणी है ।[24] अनुगीता (14-51,26) में दो अक्षर 'मम' को मृत्यु तथा तीन अक्षर 'नमम' को परब्रह्म कहा गया है । महाभारत में शान्तिपर्व तथा अन्य भागों के अधिकांश उपदेशात्मक अंश पूर्णतया पालि त्रिपिटक के समान हैं तथा कुछ अंश तो मूल-रूप में ही बौद्ध-ग्रन्थों में सम्मिलित कर लिए गए हैं । महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त ययाति की प्रसिद्ध कथा के द्वारा भी त्याग तथा संन्यास मत की ही प्रस्थापना की गई है ।

बौद्ध-जैन विचारधारा के पूर्ववर्ती संकेत

महाभारत में तथा मुख्यतः शान्तिपर्व के मोक्ष धर्म में ऐसी अनेक निजंधरी कथायें तथा आचार सम्बन्धी उपदेश प्राप्त होते हैं जो मूलतः बौद्ध अथवा जैन प्रतीत होते हैं । शान्तिपर्व (143-149) में व्याध तथा पेंडुकी की कथा मूलतः जैन प्रतीत होती है । मुद्‌गल आख्यान (3,260) भी इसी कोटि में आता है । मारकण्डेय पुराण में राजा विपश्चित नरक-यातना से पीड़ित व्यक्तियों की शान्ति व सुख के लिए स्वर्ग में जाने से इन्कार कर देते हैं । महाभारत में प्राप्त राजा शिवि की कथा ब्राह्मण तथा संन्यास धर्मो के सिद्धान्तों का अन्तर स्पष्ट करती है । राजा शिवि (3-100,197,13-32) बाज से कबूतर की रक्षा हेतु अपने शरीर का माँस काट कर प्रस्तुत करता है । यही शिवि (3-8) में ब्राह्मणों को गंगातट पर प्राप्त बालुका कणों से भी अधिक गउओं का दान करता है, और महाभारत (3-198) में शिवि इसलिए आदर्श नृपति कहा गया है क्योंकि वह अपने पुत्र वृहदगर्भ की ब्राह्मण की आज्ञा से बलि देकर उसका माँस पकाता है और खाने को उद्यत हो जाता है । इसी के परिणामस्वरूप उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है । यह निश्चित है कि शिवि का प्रथम रूप त्यागवादी, अहिंसा-मूलक विचार-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जबकि बाद के राजा शिवि ब्राह्मण यज्ञवादी मतवाद के पोषक हैं ।

समानान्तर विचार परम्पराएं

संन्यास एवं त्याग सम्बन्धी इन विचार अंशों का सम्बन्ध योग की एक प्राचीन प्रणाली से था, जो आचार-शास्त्र की एक विधि एवं मोक्ष-प्राप्ति का सक्रिय सिद्धान्त था । इन्हें सांख्य तथा बौद्ध-जैन उपदेशों के साथ समान सरलता से संयोजित किया जा सकता है । सांख्य तथा योग की सी स्वतन्त्र परम्पराओं को भले ही बाद में परम्परावादी ब्राह्मण धर्म से समन्वित करने के प्रयास हुए हैं ।[25] प्रस्तुत विवेचन से ब्राह्मण विचारधारा के समानान्तर एक अन्य सशक्त चिन्तन-परम्परा की विद्यमानता का अवश्य निश्चय हो जाता है, जो परवर्ती काल में बौद्ध-जैन पुनर्जागरण का आधार बनी ।[26]

---

24. अनन्त वतं मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन ।। – **महाभारत**–शांतिपर्व (12–178)

25. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 39-40

26. हमें दाय के रूप में प्राप्त प्राचीन भारतीय साहित्य के आधार पर तथा विंटरनित्स के द्वारा रेखांकित आख्यानों एवं नैतिकतावादी–मतवादी दृष्टिकोण के संदर्भ में यह बिना झिझक कहा जा सकता है कि जैन और बौद्ध साहित्य ही संन्यासवादी-त्यागवादी काव्य के मुख्य अभिरक्षक रहे हैं और जैन और बौद्ध धर्म मागधी धर्म के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं ।
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, (सं०) **वृहत्कथाकोश**, (भूमिका), पृष्ठ 15

अध्याय 6
बौद्ध आख्यान एवम् कथानक रूढ़ियां : मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि

1 त्रिपिटक

बौद्ध साहित्य वार्तालाप, उपदेश, उक्ति, कथा तथा संघ-नियमों के संग्रहों पर आधारित है। त्रिपिटक का इसमें विशेष महत्व है।

1.1 विनय-पिटक

विनय-पिटक के सुविभंग तथा खण्डकों में आख्यान भी प्राप्त होते हैं जिन्हें बुद्ध के जीवन-काल से सम्बद्ध माना जाता है। तत्कालीन भारतीय जीवन के परिचय की दृष्टि से कुछ कथायें बहुत महत्वपूर्ण हैं। जीवक के जन्म-सम्बन्धी घटना अवांच्छित शिशु को नदी में बहाने की विश्व-प्रसिद्ध रूढ़ि का सम्भवतः प्राचीनतम लिखित प्रमाण है।

1.2 सुत्तपिटक

सुत्तपिटक पंच निकायों पर आधारित हैं। खुद्दकनिकाय आख्यानक साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें बारह ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रथम चार उपदेश तथा इतिहास-संवाद प्रधान हैं। मज्झम निकाय में अंगुलिमाल डाकू (संख्या 86), राजा मखदेव (संख्या 83) तथा रट्ठपाल के रोचक आख्यान हैं। संयुत्त निकाय मार (कामदेव) के बौद्ध प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहां मार ईसाई अथवा इस्लामी साहित्य के शैतान का प्रतिरूप प्रतीत होता है। मार तथा भिक्षुणियों के संघर्ष सम्बन्धी दस आख्यान हैं। संयुत्त निकाय (10-12) में महाभारत के युधिष्ठिर के समान बोधिसत्व अपने चतुर उत्तरों से यक्ष को सन्तुष्ट करते हैं। अगुंत्तर निकाय में बहुत से सुत्त स्त्रियों सम्बन्धी हैं। बुद्ध धर्म की संन्यास तथा त्यागवादी मान्यता स्त्री-हीनता की भावना के लिए बहुत उत्तरदायी रही है।[1]

1.3 खुद्दक निकाय

खुद्दक निकाय वस्तुतः विविध-संग्रह है। इसमें अन्धे व्यक्ति तथा हाथी (4-4) की कोटि के बहुत से आख्यान हैं। इन्द्र की अप्सराओं पर मुग्ध बुद्ध के सौतेले भाई नन्द का आख्यान है। सुत्तनिपात में कथात्मक-संवाद भी हैं। नालकसुत्त संवाद (3, 2) बुद्ध के जन्म के समय की

---

1. प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, 1961

तथा

आर्यकृत जातकमाला – सम्पादक सूर्यनारायण चौधरी, पूर्णिया – बिहार, 1952

घटनाओं से सम्बंधित है । पब्बजा सुत्त (3, 1) गौतम के गृहत्याग तथा राजगृह के राजा से मिलने की घटना पर आधारित है । पधानसुत्त में मार गौतम द्वारा पराजित होता है । पेतवत्थु में राक्षसों-पिशाचों सम्बन्धी आख्यान हैं । ये कथायें जनसामान्य के मनोरंजन तथा शिक्षा के लिए हैं । कर्मसिद्धांत प्रबल रूप में मिलता है । विमानवत्थु में स्वर्गीय प्रासादों की कथायें वर्णित हैं । थेरगाथा तथा थेरीगाथा तत्कालीन भारत में स्त्रियों की सामाजिक-स्थिति के ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । भिक्षुणियां मार को प्रायः परास्त कर देती हैं । भिक्षुओं के चमत्कारों सम्बन्धी कुछ आख्यान मिलते हैं । कर्म-सिद्धान्त प्रबल रूप में मिलता है । सब कथाओं का रूपाकार प्रायः एक सा है ।

2. जातक

2.1 विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण

जातक बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के संग्रह हैं । सब कथाओं में बोधिसत्व मुख्य पात्र नहीं हैं । कहीं-कहीं वे सहायक ही हैं, कहीं द्वितीय श्रेणी के पात्र तो कहीं-दर्शक मात्र ही । इन्हें बुद्ध के पूर्वजन्म की कथायें मानना निरर्थक है । बौद्ध-पुनर्जन्म तथा कर्मफल की मान्यता के अनुसार किसी भी कथा को जातक-कथा में परिवर्तित किया जा सकता था, और यही हुआ भी है ।[2] कालक्रमानुसार जातक परवर्ती संस्कृत कथाओं से पहले के हैं । इनका संग्रहकाल पांचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से भी पहले से लेकर दूसरी शताब्दी ईस्वी तक माना जाता है ।[3] प्राचीन बौद्ध अवशेषों में इन कथाओं का अंकन मिलता है । भरहुत के द्वितीय-शताब्दी ईसा-पूर्व के उत्कीर्ण चित्रों में जातक कथाओं के अंकन के साथ कथाओं के शीर्षक भी मिलते हैं ।

2.2 जातक-वर्गीकरण

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से जातकों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है [4] :–

(क) पशु कथा, नीति - शिक्षा से पूर्ण ।

(ख) परिकथा, पशु-परिकथा जो पूर्णतया अबौद्ध हैं ।

(ग) छोटी-छोटी दृष्टांत, मनोरंजन तथा हास्य की कथायें जिनमें बौद्ध-धर्म की कोई विशेषता उपलब्ध नहीं ।

(घ) आख्यायिकायें तथा बृहदाकार रोमांचक-साहसिक आख्यान ।

(ङ) उपदेशात्मक कथायें ।

(च) उक्तियां ।

(छ) पवित्र निजंधरी कथायें जो अंशतः बौद्ध हैं ।

---

2. **एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजियन एण्ड एथिक्स**, खण्ड – 7, पृष्ठ 491
3. **जातक** (प्रथम), भदन्त आनन्द कौशल्यायन (1941), (भूमिका), पृष्ठ 24
4. (क) एच॰टी॰ फ्रांसिस तथा ई॰जे॰ टामस, **जातक टेल्स**, (भूमिका), पृष्ठ 1 तथा
   (ख) एम॰ विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आफ इण्डियन लिट्रेचर**, खण्ड 2, पृष्ठ 21

2.3 जातक-वस्तुतः लोककथायें

जातक वस्तुतः बुद्ध-पूर्वकाल की लोकप्रिय कथाओं के संग्रह हैं, जिन्हें केवल बौद्ध संस्करण प्राप्त हो गया था।[5] बोधिसत्व तथा विशिष्ट बौद्ध शब्दावली एवं विचारों का ऊपरी आवरण हटा देने पर प्रत्येक कथा का लोककथात्मक मूल प्रकट हो जाता है।[6]

बौद्ध कथाओं की लोकधर्मी परम्परा के लिए ब्राह्मण-विरोधी प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण है। बुद्ध के प्रारम्भिक शिष्यों में उच्च-वर्ग के स्थान पर जनता के मध्यम तथा निम्नवर्गीय व्यक्ति ही अधिक थे। ये उन समस्त कथाओं, दन्तकथाओं तथा मनोरंजक आख्यानों से परिचित थे जिनका सम्बन्ध शिल्पियों, कृषकों, श्रमिकों, साधु-संन्यासियों, व्यापारी वर्ग, बधिक, व्याध, श्रेष्ठी आदि सभी वर्गों से था। वे प्राचीन वीर-गाथाओं, ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं तथा धार्मिक आख्यानों से भी परिचित होंगे। तत्कालीन प्रचलित मनोरंजक, निजंधरी तथा साहसिक-रोमांचक लोककथा साहित्य से भी वे परिचित थे। परिचय से भी अधिक सशक्त पक्ष हैं उन कथाओं की विशिष्ट परिस्थिति में उपयोगिता का। वर्गवादी ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल इन्हें वर्गहीन जनसामान्य में उनके स्तर व उनकी रुचि के अनुकूल प्रचार करना था। इस प्रकार बौद्ध दया, विनय, पुनर्जन्म, कर्मफल तथा चरित्र सम्बन्धी सिद्धान्तों से युक्त जनसाहित्य को विशिष्ट धार्मिक वृत्त में सुरक्षित कर लिया गया। ये तत्व ही जातकों को भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण बना देते हैं। भारत को कथा-साहित्य का उद्गम कहा जाने के मूल में बौद्ध जातक-साहित्य ही मुख्य कारण रहा है।[7] बेनफी ने संसार भर के परिकथा साहित्य का मूल बौद्ध-साहित्य ही माना है।[8]

3. जातक कथा-साहित्य तथा कथानक-रूढ़ियां[9]

मध्यकालीन भारतीय कथा-साहित्य के समुचित अध्ययन की दृष्टि से जातकों में प्राप्त विशिष्ट कथा-रूपों तथा कथानक-रूढ़ियों का परिचय महत्वपूर्ण होगा।

---

5. ए० एन० उपाध्ये (सं०), **बृहत्कथाकोश** (भूमिका), पृष्ठ 16-17
6. एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आफ इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 2,** (बुद्धिस्ट एण्ड जैन लिट्रेचर), पृष्ठ 125
7. **वही०**, पृष्ठ 153
8. भारत उन आख्यानों का घर है, जो हमारे विचारों में उस यूनानी दास से जुड़ी हुई है, जिसे हिरोडोटस ईसप नाम देता है। ईसप की दन्तकथाओं के द्वारा हमारे दैनन्दिन व्यवहार की भाषा का अनिवार्य अंग बन चुके दृष्टान्तों के प्रयोग करने वाले बहुत कम व्यक्ति इस तथ्य से परिचित हैं कि ये कथाएं, इनका विशेष रूपाकार तथा इनकी तकनीक के स्रोत सुदूर प्राचीन भारत में खोजे जा सकते हैं।... यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दू मन बड़ा सम्पन्न रहा है। भारतीय साहित्य में दन्तकथा-सृजन की प्रतिभा असीम रूप में विद्यमान रही है... बुद्ध की जन्म-कथाओं (जातकों) को देखें, बुद्धघोष की धम्मपद टीका को देखें, जिनमें से प्रत्येक चार से पांच सौ कथाओं पर आधृत हैं, तथा जिनका बड़ा भाग पशु-कथाओं से संबंधित है। पंचतन्त्र को देखें, हितोपदेश को देखें। (लिन यूतांग-जिल्द-टिप्पणी)
   एम० टी० फ्रांसिस तथा ई० जे० टामस (अनुवादक) **जातक टेल्स**
9. विस्तृत सूचनार्थ द्रष्टव्य – **मध्यकालीन रोमांस**, डा० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, जयपुर : रिसर्च पब्लिकेशन्स, 1971

3.1 प्रणयारम्भ

साहित्य में नर-नारी के प्रणयारम्भ के लिए स्वप्न-दर्शन, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन तथा गुण-श्रवण – इन चार विधियों का उल्लेख मिलता है। आख्यान साहित्य में ये यथार्थ विधियां न रह कर कथानक-रूढ़ियां बन गई हैं। प्रायः नायक-नायिका प्रथम-दर्शन में ही परस्पर आकृष्ट हो जाते हैं।

कट्ठहारी जातक : (7) में राजा तथा लकड़हारिन बाला प्रथम-दर्शन में ही परस्पर आकृष्ट हो जाते हैं। **सुजाता जातक** (306) में प्रथम-दर्शन में ही राजा तथा फल बेचने वाली बाला में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह रानी बना दी जाती है। **सुरुचि-जातक** (489) में गुणश्रवण द्वारा प्रणयारम्भ होता है। **कलिंग बोधि जातक** (479) में राजकुमारी द्वारा गूंथी हुई माला नदी में बह कर स्नान करते राजकुमार के सिर से लिपट जांती है। सुन्दर कलाकृति की रचना करने वाली गुणवती कन्या के प्रति उसी समय से उसका आकर्षण आरम्भ होता है। **कुसजातक** (531) में स्वर्ण-मूर्ति भिजवा कर विवाह का निर्णय करना भी चित्र-दर्शन की रूढ़ि के समीप ही पड़ता है।

3.2 स्मृति-चिन्ह का भूलना

प्रेमिका को मिलन के अवसर पर दी गई निशानी को, निज-सन्तान को तथा स्वयं प्रेमिका को पहचानने अथवा स्वीकार करने से इन्कार करना बहुत महत्वपूर्ण रूढ़ि रही है। महाकवि कालिदास अपने अमर नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में इसी रूढ़ि का सुन्दर प्रयोग करते हैं। **कट्ठहारी जातक** (7) में इसी प्रकार राजा लकड़हारिन बाला को, उससे उत्पन्न निज-सन्तान को तथा प्रथम मिलन के अवसर पर दी गई निशानी को पहचानने से इन्कार कर देता है।

3.3 स्त्री की दुश्चरित्रता

स्त्रियों की दुश्चरित्रता, दुराचार तथा छल भारतीय साहित्य के लिए अक्षय विषय रहा है।[10] स्त्री-हीनता का क्रमिक विकास मानव के आर्थिक-सामाजिक विकास के साथ सम्बद्ध है। यह मानव-विकास की सामान्य अन्तरराष्ट्रीय प्रवृत्ति है। अन्य तत्वों के अतिरिक्त बौद्ध-मत में तो धार्मिक मतवाद भी नारी को हीन मानने की प्रवृत्ति के लिए अतिरिक्त कारण रहा है। बुद्ध तो संसार की भौतिकता को पूर्णतया नकार देते हैं। उनका स्वयं अपनी युवा, सुन्दरी पत्नी तथा पुत्र को छोड़ कर आना तत्कालीन मनोदशा का सुन्दर दिग्दर्शन कराता है। जो मान्यता जगत को ही नकार दे, मनुष्य-जन्म को महान दुर्भाग्य तथा दुःखों का कारण माने, इस सब से मुक्ति ही जिसका उद्देश्य हो तथा गृहस्थ को हेय मान कर भिक्षु-जीवन ही जिसका सामाजिक

---

10. स्त्री की दुश्चरित्रता भारतीय आख्यानों का असामान्य विषय रहा है... जातक कथाओं की पूरी लड़ी (संख्या 61-66) इसी विषय से सम्बद्ध है। कुणाल जातक (536) एक ही फलक पर इसी विषय से संबंधित कथाओं और सूक्तियों के एक पूरे संग्रह को संयोजित करता है। कुणाल जातक में कुंका (कृष्णा या द्रौपदी) की कथा प्राप्त है, जो पांच-पांच पाण्डव बन्धुओं से सन्तोष न करके एक कुबड़े के साथ व्यभिचार करती है, जिसके कारण पाण्डव संसार का त्याग करते हैं।

एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आफ इण्डियन लिट्रेचर,** भाग-2, पृ० 140

परिवेश हो उसके द्वारा स्त्री-जाति की अवमानना होना सर्वथा स्वाभाविक है । ब्राह्मण-वर्ग की कठोर होती सामन्ती-पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था इस दिशा में पहले ही भूमिका-निर्माण कर चुकी थी । परन्तु इसके साथ-साथ प्रवृत्तिरूप में नर-नारी आकर्षण तथा लोक-साहित्य का कन्या-प्राप्ति का अभिप्राय भी जीवन से समूल हटाया नहीं जा सकता था । इसलिए नर-नारी प्रणय तथा आकर्षण की कथाओं की बहुत बड़ी संख्या में प्राप्ति होने पर भी स्त्रियों को प्रायः निकृष्ट, छली तथा दुश्चरित्र ही चित्रित किया गया है ।

जातकों में स्त्री को बिल्ली कहा गया है जबकि पुरुष वह मुर्गा अथवा चूहा है जिसे वह बहला-फुसला कर फंसा लेती है । यह माना जाता रहा है कि स्त्री कभी सच्चरित्र हो ही नहीं सकती तथा सदा पति को धोखा देने के लिए उद्यत रहती है ।

अंडभूत जातक : (62) में स्त्री की ध्रुव दुश्चरित्रता की मान्यता को अशुद्ध सिद्ध करने के लिए एक ब्राह्मण एक कन्या का शैशवावस्था से पालन करता है । युवती होने पर वह उससे विवाह करता है । परन्तु सब सतर्कताओं के बावजूद भी वह दुराचारिणी हो जाती है । **चूलपद्म जातक** (193) में राजकुमार पद्म दुर्दिन में पत्नी को मारे जाने से बचाता है, फिर अपना रक्त पिला कर उसकी प्राण-रक्षा करता है । परन्तु वह स्त्री हाथ-पांव कटे एक दण्डित अपराधी से सम्बन्ध बना कर पद्म को पहाड़ की चोटी से धकेल देती है । **रद्ध जातक** (198) में रद्ध तथा पोट्ठपाद नामक दो बोलने वाले तोते हैं । ब्राह्मण की अनुपस्थिति में उसकी स्त्री के दुराचरण में प्रवृत्त होने पर पोट्ठपाद उसे उपदेश देता है, जिसके कारण वह स्त्री उसे मार डालती है । **उच्छिद्ठ भत्त जातक** (212) में ब्राह्मण की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी यार के साथ रहती है । अचानक पति के लौटने पर प्रेमी को छिपा कर उसका जूठा भात पति के लिए प्रस्तुत करती है । **सुस्सौंदी जातक** (360) में गरुड़ योनि में उत्पन्न बोधिसत्व राजा ताम्ब की पत्नी सुस्सौंदी का अपहरण करते हैं । वे उसे बहुत प्यार व ऐश्वर्य में नागद्वीप में सुरक्षित रखते हैं । परन्तु राजा ताम्ब के सन्देशवाहक के द्वीप में पहुंचने पर उससे भी अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने के कारण वह बोधिसत्व द्वारा त्याग दी जाती है । **चूलधनुग्गह जातक** (374) में तक्षशिला के गुरु अपने समान विद्वान व योद्धा शिष्य को अपनी कन्या विवाह में देते हैं । मार्ग में वह अकेला डाकुओं के दल का सफाया करता है । नायक के साथ द्वन्द्व युद्ध में उसकी तलवार गिर जाती है । इस क्षणिक साक्षात्कार में ही डाकू-सरदार पर मुग्ध वह स्त्री नीचे गिरे डाकू को तो तलवार पकड़ा देती है, जबकि पति के हाथ में खाली म्यान थमाती है । परिणामस्वरूप पति मारा जाता है ।

खरपुत्त जातक (386) में नागराज बनारस के राजा को नागकन्या भेंट करते हैं जो अवसर मिलते ही रूप बदल कर जल के एक सर्प से संबंध स्थापित करती है और नागराज तथा काशीराज में भी अस्थायी वैमनस्य का कारण बनती है । इसी जातक में एक अन्य प्रसंग में पति एक गोपनीय मन्त्र जानता है । किसी पर मन्त्र प्रकट करने की अवस्था में उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है । यह जानती हुई भी पत्नी उस रहस्यमय मन्त्र को जानने का आग्रह करती है । **सत्तुभस्त जातक** (402) में ब्राह्मण की पत्नी अपने सेवक से प्रेम करती है और उसकी आर्थिक सहायता करने के लिए पति को धन कमाने बाहर भेजती है । **परंतप जातक** (416) में राजा

शत्रु-भय से रानी, पुरोहित तथा सेवक सहित भागता है। गर्भवती होने पर भी रानी सेवक से सम्बन्ध स्थापित करती है। **पदकूसल मानव जातक** (432) में बनारस की रानी दुराचरण के परिणाम-स्वरूप दूसरे जन्म में घोड़े के सिर वाली दानवी के रूप में जन्म लेती है। **भेदजातक** (454) में एक स्त्री मार्ग-विहीन ऊंची अटारी पर रहने पर भी दासी की सहायता से एक अपरिचित पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करके गर्भवती हो जाती है। **महापदुम जातक (472)** में विमाता सौत के पुत्र से प्रणय निवेदन करती है, जिसमें असफल होने पर उस पर झूठा लांछन लगवा कर उसे दण्डित करवाती है। हिन्दी-पंजाबी-आख्यान-साहित्य में किसी न किसी रूप में इस कथानक-रूढ़ि का काफी प्रयोग हुआ है। **तक्कारिय जातक में** ब्राह्मण की पत्नी एक बौने, दन्तहीन तथा कुरूप ब्राह्मण से अनुचित सम्बन्ध बनाये है। **तक्कल जातक** (446) में पत्नी अपने पति को उद्यत करती है कि वह अपने वृद्ध पिता की हत्या कर दे, जिस स्थिति से पौत्र अपने दादा की रक्षा का कारण बनता है।

3.3.1 उपर्युक्त रूढ़ि सम्बन्धी विचार

यह विचारणीय है कि स्त्रियों के दुराचरण प्रसंगों में किसी-न-किसी पुरुष का भी सहयोग अवश्य रहा है पर स्त्रियों सम्बन्धी हीन मान्यता के कारण इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। अधिकांश हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों में नायक-नायिका का परस्पर आकर्षण, मिलन के लिए प्रयास तथा संघर्ष आदि सब तत्व रहने पर भी प्रायः स्त्री का स्थान हीन ही है तथा प्रणय-प्राप्ति की अपेक्षा सामन्ती कन्या-प्राप्ति का स्वर अधिक उभरा हुआ है।

3.4 प्रणय के लिए संघर्ष

प्रेमिका या पत्नी की प्राप्ति अथवा पुनः-प्राप्ति के लिए संघर्ष तो आख्यानों तथा प्रेमाख्यानों का मूलाधार ही रहा है। **कुस जातक (531)** में पत्नी को पुनः प्राप्त करने के लिए कुस के वीरता एवं साहस-पूर्ण प्रयत्नों का उल्लेख मिलता है।

3.5 पोतभंग तथा सुन्दर यक्षिणियां

समुद्री यात्रियों का जहाज़-टूटना विश्व आख्यान साहित्य की महत्वपूर्ण कथानक-रूढ़ि है। जहाज़ी दुर्घटना का मुख्य कारण समुद्री तूफान ही है। कहीं-कहीं दैवी अथवा अमानवी शक्तियों के प्रकोप या षड्यन्त्र भी दुर्घटना का कारण बनते हैं। होमर के महाकाव्यों में इस रूढ़ि का सैंकड़ों बार उपयोग हुआ है। जहाज़ टूटने की रूढ़ि के साथ एक अन्य रूढ़ि भी प्रायः प्रचलित रही है। इस प्रकार के भग्न-पोत का नायक किसी दैवी सहायता अथवा टूटे तख्ते के सहारे अवश्य तट पर लग जाता है। किनारा किसी निर्जन द्वीप का भी हो सकता है। दैत्य आदि से युद्ध के पश्चात् नायक को सुन्दरी की प्राप्ति भी हो सकती है। द्वीप दानवी-स्त्रियों अथवा यक्खणियों (यक्ष-कन्याओं) का भी हो सकता हैं। वे उन यात्रियों को बन्दी बना सकती हैं या नये यात्री मिलने पर इन पुराने प्रेमियों को खा भी सकती हैं। मुख्य नायक ऐसे किसी द्वीप में बन्दियों की मुक्ति का कारण भी बन सकता है। जातकों में इस रूढ़ि का बहुत प्रयोग हुआ है।

दधि-वाहन जातक (186) में इसी प्रकार जहाज़ टूटने और कथा-नायक के द्वीप के तट पर लगने का वर्णन हुआ है। **सुस्सौंदी जातक (360)** में राजा के सन्देशवाहक का जहाज़ समुद्री दैत्यों

के कारण टूटता है और एक काष्ठ-पट्ट की सहायता से वह नागों के द्वीप में पहुँच जाता है। **वल्लाहस्स जातक (196)** में लंकाद्वीप की पिशाचिनियों का वर्णन हुआ है, जो भटके व टूटे जहाज़ों के यात्रियों को अपने पास रखती हैं और नवीन यात्री मिल जाने पर पुरानों को खा डालती हैं। **मित्तविंदक जातक** में मित्तविंदक समुद्र की साहसिक यात्रायें करता है और विचित्र द्वीपों में दानवी स्त्रियों के साथ आनन्दोपभोग का जीवन व्यतीत करता है।

3.51 कथानक-रूढ़ि – स्रोत सम्बन्धी विचार

कुछ विद्वानों का मत है कि जहाज़-टूटना तथा समुद्री यात्राओं सम्बन्धी अन्य सब कथायें तथा उन राक्षसियों और यक्षिणियों की रूढ़ि, जो भटके यात्रियों को प्रेम-जाल में फंसा कर बाद में खा डालती थीं, अवश्य पश्चिम से आई।[11] दो सहस्र वर्ष पूर्व के होमर के यूनानी-साहित्य को दृष्टि में रखते हुए इस मान्यता में कुछ सत्य अवश्य प्रतीत होता है। परन्तु दो तत्व इसके विशुद्ध भारतीय आरम्भ की ओर भी संकेत करते हैं।

(क) भारतीय आदिकाल से कछुआ-धर्मी नहीं रहे हैं। बौद्धकाल में भारतीय वणिकों, भिक्षुओं, उपदेशकों तथा साम्राज्य-निर्माताओं की सुदूर-पूर्व की यात्राओं तथा भारतीय जलशक्ति की प्रबलता के प्रमाण मिलते हैं। वे साहसी व्यक्ति दुर्घटनाओं के शिकार भी अवश्य होते होंगे। तटीय प्रदेशों से आरम्भ होकर इस प्रकार की कथायें जन-विश्वास व लोकमान्यता के तत्वों सहित यदि देश भर में फैल गई हों तो कुछ विचित्र नहीं।

(ख) सिंहल की पद्मिनियां अथवा अन्य द्वीपों की सुन्दरियां भारतीय साहित्य में स्थान पाती रही हैं। सुदूर-यात्राओं के एकाकी यात्रियों के मार्ग में द्वीप पड़ते ही होंगे। आबादी वाले ऐसे द्वीपों की स्त्रियां भले ही सुप्रसिद्ध पद्मिनियां न रही हों, एकाकी यात्रियों के मनोरंजन का अच्छा साधन रही होंगी। अब भी बन्दरगाहों, व्यापार-केन्द्रों, विश्रामस्थलों पर इस प्रकार की स्त्रियां सुलभ हैं। अन्तर्देश के लोगों तथा नाविकों की स्त्रियों द्वारा यदि वे सुन्दर पद्मिनियां अथवा वश करके अन्त में खा डालने वाली यक्खणियां बना डाली गई हों तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

भारत और अरब के प्राचीन व्यापार सम्बन्धों के कारण इन रूढ़ियों के पश्चिम से आने के मत को भी एकदम नकारा नहीं जा सकता। विश्व-साहित्य की इन महत्वपूर्ण रूढ़ियों का हिन्दी-पंजाबी प्रेमाख्यान-साहित्य में बहुत प्रयोग हुआ है।

3.6 विशिष्ट-व्यक्तित्व तथा जहाज़

किसी विशेष व्यक्ति के जहाज पर होने या छू देने मात्र से जहाज़ भीषण दुर्घटनाओं से बचा रह सकता है। **सुपारग जातक** में सुपारग के कारण ही बनियों का जहाज़ बच जाता है। पंजाबी किस्सा रूप-बसन्त व कुछ अन्य आख्यानों में भी यह रूढ़ि मिलती है।

---

11. वे परिकथायें जो पश्चिम से आई होंगी :–

(क) मैरिनर्स टेलस

(ख) जहाज़ डूबना तथा इस वर्ग की साहसिकता

(ग) राक्षसियां (यक्खिणी, यक्षणियां) जो टूटे जहाज़ के यात्रियों को मोहाविष्ट करती हैं पर बाद में उन्हें मार कर खा जाने के उद्देश्य से उन्हें अपने प्रेम से प्रसन्न करती हैं।

एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 131

3.7 अमानवी एवं पशु-पात्र तथा रूप-परिवर्तन

विश्व भर के आख्यानक, विशेषतः लोककथात्मक साहित्य में अमानवी पात्र विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। मनुष्य ने अपने आस-पास के पशु-प्राणियों तथा प्राकृतिक शक्तियों में भी मानवी, दैवी अथवा दानवी गुणों का आरोप करके उन्हें अपने आख्यान, पुराण तथा इतिहास में संयोजित किया है। बौद्ध कथा-साहित्य का मूलाधार लोककथा साहित्य होने के कारण अधिकांश कथाओं में हमें अमानवी अथवा पशु-पात्र मनुष्यों के साथ घुलमिल कर क्रियाशील मिलते हैं। कहीं-कहीं किसी व्यक्ति या अन्य प्राणी द्वारा रूप-परिवर्तन करके भी अमानवी-पात्र के रूप में कार्य करने के उदाहरण मिलते हैं।

वल्लाहस जातक (196) में लंका द्वीप की राक्षसियों का वर्णन हो ही चुका है। उसी जातक में बोधिसत्व कव्वे की चोंच वाले उड़ने की शक्ति से सम्पन्न घोड़े के रूप में द्वीप के बन्दियों को मुक्त करते हैं। **सुस्सौंदी जातक** (360) में बोधिसत्व गरुड़ के रूप में राजा ताम्ब की पत्नी का हरण करते हैं। **खरपुत जातक** (386) में नागराज तथा नागसुन्दरी मानव व सर्प दोनों रूपों में मानवोचित व्यवहार करते हैं। **सतुभस्त जातक** (402) में कोई राक्षस ब्राह्मण को आगामी भयों के विषय में सूचित करता है। **पदकूसल मानव जातक** (432) में मृत्यु उपरान्त स्त्री मानव-भक्षी दानवी के रूप में जन्म **लेती है**। **महापदुम जातक** (472) में भी नाग सहायक होते हैं। **महाशीलव जातक** (51) में पिशाच शत्रु-सेना में राजा की सहायता करते हैं।

रद्धजातक (198) में रद्ध तथा पोट्ठपाद नामक विद्वान तथा ज्ञानी तोते हैं। **मतक भट्ट जातक** (11) की रोने व हंसने वाली बकरी विश्वसाहित्य की एक महत्वपूर्ण रूढ़ि है। **श्री जातक** (284) में दो मुर्गे मानवोचित वार्तालाप करके अपने विभिन्न अंगों को खाने के परिणाम की सूचना देते हैं। **सब्बदट्ठ जातक** (241) में तो सब्बदट्ठ नामक गीदड़ बनारस के राजा पर आक्रमण ही कर देता है।

इनके अतिरिक्त भी जातकों में पशुओं के मानवोचित व्यवहार के और भी अनेक आख्यान मिलते हैं। गीदड़, शेर तथा बैल के मनमुटाव का कारण बनता है, जिसमें दोनों नष्ट हो जाते हैं – (38)। शेर की खाल में भेड़िया (186), बन्दर तथा मगरमच्छ का आख्यान, कव्वे की ध्वनि की प्रशंसा करने वाला गीदड़, सुअर को अच्छा भोजन मिलता देख कर ईर्ष्या करने वाला गधा, धूर्त सारस, नृत्य करने वाला मोर, मुर्गा तथा बिल्ली आदि अनेक ऐसे आख्यान हैं, जो आज विश्व भर की सभी भाषाओं में अनूदित, प्रचारित तथा पूर्णतया समन्वित हो चुके हैं। इस प्रकार के आख्यानों में पशु प्रायः बुद्धिमान तथा व्यवहार-कुशल अंकित हुए हैं। कई बार तो पशु मानव के साथ भलाई करने पर भी बदले में मानव के विश्वासघात के शिकार बनते हैं।[12]

---

12. पशुओं और मानवों की परिकथाएं अधिक संख्या में प्राप्त हैं। पशु मानवों की अपेक्षा अधिक अच्छी भूमिका में प्राप्त हैं .... कृतज्ञ पशु और कृतघ्न मनुष्य मिलते हैं।

एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी ऑफ इंडियन लिट्रेचर**, भाग-2, पृष्ठ 129

3.8 पुनर्जन्म

पुनर्जन्म आख्यान साहित्य की महत्वपूर्ण रूढ़ि है । बुद्ध सम्बन्धी तो हर कथा ही पुनर्जन्म की कथा है । उस दृष्टि से जातकों की प्रत्येक कथा में पुनर्जन्म की रूढ़ि का प्रयोग हुआ है । इसके अतिरिक्त भी कहीं-कहीं किसी पात्र के दूसरे जन्म का वर्णन मिलता है । **पदकूसलमानव जातक** (432) में मृत्यु के उपरान्त स्त्री मानव-भक्षी दानवी के रूप में जन्म लेती है और ब्राह्मण को बन्दी बना कर पति रूप में अपने पास रखती है ।

3.9 दोषी मन्त्री निर्वासन

महाशीलव जातक (51) में राजा दोषी मन्त्री को निकाल देता है । मन्त्री, शत्रु-राजा को उकसा कर अपने पूर्व-स्वामी पर आक्रमण करवा देता है । इस कथानक-रूढ़ि का भारतीय-साहित्य में बहुत प्रयोग हुआ है । पद्मावत का राघवचेतन तो अति प्रसिद्ध व्यक्तित्व बन ही गया है और उसे वास्तविक एवं ऐतिहासिक तक मानने का आग्रह किया जाता है । रामायण के विभीषण प्रसंग को हम इसी रूढ़ि के समीप मान सकते हैं ।

3. 10 अलौकिक, चमत्कारी घटनायें व मन्त्र-तन्त्र

दधिवाहन जातक (186) में कुछ चमत्कारी उपकरणों का वर्णन मिलता है । कुल्हाड़ी स्वयं लकड़ी काट सकती है, आग जला सकती है तथा शत्रुओं का नाश कर सकती है । ढोलक के एक ओर बजाने पर शत्रु भाग खड़े होते हैं जब कि दूसरी ओर बजाने पर वे मित्रों में परिवर्तित हो जाते हैं । ऐसा दुग्ध-पात्र है जो इच्छित वस्तु प्रदान करता है । उड़ने में सहायक होने वाली एक मणि भी है । **श्रीजातक** (284) में मुर्गों के वार्तालाप से उनके माँस के विभिन्न चमत्कारी गुणों की बात जानकर उन्हें खाने पर संन्यासी, गज-शिक्षक तथा उसकी पत्नी, मन्त्री, राजा तथा रानी बन जाते हैं । पंजाबी किस्सा-काव्य में भी इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है । **भद्रघट जातक** (291) में भी वणिक के पुत्र को सर्वप्रदाता भांड मिलता है जिसे अपनी मूर्खता के कारण तोड़ कर वह कंगाल हो जाता है । **खरपुत्त जातक** (386) में पशु-भाषा समझने की किसी मन्त्रविधि का उल्लेख मिलता है । **पदकूसलमानव जातक** (432) में भी इसी प्रकार के एक अलौकिक यन्त्र का उल्लेख हुआ है, जिसकी सहायता से बारह-वर्ष पूर्व हुई चोरी के अपराधी के पदचिन्हों का ज्ञान को सकता था । **अम्ब जातक** (474) में बिना ऋतु फल उपजाने के यन्त्र का उल्लेख हुआ है जो शर्त का पालन न होने के कारण व्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार की घटनाओं के ये कुछ उदाहरण मात्र हैं । संभवतः कोई भी ऐसी कथा नहीं होगी जिसमें किसी न किसी प्रकार की अलौकिक-घटना अथवा चमत्कारी क्रिया का सन्निवेश न हो ।

3.11 पूर्व सूचना या भविष्यवाणी

ज्योतिषियों, ऋषियों, पशुओं अथवा अन्य लौकिक या अलौकिक व्यक्तियों द्वारा भविष्य-कथन एक सामान्य रूढ़ि है । प्रायः हर कथा के नायक के जन्म पर ज्योतिषी उसके जन्म-सम्बन्धी भविष्यवाणी पहले ही कर देते हैं । यूरोपीय साहित्य में भी इस रूढ़ि का कुछ प्रयोग हुआ है, पर मूलतः यह भारतीय रूढ़ि ही प्रतीत होती है ।

घटजातक (454) में ज्योतिषियों द्वारा भविष्यवाणी होती है कि उत्तरापथ के राजा कंस तथा उपकंस की बहिन देवगब्भा के गर्भ से उत्पन्न शिशु उनके राज्य-शासन के नाश का कारण बनेगा। श्रीकृष्ण-जन्म संबंधी कथाचक्र ही इस जातक का आधार है।

कलिंग जातक (479) में ज्योतिषी भविष्यवाणी करते हैं कि कलिंगदेश के राजा कलिंग का बड़ा पुत्र महाकलिंग राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्य करेगा जबकि छोटा पुत्र चुल्लकलिंग संन्यासी हो जायेगा। परन्तु बाद में इसी का पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा। **सत्तुभस्त जातक** (402) में राक्षस द्वारा ब्राह्मण को आगामी भयों की सूचना दी जाती है।

3.12 तपस्या द्वारा सन्तानोत्पत्ति

यह भी विश्व-साहित्य की प्रसिद्ध रूढ़ि है। भारतीय साहित्य में भी इसका बहुत प्रयोग हुआ है। रामायण में दशरथ, पुत्रों के लिए यज्ञ करते हैं। महाभारत में सन्तानोत्पत्ति के लिए यज्ञ, वरदान तथा नियोग का बहुत वर्णन मिलता है। पुराणों में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं, जहां वरदान, यज्ञ, तपस्या द्वारा सन्तान-प्राप्ति होती है। हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों में भी इस रूढ़ि का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। **सुरुचि जातक** (489) में तपस्या तथा सक्क (इन्द्र) के वरदान से पुत्र उत्पन्न होता है। **कुसजातक** (531) में नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति का वर्णन हुआ है।

3.13 सन्तान परिवर्तन

घटजातक (454) में पुत्रों व पुत्रियों के बदले जाने का वर्णन मिलता है। यशोदा की पुत्री तथा देवकी के पुत्र का परिवर्तन तो प्रायः ऐतिहासिक स्वीकार कर लिया गया है।

उपर्युक्त वर्णन उसी कृष्ण-कथाचक्र का लोकप्रिय रूप है।

3.14 सन्तान-विवाह अनुबन्ध

सुरुचि जातक में जन्म के पूर्व ही मित्रों द्वारा दोनों की अनागत सन्तान में बालक तथा बालिका होने की अवस्था में उनके विवाह का अनुबंध होता है।

3.15 इन्द्रासन–दोलन

तपस्या द्वारा इन्द्रासन का दोलायमान होना अत्यन्त प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि रही है। **महासुक जातक** (429) में शुक की तपस्या के परिणाम स्वरूप इन्द्रासन हिल उठता है।

3. 16 जीवन संचार

अमृत सिंचन द्वारा मृतक के पुनर्जीवित होने अथवा सूखे वृक्ष में पुनः हरियाली आने की रूढ़ि भी बहुत लोकप्रिय रही है।

उपर्युक्त जातक में ही इन्द्र द्वारा परीक्षा में सफल शुक को वरदान दिया जाता है और अमृत-सिंचन से ठूंठ वृक्ष हराभरा हो जाता है।

3.17 नरबलि

नरबलि सम्बन्धी संकेत भी कथा-साहित्य में मिलते हैं। विक्रम की वैताल कथायें तो

इसी रूढ़ि के गिर्द घूमती हैं। **तक्कारिय जातक** (481) में ब्राह्मण अपनी पत्नी के यार को समाप्त करने के लिए उसे राजकार्य के निमित्त बलि देने की योजना बनाता है।

3.18 प्रिय वस्तुओं का दान

सिवि जातक (499) में राजा शिवि ब्राह्मण को आँखों का दान करता है। **उन्मादन्ती जातक** में सुन्दरी कन्या का मन्त्री से विवाह होता है। राजा के मुग्ध होने पर मन्त्री उसे राजा को भेंट में देना चाहता है। मध्यकालीन साहित्य में प्रेमिका-प्राप्ति प्रेम की अपेक्षा शौर्य-तुष्टि का अधिक प्रबल कारण रही है।[13] सामन्त केवल इच्छित कन्या ही नहीं, किसी गढ़, सुन्दर वस्तु अथवा घोड़े-हाथी तक के लिए जान की बाज़ी लगाते रहे हैं। यही कारण है कि वे संघर्ष के पश्चात प्राप्त प्रेमिका को भी उसी शौर्य व सामन्ती शान से दान में देने को उद्यत हो जाते थे। हिन्दी प्रेमाख्यान पुहुपावती में भीषण संघर्षों के उपरान्त प्राप्त प्रेयसी को, नायक मांगने-मात्र पर एक याचक को देने को उद्यत हो जाता है।[14]

3. 19 समस्या-समाधान : महाउम्मग्ग जातक (545) में महोसध महान तथा उन्नीस समस्याओं का वर्णन मिलता है। ये समस्यायें उसी प्रकार की हैं, जैसे महाभारत में जल पीने के पूर्व यक्ष पाण्डव-बन्धुओं के सामने रखता है, अथवा विक्रम की कथाओं में बेताल राजा विक्रम के सामने उपस्थित करता है। आख्यान साहित्य की यह भी लोकप्रिय रूढ़ि रही है।

3. 20 स्त्री का द्वन्द्व : स्त्री के सामने इस प्रकार की समस्या का आना कि वह अपने पति, पुत्र तथा भाई में से किसी एक की जान बचा सके, और उसका भाई को चुनना भी जातकों में आई महत्वपूर्ण रूढ़ि है। यूरोपीय साहित्य में हिरोडोटस ने भी इसी स्थिति का आयोजन किया है।[15] पंजाबी किस्सा **मिर्जा-साहिबां** में साहिबां द्वारा अपने सोए हुए प्रेमी मिर्जे के धनुष-बाण छिपा देना जिससे पीछा करते हुए उसके भाई को वह मार न डाले, संभवतः उपर्युक्त रूढ़ि की कुछ झलक अवश्य देता है। निहत्था मिर्जा साहिबां के भाई-बन्धुओं द्वारा मार डाला जाता है।

4. अवदान

4.1 महत-कार्य के आख्यान : अवदान, पाली अपदान अथवा किसी महान कार्य के आख्यान, जातकों से बहुत मिलते-जुलते हैं। अवदान कथा-नायकों के एक अथवा अनेक जन्मों की कथाओं का वर्णन करते हैं, जिनमें उनके कर्मफल का प्रभाव लक्षित होता है। इनमें पुरुषों तथा स्त्रियों के पवित्र तथा धार्मिक कृत्यों का उल्लेख हुआ है। जातक बुद्ध के पूर्वजन्म की ही

---

13. **आन्द्रे मोराय, सैवन पैसिज आफ लव**, (मूल फ्रांसी), हाकोन एम० शिवेलियर (अनुवादक), 1960, पृष्ठ 10
14. **भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा** – परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 124, दिल्ली, 1956
15. स्त्री जो अपने भाई, पुत्र तथा पति में से केवल एक की जान बचा सकती थी, तथा जो अपने भाई को चुनती है।... यूनानी साहित्य में हिरोडोटस ऐसा ही वृत्तान्त देता है... रामायण में भी यह विचार प्राप्य है।
एम० विंटरनित्स, **ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर**, भाग-2, पृष्ठ 135

कथायें हैं जबकि अवदान में प्रायः अर्हत को आधार बनाया गया है । [16] कई बार जातकों की कथाओं को मूलरूप में अवदानों में ले लिया गया है । कुछ कथायें जातकों के ही समान भूत, वर्तमान अथवा भविष्य की घटनाओं से युक्त हैं । नैतिक उपदेशों , चमत्कारी घटनाओं तथा अतिशयोक्तियों का बाहुल्य है ।[17]

4.2 **अवदान शतक :** यह अवदानों में प्राचीनतम संग्रह है । दस दशकों में इसे विभाजित किया गया है । उपदेशात्मकता साहित्यिकता पर छाई रहती है । रचना अथवा संग्रहकाल 100 ईस्वी के बाद का है क्योंकि इनमें दीनार (यूनानी दीनारियस) प्रचलित सिक्के के रूप में मिलता है । परन्तु तीसरी शताब्दी ईस्वी से पहले ही निश्चित रूप से संग्रह बन चुका था क्योंकि इसी काल का इसका चीनी अनुवाद प्राप्त होता है ।

4.3 **दिव्यावदान :** प्रायः प्रथम शताब्दी ईस्वी के हैं । इनमें कुछ बहुत रोचक आख्यान वर्णित हैं, जिनमें अशोक सम्बन्धी निजंधरी कथा-चक्र प्रमुख है । अवदान कथाओं में साहित्यिक विशेषता की कमी है ।

4.4 **महावस्तु-ललितविस्तार :** प्रथम शताब्दी ईस्वी की रचना **महावस्तु** का विषय विनय है । बुद्ध की जीवन-कथा के अतिरिक्त जातक व अवदान की कथायें भी इसमें संगृहीत हैं । **ललित विस्तार** भी इसी कोटि की रचना है । परन्तु इसका साहित्यिक मूल्य भी कम ही है । जातकों की रोचकता, बहुमुखता तथा लोक-प्रियता के सम्मुख ये रचनायें काफी फीकी रही हैं ।

---

16. अवदान में भी जातक के समान भूतकाल की तथा वर्तमान काल की दोनों प्रकार की कथाएं होती हैं । दोनों में मूल अन्तर यह है कि जातक सदा बुद्ध के अतीत जीवन की कथा कहता है जबकि अवदान सदा तो नहीं पर मुख्यतः एक अर्हत के जीवन पर आधारित होता है ।
एक एन० उपाध्ये (सं०) **बृहत्कथाकोश** (भूमिका), पृष्ठ 17

17. कई बार जातक की ही तरह कथाएं बुद्ध द्वारा स्वयं कथित आख्यान के रूप में रची गई हैं, जिनमें भूत, वर्तमान या भविष्य संबंधी घटनाएं, उपदेश, चमत्कार तथा अतिशयोक्तियां मानों सहज जीवन तथ्यों के रूप में प्रस्तुत हुई हैं ।

एस० एन० दासगुप्ता, **ए हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिट्रेचर,** पृष्ठ 81

अध्याय 7

भारतीय आख्यान परम्परा

(वैदिक, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध–जैन साहित्य के सन्दर्भ में)

भारतीय आख्यान साहित्य वह नदी है जो एक छोटे से पर्वतीय स्रोत से क्रमशः एक वृहदाकार नदी का रूप धारण कर लेती है। स्थान काल व परिस्थिति–भेद के कारण स्वरूप, आकार आदि में आए भेद के बावजूद भी इसकी मूल आत्मा व चेतना का सम्बन्ध आदिकाल से परवर्तीकालों में सतत् अक्षुण्ण बना रहता है।

वैदिक आख्यान

ऋग्वेद में सम्वाद रूप में निजंधरी, पौराणिक अथवा कथात्मक इतिवृत्तों को आख्यान, सम्वाद अथवा इतिहास–सूक्त नाम दिया गया है। इन्हें स्तुति व यज्ञ गानों में असावधानी से मिल गए प्राचीनतम जनसाहित्य के अवशेष माना गया है।[1] इन्हें हम भारतीय आख्यान साहित्य का बीज कह सकते हैं। उर्वशी–पुरुरवस की कथा सम्भवतः प्रथम ज्ञात भारोपीय तथा संभवतः विश्व का प्राचीनतम आख्यान है।[2] इसमें मानव पुरुरवस तथा देव योनि की अप्सरा उर्वशी के प्रेम, मिलन तथा विरह के संकेत मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस आख्यान को पर्याप्त विस्तार मिलता है।[3] इसके अनन्तर घटा–बढ़ी के साथ यह आख्यान कृष्णयजुर्वेद, महाभारत (वन पर्व ––46 अध्याय), विष्णुपुराण (अंश 8, अध्याय 6), वायुपुराण (अध्याय 91), ब्रह्मपुराण (अध्याय 10, 101 व 151), विष्णु धर्मोत्तर (प्रथम खण्ड 130–6), हरिवंशपुराण, श्रीमद्भागवत, कथासरित्सागर तथा बृहत्कथा मंजरी में वर्णित हुआ है। महाकवि कालिदास के अमरनाटक 'विक्रमोर्वशीय' का विषय बनने पर यह आख्यान अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच जाता है। ऋग्वेद के सरल प्रेमाख्यान को परवर्तीकाल में विशिष्ट यज्ञादि की प्रतिष्ठा का साधन बनाने का प्रयास हुआ है। ऋग्वेद में प्राप्त आख्यान लघु अंशों में होने पर भी विशुद्ध ऐहलौकिक यथार्थता तथा सजीव तत्वों से पूर्ण हैं। संवाद आख्यान के समुचित अध्ययन से यह प्रणयासक्त पुरूरवा को उसकी पूर्व–प्रेमिका द्वारा त्यागे जाने की सशक्त ऐहलौकिक कथा सिद्ध होती है। ऋग्वेद में दूसरा महत्वपूर्ण आख्यान यम–यमी से सम्बंधित है। इसका सुरक्षित रहना बड़ी विचित्र घटना है। अविविक्त सम्भोगकाल का यह अवशेष जिसमें कामासक्त बहन द्वारा भाई से सहज यौन–सम्पर्क की कामना की गई है,

1. एम० विंटरनित्स, सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर, पृष्ठ 11
2. एन०एम० पैंजर, ओशन आफ स्टोरीज, खण्ड 2, परिशिष्ट 1, पृष्ठ 245
3. शतपथ ब्राह्मण (11 काण्ड, 5 अध्याय, प्रथम ब्राह्मण चतुर्थ भाग) पृष्ठ 2575–83

सामाजिक तथा नृतत्वशास्त्रीय विकासक्रम की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । यमी का आग्रह आदिम–युगीन निर्द्वन्द्व यौनाकर्षण तथा सन्तति प्रसार की भावना का द्योतक है जबकि यम बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार इसे निषिद्ध सम्बन्ध (इन्सेस्ट) तथा व्यभिचार मानता है ।[4] ऋग्वेद (मण्डल 5, सूक्त 61) में श्यावाश्व की कथा कही गई है । ऋषि अर्चनाना का पुत्र श्यावाश्व राजा रथवीति की पुत्री मनोरमा की प्राप्ति के लिए तपस्या करता है और ऋषित्व–प्राप्ति के अनन्तर उसे प्राप्त करने में सफल होता है । इस आख्यान में भावुक प्रणय की अपेक्षा पितृसत्तात्मक सामंती वर्ग की कन्या–प्राप्ति की रूढ़ि अधिक प्रबल है । इसी प्रकार शुनःशेप की कथा में प्राचीन मानव के क्रिया–कलाप तथा उसमें नरबलि का संकेत मिलता है ।[5] इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में वैयक्तिक देवताओं, सामूहिक घटनाओं तथा दान–स्तुतियों से सम्बद्ध आख्यान भी उपलब्ध होते हैं । उनमें अगस्त्य व लोपामुद्रा (1–176), गृत्समद (2–12), वशिष्ठ और विश्वामित्र (3–53, 7–33), सोम का अवतरण (3–83), वृहस्पति का जन्म (6–71), राजा सुदास (7–18), नहुष, (7–65), अपाला (8–61), नाभानेदिष्ट (10–61–62), वृषाकपि (10–86), सरमा तथा पणि (10–108), देवापि तथा शान्तनु (10–68), नचिकेता (10–135) इत्यादि प्रमुख हैं । हमारे विवेचन की दृष्टि से इन आख्यानों का महत्व इस दृष्टि से है कि भले ही परवर्ती विवेचन एवं मूल्यांकन में इन आख्यानों में विशिष्ट मतवादी, धार्मिक, उद्देश्यपरक तत्व प्रतिपादित करने के सतत् प्रयास हुए तथा उसी रूप में इन्हें विशुद्ध अभिजात साहित्य में सम्मिलित किया गया फिर भी अपने मूल, ऐहलौकिक, निजंधरी तथा लोककथा के तत्वों को ये रचनाएं सुरक्षित रख सकी ।

ब्राह्मण

ब्राह्मण तथा आरण्यक मूलतः कर्मकाण्ड से सम्बद्ध हैं परन्तु कर्मकाण्ड की विधियों के समाधान तथा यज्ञों में मन्त्रों के विनियोग के पोषण एवं स्पष्टीकरण के लिए इनमें छोटी–छोटी कथाएं भी संगृहीत हैं ।[6] भारतीय आख्यान साहित्य, नीतिकथाओं, वीरगाथाओं तथा महाकाव्यों के बीज ब्राह्मण ग्रन्थों के उपदेशात्मक चरितों एवं आख्यानों में प्राप्त होते हैं । शतपथ ब्राह्मण (11,6,1) में उर्वशी तथा पुरुरवस के मूल वैदिक आख्यान को विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है ।[7] यज्ञ के अवसर पर होतृ–पुरोहित द्वारा सुनाई जाने वाली कथाओं के वर्ग का एक संग्रह सुपर्णाख्यान है, जिसमें सर्पों की माता कद्रू व गरुड़ की माता विनता का आख्यान वर्णित है । यास्क (2,3,12 में) ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शान्तनु आदि की कथाएं कहते हैं । यथा समय, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त देवताओं, राक्षसों, नागों, ऋषियों तथा राजाओं के आख्यानों में वीरों की स्तुतियां जुड़ती गईं जिन्हें गाथा–नाराशंसी कहा जाता है । इसी परम्परा को रामायण–महाभारत का आधार कहा जाता है । इन विशुद्ध हेतुवादी

---

4. **ऋग्वेद** (मण्डल 10, सूक्त 10) पृष्ठ 1022–23
5. एम–विंटरनित्स, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 12–13
6. **हिन्दी साहित्य कोश**–भाग 1, संस्करण 2, पृष्ठ 865
7. **शतपथ ब्राह्मण** (सायण भाष्य) पृष्ठ 2575–2583

अभिजात आख्यानों में भी मानवीय पक्ष तथा लोक तत्व की कमी नहीं है ।[8] इसीलिए इन्हें कर्मकाण्ड के मरुथल में स्थित निजंधरी तथा लोककथाओं के शाद्वल की संज्ञा दी जाती है ।[9]

रामायण, महाभारत तथा पुराण

रामायण का रचना–काल 500 ई० पू० तक बुद्ध के जन्म से पहले माना जाता है ।[10] अपने वर्तमान रूप में महाभारत अवश्य परवर्तीकाल की रचना है, परन्तु जय नामक उसका मूल रूप रामायण से किसी प्रकार अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता । इन महान ग्रन्थों की रचना कोई आकस्मिक घटना नहीं कही जा सकती । ऐसी मान्यता है कि एक ही प्रकार के विषय से सम्बंधित गाथाओं के कथाचक्रों से ही रामायण, महाभारत का विकास हुआ ।[11] वाल्मीकि से शताब्दियों पूर्व राम तथा रावण कथा के आधार पर आख्यानों तथा कथा–चक्रों का प्रचलन रहा होगा जो प्राप्त रामायण के आधार बने । रामायण में राम–रावण सम्बन्धी मूल कथा के साथ–साथ कुशीलवों (रामायण 114) द्वारा जनरुचि के अनुरूप बाद में जोड़े गए निजंधरी तथा पौराणिक कथा अंश मिलते हैं जो अपनी रोचकता और लोकधर्मी परम्परा के कारण परवर्ती कथात्मक साहित्य के लिए पर्याप्त प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए । रामकथा ने परवर्ती बौद्ध तथा जैन साहित्य को बहुत प्रभावित किया । राम की बोधिसत्व के रूप में कल्पना हुई तथा जैन साहित्य में तो ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी (पउमसिरिचरिउ–विमलसूरि) से सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक रामकथा को धार्मिक तथा लोकरंजक साहित्य में प्रयुक्त किया गया । परवर्ती संस्कृत काव्य, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को सशक्त कथानक एवं जीवन–दर्शन प्रदान करने के साथ–साथ विदेशों में भी रामकथा ने अत्यधिक प्रचार प्राप्त किया । महाभारत की रचना भी कुरु–कथाचक्र तथा महाभारत युद्ध के आधार पर हुई मानी जाती है । मूलतः लौकिक कथानक को सब प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक, उपदेशात्मक तथा नीति, ज्ञान, आचार सम्बन्धी अंशों से भर दिया गया । महाभारत का चतुर्थांश आख्यानों पर आधारित है ।[12] सुप्रसिद्ध आख्यानों के अतिरिक्त धार्मिक, उपदेशात्मक, सामाजिक, राजनैतिक, आचार एवं नीति से सम्बद्ध पशुकथाओं, दृष्टांतों तथा घटनाओं की भी महाभारत में कमी नहीं है । महाभारत को वस्तुतः सम्पूर्ण परवर्ती ऐतिहासिक, पौराणिक, आख्यानक तथा काव्य–साहित्य के लिए विश्वकोष के रूप में प्रयुक्त किया गया है । परवर्ती बौद्ध–जैन चिन्तनधारा के सूत्र तथा आज तक के भारतीय समाज की चिन्तनधारा, जीवन–प्रक्रिया तथा विश्वासों के सूत्र महाभारत में मिलने आरम्भ हो जाते हैं । परवर्ती भारतीय आख्यान साहित्य को कथासूत्र, विचार परम्परा तथा कथानक–रूढ़ियां प्रदान करने की दृष्टि से महाभारत से अधिक शक्तिशाली तथा मान्य अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं होती । मूलतः महाभारत तथा सामान्यतः प्रचलित निजंधरी तथा पौराणिक आख्यानों के आधार पर परवर्ती पुराणों का विकास हुआ । पुराणों को वस्तुतः प्राचीन भारत का अति समृद्ध सांस्कृतिक,

8. **बृहत्कथा कोश** (अंग्रेजी), भूमिका, पृष्ठ 8
9. एम० विंटरनित्स, **ए हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर**, खण्ड 1, पृष्ठ 208
10. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** – बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 45
11. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**
12. **महाभारत**, आदिपर्व 1, 102

सामाजिक तथा पौराणिक इतिहास कहा जा सकता है । मूलतः सब पुराण आख्यानों पर आधारित हैं परन्तु प्राचीन सामग्री के प्रयोग तथा परवर्ती साहित्य पर उनके प्रभाव की दृष्टि से उर्वशी–पुरुरवस, शकुन्तला, उषानिरुद्ध, रुक्मिणीहरण, प्रद्युम्न–मायावती तथा सुभद्राहरण सम्बन्धी आख्यान प्रमुख हैं । पुराणों में वर्णित असंख्य कथाओं ने जहां बाद के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को कथातत्व की दृष्टि से प्रचुर सामग्री प्रदान की वहां ऐसी असंख्य कथानक–रूढ़ियों के प्रारम्भ, प्रचार तथा प्रसार का कारण भी बनी जो बाद में इतिवृत्तात्मक, मनोरंजनात्मक तथा धार्मिक साहित्य का विशिष्ट आधार बनी ।

बौद्ध–जैन आख्यान

सामान्य विकास के अनुसार वेदों से ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अनके आधार पर उपनिषदों और पुराणों की रचना का सिद्धांत विद्वानों में मान्य रहा है । उनके अनुसार उपनिषदों के कुछ बिखरे सिद्धान्तों को समेट कर भ्रष्ट एवं विकृत रूप में सांख्य, जैन, बौद्ध एवं आजीवक सिद्धान्तों का प्रणयन एवं संकलन हुआ । ब्राह्मण कर्मकाण्ड तथा पुरोहित वर्ग की सामन्ती प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध, जैन धर्मों की बाह्य रूप रचना को स्वीकार किया जा सकता है, पर यह विचार अब निराधार माना जाता है कि इनकी मूलवर्ती विचारधारा भी उसी ब्राह्मण धर्म के अंशों में से ही निःसृत होकर पुष्पित–पल्लवित हुई ।[13] विद्वानों के मतानुसार गंगा–यमुना के तटवर्ती प्रदेशों में आर्यों के आगमन के समय अति विकसित, विचारशील तथा समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है ।[14] इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं ।[15] जैकोबी इसे लोकधर्म नाम देते हैं, जबकि लेमन्न के अनुसार इसके उत्थापक परिव्राजक थे । गार्वे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं । राइस डेविस इसे सुसंयोजित, तर्कपूर्ण घुमन्तुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं । विंटरनित्स ने इसे संन्यास तथा तप से सम्बंधित धर्म एवं साहित्य का नाम दिया है । डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये इसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसे मागधी धर्म कहते हैं ।[16]

उपर्युक्त सब विचारों को संयोजित करने पर एक विशेष भू–भाग में एक विशेष प्रकार की संस्कृति–सभ्यता की परिकल्पना में अवश्य सहायता मिलती है । लेमन्न ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भारत में बहुत पहले अब्राह्मण, परिव्राजक, संन्यासियों का साहित्य विद्यमान रहा है जिसके अंश अब भी विभिन्न प्राप्त साहित्य–अंशों में खोजे जा सकते हैं । विंटरनित्स भी इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि लेमन्न की धारणा से भी बहुत अधिक मात्रा में वह श्रामणिक अथवा परिव्राजक साहित्य महाभारत के उपदेशात्मक अंशों, उपनिषदों तथा पुराणों में प्राप्त होता है तथा उसके अंश बुद्धपूर्व के तथा बुद्धकालीन साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं ।[17]

---

13. (i) **बृहत्कथा कोश** (अंग्रेजी), **पूर्वोक्त**, भूमिका, पृष्ठ 11–12
(ii) एम–विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 15–22

14. **वही०**, (I) पृष्ठ 12, तथा (II) पृष्ठ 15

15. **प्रवचनसार** (अंग्रेजी), प्राक्कथन, पृष्ठ 12–13

16. **बृहत्कथाकोश** (अंग्रेजी), पृष्ठ 12

17. एम० विंटरनित्स, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 21

ब्राह्मण एवं मागधी धर्म की भिन्नताएं

ब्राह्मण धर्म–दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक नीति–आचार है। निजंधरी आख्यानों के नायक देवताओं के सहचर ऋषि हैं। वेद–ज्ञान, देवताओं की स्तुति, अर्चना तथा यज्ञ एवं वर्णव्यवस्था ब्राह्मण धर्म के मूलाधार हैं। तपस्या स्वीकार्य होने पर भी उसका उद्देश्य अतिरिक्त शक्ति प्राप्त करना है जिससे इन्द्रासन भी डोल उठे। ऋषियों के शाप, वरदान व अलौकिक कार्य करने की शक्ति प्राप्त करना इसी के अंग हैं। दान का तात्पर्य ब्राह्मणों को दान देना है। संन्यास गृहस्थ जीवन के पूर्ण उपभोग के अनन्तर चतुर्थ चरण में अतिरिक्त शक्ति प्राप्ति के लिए किया गया गृह–त्याग मात्र है।[18] इसके विपरीत परिव्राजक दर्शन में संसार दुःखों का घर माना जाता है तथा तृष्णा इसका मूल कारण। इनके आख्यान वेदों पर आश्रित न होकर लोक कथाओं से सामग्री ग्रहण करते हैं। पात्र संसार–त्यागी, योगी, संन्यासी हैं। संन्यास का तात्पर्य संसार–त्याग, आत्मोन्नत्ति तथा अन्त में निर्वाण–प्राप्ति है। आत्मनिरोध व आत्मत्याग ही तपस्या है। संन्यासी व तपस्वी प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव से पूर्ण है। न वह किसी से भयभीत है, न शक्ति पाकर किसी को भयभीत करना चाहता है। यही भाव अहिंसा का आधार बनता है। जन्मान्तरवाद एवं कर्मसिद्धान्त समग्र परवर्ती भारतीय जीवनदर्शन को इस विचारधारा की प्रमुख देन है।[19] संन्यासी तथा तपस्वी को योगिन, अर्हत, कैवलि, बुद्ध अथवा जैन जो भी कहा जाए और उसका अन्तिम लक्ष्य निर्वाण, ब्रह्म, कैवल्य अथवा विष्णु–पद प्राप्ति जो भी माना जाए, इस सब के मूल में परिव्राजक धर्म का मोक्ष सिद्धान्त ही कार्यरत प्रतीत होता है।[20] ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्त कबीलाई मानव के चिन्तन तथा सामाजिक जीवन के स्वाभाविक विकास को प्रकट करते हैं। वैदिक काल की प्राक्–समाजवादी, पशुपालक, घुमन्तु तथा आक्रामक सभ्यता के लिए उसका सक्रिय तथा कतिपय भोगवादी जीवनदर्शन नितान्त स्वाभाविक था। इसके विपरीत गंगा–यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि अपने भूगोल से विच्छिन्न आर्य भारतीय मध्यदेश के शान्त वातावरण में तत्कालीन सभ्यताओं को पूरी तरह आक्रान्त एवं अन्तर्भुक्त करने पर भी उनके भूगोल तथा इतिहास के दोहरे प्रभाव से बच नहीं सके। यह परिकल्पना की जाती है कि ब्राह्मण काल के अन्त तक ये दोनों धार्मिक-वैचारिक सरणियां परस्पर मिलनी आरम्भ हो चुकी थीं और उपनिषदों में इस सम्मेलन के प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं।

आर्य परम्परा पर लौकिक प्रभाव

यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि आख्यानों का मुख्य उत्स लोक परम्परा है। प्रस्तुत विवेचन की दृष्टि से आभिजात्य परम्परा पर लौकिक प्रभाव का हल्का दिग्दर्शन हमारे परवर्ती विवेचन के लिए उपादेय होगा। लोकधर्मों के प्रभावस्वरूप हम देखते हैं कि उपनिषदों में

18. एम० विंटरनित्स, पूर्वोक्त, पृष्ठ 23
19. बृहत्कथाकोश, (अंग्रेजी) पृष्ठ 12
20. एम० विंटरनित्स, सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर, पृष्ठ 24

याज्ञवल्क्य आदि प्रथम बार आत्मविद्या का प्रचार करते हैं । वेदों में जन्मान्तरवाद तथा कर्मसिद्धान्त के दर्शन नहीं होते । प्रारम्भिक उपनिषदों में भी इनकी कमी है । परन्तु छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक उपनिषदों में अवश्य कर्म सिद्धान्त मिलता है । यहां भी ब्राह्मण परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल राजा द्वारा यह सिद्धान्त ब्राह्मण को समझाया जाता है । मैत्रायण्य उपनिषद में तो मागधी धर्म के आधारभूत निराशावादी सिद्धान्तों की भरमार है । पिता–पुत्र सम्वाद, जो सर्वप्रथम महाभारत के सभापर्व में तथा बाद में मार्कण्डेय पुराण, बौद्ध जातक तथा जैन उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होता है, ब्राह्मण आश्रमवादी तथा मागधी त्यागवादी विचारधारा के बुद्धपूर्व संघर्ष के सजीव उदाहरण हैं । महाभारत में त्याग तथा संन्यास का उपदेश देने वाले प्रायः सभी अब्राह्मण हैं । विदुर हितवाक्य [21] तथा स्त्रीपर्व के धृतराष्ट्र शोकपनोदन [22] का कुएं में लटके व्यक्ति का आख्यान इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । वन–पर्व (207–216) में कौशिक ब्राह्मण को बधिक धर्म–व्याध वास्तविक ब्राह्मणत्व का उपदेश देता है । शान्तिपर्व (251–10) में भी वास्तविक ब्राह्मण वेदाध्यायी तथा यज्ञकर्त्ता न होकर सर्वस्व–त्यागी तथा प्राणीमात्र के प्रति प्रेम भाव रखने वाला बताया गया है । शान्तिपर्व का तुलाधारी तथा जाजली सम्वाद वैराग्यमयी साहित्य का सुन्दर उदाहरण है । इसमें भी निम्न वर्ग का तुलाधार जाजली नामक ब्राह्मण को मैत्री तथा अहिंसा का उपदेश देता है । अनुगीता (महाभारत 14,28,6) में यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण को बकरे की बलि से रोकने वाले तथा शास्त्रार्थ में उसे हराने वाले यति का उल्लेख मिलता है । अनुगीता में ही (14,50–2) अहिंसा को सर्वोत्तम धर्म तथा ज्ञान को सर्वोत्तम हित माना गया है । पशुबलि के प्रस्थापकों को नास्तिकों के समान नरकगामी कहा गया है । जनक (14–32) बुद्ध के समान ही ममत्व का विरोध करते हैं । शान्तिपर्व में विदेहराज की उक्ति त्यागवादी विचार–धारा में विशेष स्थान की अधिकारिणी है ।[23] अनुगीता (14,51,29) में दो अक्षर 'मम' को मृत्यु तथा तीन अक्षर 'नमम' का परब्रह्म कहा गया है । महाभारत व पुराणों में प्राप्त ययाति की प्रसिद्ध कथा भी त्याग तथा संन्यास मत की ही स्थापना करती है । महाभारत में शान्ति–पर्व तथा अन्य भागों के अधिकांश उपदेशात्मक अंश पूर्णतया पाली त्रिपिटक के समान हैं तथा कुछ अंश तो मूलरूप में ही बौद्ध ग्रन्थों में सम्मिलित कर लिए गए हैं । महाभारत में तथा मुख्यतः शान्तिपर्व के मोक्षधर्म में ऐसी अनेक निजंधरी कथाएं तथा आचार सम्बन्धी उपदेश प्राप्त होते हैं, जो मूलतः बौद्ध अथवा जैन प्रतीत होते हैं । शान्तिपर्व (143–149) की पैंडुकी की कथा, मुद्गल आख्यान (3,260) तथा राजा शिवि की कथा (3–100, 197, 13–32) इसी वर्ग की कथायें हैं । मार्कण्डेय पुराण की राजा विपश्चित की कथा भी इसी कोटि में आती है । संन्यास तथा त्याग सम्बन्धी इन विचार-अंशों का सम्बन्ध योग की एक प्राचीन प्रणाली से था जो आचार–शास्त्र की एक विधि एवं मोक्ष प्राप्ति का सक्रिय सिद्धान्त थी । इन्हें सांख्य तथा बौद्ध-जैन उपदेशों के साथ समान सरलता से संयोजित किया जा सकता है । इस विवेचन से ब्राह्मण विचारधारा के समानान्तर एक अन्य सशक्त चिन्तन-परम्परा

---

21. महाभारत, विदुरहितवाक्य, (5–32, 80)

22. महाभारत, स्त्री पर्व (2, 7)

23. महाभारत, शान्ति पर्व (12, 178)

का महत्वपूर्ण संकेत मिलता है, जो परवर्तीकाल के बौद्ध–जैन पुनर्जागरण का आधार बनी। भारतीय आख्यान परम्परा की दृष्टि से इस चिन्तन परम्परा, जीवन–दर्शन एवं साहित्य का अत्यधिक महत्व है क्योंकि लोकाधारित आख्यान परम्परा इसी से अपने बीज प्राप्त करती है। इसमें सन्देह नहीं कि इन स्वतन्त्र परम्पराओं को बाद में परम्परावादी ब्राह्मण धर्म से समन्वित करने के प्रयास हुए, जिससे एक संश्लिष्ट जीवन–दृष्टि के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

बौद्ध आख्यान [24]

बौद्ध साहित्य वार्तालाप, उक्ति, कथा तथा संघ नियमों के संग्रहों पर आधारित है। त्रिपिटक में बुद्ध के जीवन काल से सम्बद्ध आख्यान है। जीवक सम्बन्धी कथा में अवांछित शिशु को नदी में बहाने की विश्वप्रसिद्ध रूढ़ि का सम्भवतः प्राचीनतम लिखित प्रमाण मिलता है। सुत्तपिटक का खुद्दकनिकाय आख्यान साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मज्झमनिकाय में अंगुलिमाल डाकू (86), रट्ठपाल तथा राजा मखदेव (83) के रोचक आख्यान हैं। संयुत्त निकाय मार (कामदेव) के बौद्ध प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी में महाभारत के युधिष्ठिर के समान बोधिसत्व अपने चतुर उत्तरों से यक्ष को संतुष्ट करते हैं (10–13)। अंगुतर निकाय में स्त्रियों सम्बन्धी बहुत से सुत्त हैं। इन्द्र की अप्सराओं पर मुग्ध बुद्ध के सौतेले भाई नन्द का आख्यान मिलता है। नालकसुत्त संवाद (3,2) बुद्ध-जन्म की घटनाओं से सम्बंधित है। पब्बजासुत्त (3,1) गौतम के गृहत्याग से सम्बद्ध है। पधानसुत में गौतम द्वारा मार पराजित होता है। पेतवत्थु में राक्षसों-पिशाचों सम्बन्धी लोकप्रिय मनोरंजक आख्यान हैं। विमानवत्थु में स्वर्गीय प्रासादों की कथायें वर्णित हैं। थेरगाथा तथा थेरीगाथा स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

जातक

ये बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के संग्रह हैं। बोधिसत्व कहीं मुख्य पात्र हैं तो कहीं सहायक, गौणपात्र या दर्शक मात्र हैं। इन्हें बुद्ध की वास्तविक पूर्वजन्म कथाएं मानना निरर्थक है। पूर्वजन्म व कर्मफल–मान्यता के अनुसार किसी भी लोकप्रिय कथा को जातकों में बदल लिया गया है।[25] इनका संग्रहकाल पांचवी शताब्दी ईसा-पूर्व से दूसरी शताब्दी ईस्वी तक माना जाता है[26] तथा इस दृष्टि से ये परवर्ती संस्कृत कथाओं से पहले के हैं। जातकों में नीतिशिक्षा से पूर्ण पशुकथा, परिकथा, दृष्टान्त, मनोरंजन व हास्य की लघुकथा, आख्यायिका एवं वृहदाकार रोमांचक–साहसिक आख्यान, उपदेशात्मक कथा तथा पवित्र निंजंधरी–कथा के वर्ग के आख्यान मिलते हैं। ये वस्तुतः बुद्धपूर्व काल की लोकप्रिय कथाओं के सग्रंह हैं, जिन्हें बौद्ध संस्कार प्राप्त हो गया है। ब्राह्मण विरोधी प्रतिक्रिया में बुद्ध के प्रारम्भिक शिष्यों में उच्च वर्ग के स्थान पर जनता के मध्यम एवं निम्नवर्ग के व्यक्ति ही अधिक थे। वे लोक में प्रचलित तत्कालीन समग्र कथा–भण्डार से परिचित थे। विशिष्ट परिस्थिति में मतवादी उद्देश्य से इन कथाओं का संस्कार एवं उपयोग इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भारत को कथा साहित्य का

24. प्राकृत साहित्य का इतिहास तथा आर्यशूरकृतै जातकमाला
25. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 7, पृष्ठ 491
26. जातक (प्रथम), भदन्त आनन्द कौसल्यायन (भूमिका), पृष्ठ 24

उद्गम कहा जाने के मूल में जातक साहित्य ही मुख्य कारण रहा है ।[27] बेनफी ने संसार भर के परिकथा साहित्य का मूल बौद्ध साहित्य ही माना है ।[28]

जातक तथा कथानक रूढ़ियां

मध्यकालीन हिन्दी तथा पंजाबी कथा साहित्य के समुचित अध्ययन की दृष्टि से जातकों में प्राप्त विशिष्ट कथारूपों व कथानक रूढ़ियों का सामान्य परिचय उपयोगी होगा । प्रणयारम्भ के लिए साहित्य में प्रथमदर्शन, स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन एवं गुणश्रवण रूढ़ि रूप में प्रचलित रहे हैं । कट्ठहारी जातक (7), सुजाता जातक (307), सुरुचि जातक (489), कलिंगबोधि जातक (479) तथा कुस जातक (531) में इन रूढ़ियों का सुन्दर उपयोग मिलता है । कट्ठहारी जातक (7) में स्मृतिचिन्ह भूलने की रूढ़ि का सुन्दर प्रयोग हुआ है । यही रूढ़ि बाद में कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भी प्रयुक्त हुई है । पुरुष–श्रेष्ठ सामन्ती समाज में स्त्री हीनता की भावना का प्राबल्य रहा है । बौद्धों में वह भावना उसी रूप में तो नहीं रही है पर त्याग व निर्वाण पर आश्रित मतवाद में स्त्रियों को बाधास्वरूप अवश्य माना जाता रहा है । जातकों में स्त्रीहीनता व स्त्री–दुश्चरित्रता की सुप्रसिद्ध अन्तरराष्ट्रीय रूढ़ि का भी बहुत प्रयोग मिलता है । अण्डभूत जातक (62), चूलपद्म जातक (193), रद्धजातक (198), उच्छिट्ठभत्त जातक (212), सुस्सौंदी जातक (360), चूलधनुग्गह जातक (374), खरपुत्त जातक (386), सत्तुभस्त जातक (402), परंतप जातक (416), पदकूसल मानव जातक (432), घटजातक (454), महापदुमजातक (472), तक्कारिय जातक (481) तथा तक्कल जातक (446) स्त्री की हीनता अथवा दुश्चरित्रता की रूढ़ि के प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । यह विचारणीय है कि स्त्री के दुराचरण प्रसंगों में किसी न किसी पुरुष का सहयोग भी अवश्य रहा है पर स्त्रियों सम्बन्धी हीन मान्यता के कारण इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता । परवर्ती हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों में भी नायक नायिका के आकर्षण, मिलन–प्रयास तथा संघर्ष के तत्व रहने पर भी स्त्री का स्थान प्रायः हीन ही है तथा प्रणय प्राप्ति की अपेक्षा सामन्ती कन्या प्राप्ति का स्वर अधिक उभरा हुआ है । पोतभंग सम्बन्धी कथानक रूढ़ि भी विश्व साहित्य में महत्वपूर्ण रही है । होमर के महाकाव्यों में सैंकड़ों बार इस रूढ़ि का उपयोग हुआ है । इस रूढ़ि के साथ सुन्दर यक्षिणियों की रूढ़ि भी प्रायः प्रचलित रही है । भग्न पोत का नायक किसी दैवी सहायता या टूटे तख्ते के सहारे किसी निर्जन द्वीप पर लग सकता है । दैत्य आदि से युद्ध के पश्चात उसे किसी सुन्दरी की प्राप्ति हो सकती है । द्वीप दानव अथवा यक्ष सुन्दरियों का भी हो सकता है तथा वे उन यात्रियों को बन्दी बना सकती हैं या नए यात्री मिलने पर इन पुराने प्रेमियों को खा भी सकती हैं । मुख्य पात्र ऐसे किसी द्वीप में बन्दियों की मुक्ति का कारण भी बन सकता है । जातकों में इस रूढ़ि का बहुत प्रयोग हुआ है । दधिवाहन जातक (186), सुस्सौंदी जातक (360), वल्लाहस जातक (196) तथा मित्तविंदक जातक में इस रूढ़ि का सुन्दर प्रयोग मिलता है । कुछ विद्वान इसे पश्चिम से आई रूढ़ि मानते हैं ।[29] परन्तु बुद्धकाल में भारतीय वणिकों,

27. एम० विंटरनित्स, ए हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर, खण्ड 2, पृष्ठ 153
28. लिन यू तांग की आवरण टिप्पणी – जातक टेल्स
29. एम० विंटरनित्स, ए हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर, खण्ड 2, पृष्ठ 129

भिक्षुओं, उपदेशकों तथा साम्राज्य निर्माताओं की समुद्री यात्राओं तथा सिंहल की पद्मिनियों सम्बन्धी संकेत इसके विशुद्ध भारतीय रूढ़ि होने की ओर संकेत करते हैं। हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों में भी इस रूढ़ि का बहुत प्रयोग मिलता है। अमानवी एवं पशु पात्रों के मानव-सम व्यवहार तथा रूप परिवर्तन की रूढ़ि भी जातकों में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है। वल्लाहस्स जातक (196), सुस्सौंदी जातक (360), खरपुत्त जातक (386), सत्तुभस्त जातक (402), पदकूसलमानव जातक (432), महापदुम जातक (472), महाशीलव जातक (51), रद्ध जातक (198), मातकभट जातक (11), श्री जातक (284), सब्बदट्ठ जातक (241) तथा अन्य कई जातकों में इस रूढ़ि का सुन्दर उपयोग हुआ है। प्रणय के लिए संघर्ष प्रेमाख्यानों की महत्वपूर्ण रूढ़ि है। विशिष्ट व्यक्ति के जहाज पर होने से कुछ शुभ या अशुभ होने की रूढ़ि का भी सुपारक जातक में प्रयोग हुआ है। पदकूसल मानव जातक (432) में पुनर्जन्म की रूढ़ि का उपयोग मिलता है। महाशीलव जातक (51) में दोषी मन्त्री के निष्कासन की सुप्रसिद्ध रूढ़ि प्रयुक्त हुई है। सुरुचि जातक में अनागत सन्तान के विवाह के सम्बन्ध में दो सम्भावित पिता-मित्रों द्वारा अनुबन्ध की रूढ़ि मिलती है। महासुक जातक (429) में इन्द्रासन-दोलन की रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। इसी जातक में जल सिंचन से पुनः जीवन–संचार अथवा सूखे वन–उपवन के पुनः हरे होने की रूढ़ि का उपयोग मिलता है। तक्करिय जातक (481) में नरबलि सम्बंधी रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। जातकों में अलौकिक, चमत्कारी घटनाओं व मन्त्र–तन्त्र की रूढ़ि का भी प्रयोग हुआ है। दधिवाहन जातक (186), श्री जातक (284), भद्रघट जातक (291), खरपुत्त जातक (386), पदकूसलमानव जातक (432) तथा अम्ब जातक (474) इस रूढ़ि के प्रयोग के सुन्दर उदाहरण हैं। पूर्वसूचना या भविष्यवाणी की रूढ़ि का भी घटजातक (454), कलिंगबोधिजातक (479) तथा सत्तुभस्त जातक (402) में उपयोग मिलता है। तपस्या द्वारा सन्तानोत्पत्ति भारत की सुप्रसिद्ध रूढ़ि रही है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इस रूढ़ि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानों तथा पंजाबी किस्सा काव्यों में भी यह रूढ़ि विद्यमान है। सुरुचि जातक (489) तथा कुसजातक (531) में भी यह रूढ़ि प्रयुक्त हुई है। सिविजातक (499) में प्रिय वस्तुओं के दान सम्बन्धी रूढ़ि मिलती है। इसमें राजा सिवि ब्राह्मण को अपनी आंखें दान में देता है। उन्मादन्ती जातक में राजा के मुग्ध होने पर मन्त्री अपनी पत्नी राजा को दान में देना चाहता है। हिन्दी प्रेमाख्यान पुहुपावती में भी यह रूढ़ि प्राप्त होती है। महाभारत की यक्ष समस्या–समाधान की रूढ़ि महाउम्मग्ग जातक (546) में भी मिलती है। अवदान भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह प्रतिपादित करना हमारा लक्ष्य रहा है कि हिन्दी तथा पंजाबी के प्रेमाख्यानों ने भारतीय आख्यान साहित्य की सीधी लोकधर्मी परम्परा में होने के कारण सीधे रूप में बौद्ध आख्यान साहित्य से अपना प्रभाव ग्रहण किया।

जैन धर्म एवं आख्यान साहित्य

बौद्ध तथा जैन मतों के विकास की समान एवं समानान्तर परिस्थितियों का विवेचन हो चुका है। जैन मत वैराग्यपूर्ण विचारधारा तथा मतवादी कर्मकाण्डों पर अधिक बल देता है। अहिंसा इसका सर्वप्रमुख सिद्धान्त है तथा इस सम्बन्ध में विश्व भर में अन्य कोई विचारधारा इसकी समता नहीं कर सकती। इसे वस्तुतः प्राणी मात्र का धर्म कहा जा सकता है क्योंकि यह

केवल हर जाति व वर्ग के मानव के लिए ही न हो कर पशु-पक्षियों, देवताओं, अमानवी प्राणियों तथा नरक के दैत्यों तक को अपने वृत्त में समेट लेता है । जैन मतावलम्बी इसे विश्व का प्राचीनतम धर्म मानते हैं । उनके अनुसार महावीर मत के अन्तिम तीर्थंकर थे तथा ब्राह्मण धर्म प्राचीन जैन धर्म का ही विकृत रूप है । जैन साहित्य वस्तुतः जनसाहित्य है । जैनों ने सदा यह सावधानी रखी है कि उनके विचार जनसामान्य तक पहुंच जाएं । इसी से अधिकांश जैन साहित्य मागधी, अर्द्धमागधी व महाराष्ट्री प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में प्राप्त है । संस्कृत जैन ग्रन्थ भी या तो प्राकृत रचनाओं के अनुवाद हैं या उनकी सामग्री पर आधारित हैं । आधुनिक भारतीय भाषाओं — गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, कन्नड़ तथा तमिल में भी जैन साहित्य का प्रणयन हुआ है । जैन लेखकों ने साहित्य की सब विधाओं में प्रयोग किए हैं । विशाल कथा, आख्यायिका साहित्य से लेकर महाकाव्य, नाटक, गीति रचनायें तथा सुन्दर अलंकृत कविताएं इन्होंने लिखी हैं । श्रेष्ठ रचनाओं व रचयिताओं की जैन साहित्य में कमी नहीं है । यह विशाल साहित्य मनोरंजन-प्रधान न होकर उपादेयता के तत्व से युक्त है । मतवादी मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने वाली सहस्रों कथाएं मिलती हैं परन्तु अधिकांश कथाएं सामान्य भारतीय लोक, परिकथा तथा निजंधरी आख्यानों के भण्डार से आई हैं जो मूल अथवा कुछ परिवर्तित रूप में बौद्ध तथा हिन्दू साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं । बहुत सी कथायें कृष्ण, ब्रह्मदत्त तथा श्रेणिक आदि प्रसिद्ध व्यक्तित्वों के लोकप्रिय कथाचक्रों से सम्बधित हैं । उपदेश-प्रधानता होने पर भी लोकप्रिय आकर्षण से लेखक बच नहीं सके हैं । निजंधरी तथा नीति कथाओं के अतिरिक्त रोमांसिक कथाकाव्य, यात्रियों तथा साहसिक व्यक्तियों की कथाएं तथा धूर्तों एवं डाकुओं के आख्यान मिलते हैं जिनका उपदेशात्मक अंश बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है । निजंधरी आख्यान नेमि, पार्शव तथा महावीर इन तीन तीर्थंकरों से सम्बद्ध हैं । राम तथा कृष्ण कथा-चक्रों का भी जैन संस्कार हुआ है । पउमसिरि चरिउ (विमलसूरि) तथा पदम चरित (रविषेन) इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । वसुदेव चरित तथा वसुदेवहिंडि परिकथाओं के समान रोचक तथा लोकप्रिय हैं । वसुदेव हिंडि को गुणाढ्य की बृहत्कथा के समकक्ष कहा जा सकता है । अन्य मतों के खण्डन के लिए भी कल्पित कथाओं का सहारा लिया गया है । धर्मपरीक्षा, धूर्ताख्यान (हरिभद्र), अमितगति तथा वृत्तविलास इसी कोटि की रचनाएं हैं । लोककथा, परिकथा तथा निजंधरी आख्यानों के तत्वों से समन्वित, धार्मिक उद्देश्य से रचित विशाल कथाकोश भी प्राप्त होते हैं । पादलिप्त की अप्राप्त प्राकृत रचना तरंगलोला का संस्कृत रूपान्तर तरंगावती भी उसके उच्च साहित्यिक मूल्यों को स्पष्ट करता है ।

जैन कथाकाव्य तथा हिन्दी प्रेमाख्यान

ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी आदि हिन्दी के प्रेमाख्यानकारों के लिए अपभ्रंश के इसी कोटि के कथाकाव्य प्रेरणा-स्रोत तथा उदाहरण रूप रहे हैं । कथा चयन, कथा विकास, कथानक रूढ़ियों, छन्द चयन, रचना प्रक्रिया तथा सामान्य शैली सभी दृष्टियों से प्रेमाख्यानों का अपभ्रंश की उपर्युक्त कोटि की रचनाओं की परम्परा में होना सिद्ध होता है । मतवादी तथा नैतिक उपदेश के तत्वों का लोकप्रिय रोमांसिक कथा तत्वों के साथ मिश्रण इन दोनों की समान मुख्य विशेषता है । सिद्धऋषि की 'उपमिति भव प्रपंच कथा' बड़ी सावधानी से रचित एक अन्योक्ति–कथा है, जिसका प्रभाव हिन्दी के बहुत से प्रेमाख्यानों पर देखा जा सकता है ।

हरिभद्र की 'समाराइच्च कहा' भी इसी वर्ग की रचना है। जैन अपभ्रंश साहित्य की वस्तु एवं शिल्प पर तथा उनके हिन्दी-पंजाबी आख्यानमूलक साहित्य के साथ सीधे सम्बन्ध पर विस्तार से विचार अपेक्षित है।

बौद्ध-जैन आख्यान साहित्य का महत्व

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय हिन्दी-पंजाबी प्रेमाख्यान साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इससे पूर्व का वैदिक तथा ब्राह्मण साहित्य मूलतः कर्मकाण्ड तथा यज्ञस्तुति प्रधान है। उपनिषद वस्तुतः उच्च वर्ग की दार्शनिक, धार्मिक जिज्ञासाओं का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जातक व अवदान साहित्य के माध्यम से सम्भवतः पहली बार भारत में जन विश्वास से पूर्ण लोककथाओं को लिखित रूप प्राप्त हुआ और समाज में सम्मान का स्थान मिला। इसमें सन्देह नहीं कि इस संग्रह व सुरक्षण का उद्देश्य मतवादी विचारधारा तथा सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार रहा है फिर भी इससे भारत की लोककथाओं व लोकमान्यताओं का ही अधिक हित हुआ। सभ्य तथा विद्वत् समाज में सम्मान का स्थान मिलने पर विश्व भर में इन कथाओं का बुद्ध धर्म के साथ-साथ प्रसार हो गया। इन कथाओ की रोचकता ने विश्वसाहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया तथा इस प्रकार भारत के लिए कथा-साहित्य में गौरव का स्थान सुरक्षित कर दिया। परवर्ती भारतीय साहित्य को केवल धार्मिक और मतवादी घेरे से खींच कर बाहर लाने की प्रेरणा में इन कथाओं का विशेष हाथ रहा है।[30] उच्च वर्ग ने संस्कृत के काव्य तथा आख्यान साहित्य में जातकों की कथाओं, कथानक रूढ़ियों आदि का खुल कर प्रयोग किया। *गुणाढ्य की बृहत्कथा* या तो जातकों से प्रभावित है या उसी सांझी लोकप्रिय भूमि से आई है जिससे जातकों की कथाओं का संग्रह हुआ।[31] परवर्ती कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, शुकसप्तति, दशकुमारचरित, वैतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, पंचतन्त्र, तंत्राख्यायिका, हितोपदेश तथा दर्जनों छोटे-बड़े लोकप्रिय कथाग्रन्थों के लिए जातक तथा बृहत्कथा ही आधार रहे हैं। हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों की मूल भावना की दृष्टि से भी बौद्धजैन कथा-साहित्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बौद्ध साहित्य का प्रभाव तो सीधा न होकर संस्कृत के आख्यान तथा लोककथा साहित्य के माध्यम से हुआ पर जैन-अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त कथा, चरितकाव्य, महाकाव्य, रोमांसकाव्य तथा पुराणों ने तो वस्तु, कथा-विन्यास, रचना-शिल्प, छन्द, वातावरण आदि हर दृष्टि से हिन्दी तथा पंजाबी प्रेमाख्यानों को सीधा मार्गदर्शन प्रदान किया। यह कहने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता कि हिन्दी के प्रेमाख्यान तथा पंजाबी किस्सा-काव्य कुछ समसामयिक प्रभावों के अतिरिक्त अपने अंग-उपांगों से सीधे जैन अपभ्रंश आख्यान साहित्य की परम्परा में आते हैं।

---

30. एम० विंटरनित्स, ए हिस्टरी आफ इंडियन लिट्रेचर, खण्ड 2, पृ० 426
31. बृहत्कथाकोश (अंग्रेजी) भूमिका, पृष्ठ 16-17

अध्याय 8

हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग : भक्तिकाल

मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी साहित्य को चार युगों में विभाजित किया जाता है – आदिकाल, पूर्वमध्यकाल अथवा भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल तथा आधुनिककाल। भक्तिकाल को स्वर्णयुग कहने के पीछे उसके पूर्ववर्ती आदिकाल तथा परवर्ती रीतिकाल से उसकी तुलनात्मक मूल्यदृष्टि ही सम्भवतः आधार रही है। कोई युग स्वर्णकाल कहलाने का अधिकारी उसी अवस्था में हो सकता है, जब उससे तुलनीय अन्य कालों को उससे हीनतर सिद्ध किया जा सके। और यह असन्दिग्ध है कि आदिकाल से रीतिकाल तक संवत् 1050 से 1900 तक की कालावधि में पड़ने वाले हिन्दी साहित्य के तीनों युगों में सं० 1375 से 1700 तक के भक्तियुग को सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक चेष्टा, साहित्यिक सृजन तथा कलात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से सर्वोत्तम या दूसरे शब्दों में स्वर्णयुग की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसमें यह रेखांकित करना शायद अनुचित न हो कि आधुनिक काल को अपने वैविध्य, सम्पन्नता तथा विशालता की दृष्टि से इस तुलनात्मक विवेचन में परिगणित नहीं किया जाना चाहिए।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भक्त की ईश्वर के प्रति पूज्य भावना में श्रद्धा, प्रेम, मैत्री, वात्सल्य तथा भीति आदि की जिन चित–वृत्तियों का संयोग होता है वे इस भाव को बहुत मनोहारी, आकर्षक तथा काम्य बना देती हैं तथा इसे बौद्धिक तर्कवाद, बाह्य कर्मकाण्ड आदि की अपेक्षा अधिक सर्वजन–सुलभ और सर्वजनकाम्य बना देती हैं। आदिकाल अथवा चारणकाल की नाथों–सिद्धों की वाणियों का साहित्यिक मूल्य जहां नगण्य–सा ही है, वहां शृंगार एवं वीर भाव पर आधारित रासो परम्परा में भी भावों की प्रधानता कम तथा आश्रयदाताओं की वीरता व प्रणय के सच्चे–झूठे आख्यानों को गढ़ने की प्रवृत्ति अधिक है। निःसन्देह इन कृतियों के साहित्यिक मूल्य के साथ–साथ इनका सांस्कृतिक मूल्य एवं सामाजिक उपादेयता भी संदिग्ध है। दूसरी ओर भक्तिकाल के बाद का रीतियुग नायक–नायिका भेद, शृंगार के दार्शनिक–साहित्यिक उपस्थापन तथा लालित्य–चेतना की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म, काम्य तथा मनोहारी होने पर भी नर–नारी प्रणय के अपने अति सीमित आधार के कारण तथा अधिसंख्यक कृतियों में संस्कृत रीतिपरम्परा के पिष्टपेषण एवं आश्रयदाता सामन्तों के मनोविनोद की छिछली भावुकता के परिणामस्वरूप मानव–जीवन के विविध पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ,काम एवं मोक्ष की सामान्यतः उपेक्षा करता है। इसलिए हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण अनुभाग होने पर भी भक्ति साहित्य की तुलना में इसे बहुत महत्वयुक्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। भक्तिकाल के स्वर्णकालत्व में यह महत्वपूर्ण ऋणात्मक (नेगेटिव) दृष्टि है।

धनात्मक (पोजिटिव) रूप में भक्तिकाल की विशिष्टताओं की चर्चा अधिक उपयुक्त एवं संगत होगी । इस काल के काव्य की प्रेरक शक्ति भक्ति है, किसी आश्रयदाता की वीरता, दानशीलता अथवा प्रेम–शृंगार की झूठी–सच्ची प्रशंसा नहीं । कबीर, रैदास, नानक, दादू, कुतुबन, मंझन, जायसी, सूरदास, नन्ददास, रसखान, तुलसीदास, मीरा तथा सैंकड़ों अन्य भक्तकवियों को आश्रयदाता की चाटुकारिता तथा इनके द्वारा उपलब्ध होने वाले प्रलोभनों से कोई वास्ता नहीं था । ये सब अपने–अपने भाव के अनुसार मूलतः भक्त थे । भक्ति का यह आन्तरिक तथा सहजात भाव ही इन कवियों की जन्मजात प्रतिभा के काव्य रूप में फूटने का अभिप्रेरक रहा है । इस तथ्य से यह सहज ही निर्णय दिया जा सकता है कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा, सुरक्षा तथा सम्मान आदि के लिए लिखे गए पूर्व अथवा पर काल के साहित्य की अपेक्षा अपनी सहज अन्तःप्रेरणा तथा भक्ति जैसे कोमल एवं कमनीय भाव का आश्रय लेकर रचित होने वाला भक्तिकालीन साहित्य अधिक भावपूर्ण होता ।

एक और तथ्य की ओर यहां संकेत आवश्यक है । क्लासिकी भारत की मर्यादा के तब तक पर्याप्त धूमिल हो जाने पर तथा मध्यकाल के सामाजिक–सांस्कृतिक और नैतिक अंधकार के उस काल में ये सब कवि किसी न किसी रूप में युग आदर्श के निर्माण की महत भावना लेकर ही कवि–कर्म में प्रवृत्त हुए । भक्ति सम्बन्धी अपने–अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की आधारभूमि पर ये अपने–अपने ढंग से युग के नव–निर्माण का आयोजन करते हैं । इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनके द्वारा जगाई गई उच्च नैतिक चेतना आज भी किसी न किसी रूप में व पर्याप्त सीमा तक भारतीय जनमानस के लिए काम्य व अनुगमनीय बनी हुई है । विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि भारतीय इतिहास में पहली बार सारा देश एक विशेष भावधारा से आन्दोलित हो उठा । इस सम्बंध में ग्रियर्सन का कहना है - ''हम अपने आपको धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं,जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहां तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है । इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं भावावेश का विषय हो गया था । यहां से हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं, जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं, बल्कि उनकी समता मध्य–युग के यूरोपीय भक्त बर्नार्ड आव क्लेयर बाक्स, टामस ए केम्पिस और सेंट टेरेस से है।''

बिजली की चमक के समान सारे उत्तर भारत में भक्ति के इस उन्मेष के लिए ईसाई प्रभाव अथवा इस्लामी विजय तथा भारतीय समाज के पराभव से उद्भूत निराशा भावना आदि बड़े उथले कारण विभिन्न समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हुए हैं । वस्तुतः किसी भी जीवन्त जाति में जहां अपने ह्रास के बीज तथा कारण स्वयं उसी में निहित होते हैं, उसी प्रकार उसके पुनर्जागरण तथा नवचैतन्य के अंकुर भी उसी में छिपे रहते हैं, जो यथाअवसर अपने सही मूल्यों व जीवनादर्शों को नई परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुरूप पुनः खोजने व स्थापित करने में समर्थ होते हैं । भक्ति आन्दोलन से पूर्व न केवल राजनीतिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक हर दृष्टि से देश व जाति क्षीण और विच्छिन्न हो रहे थे । हर्ष के बाद भारतीय समाज ने कोई केन्द्रीय शासन नहीं जाना । बौद्ध धर्म का ह्रास, सिद्ध–तांत्रिक तथा इस वर्ग के अन्य गुह्य मत–सम्प्रदायों का फैलाव, शिक्षा तथा स्वाध्याय के अभाव में ज्ञान

के स्थान पर झूठे दम्भ व पाखण्ड का प्रसार तथा बाह्याडम्बर तथा निरर्थक कर्मकाण्ड के प्रचलन ने कुछ इस प्रकार की परिस्थितियां पैदा कर दी थीं कि देश अपनी सम्पूर्ण सामाजिक नैतिकता, ज्ञान की गरिमा तथा भाव के गाम्भीर्य से शून्य होता जा रहा था। वल्लभाचार्य के शब्दों में देश मलेच्छों से आक्रान्त हो रहा था। गंगा आदि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे थे। अशिक्षा तथा अज्ञान वैदिक धर्म के विनाश के कारण बन रहे थे। ज्ञान विस्मृत हो रहा था, सत्पुरुषों को पीड़ित किया जा रहा था। ऐसे समय में उनके अनुसार कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण था। यहां यह स्पष्ट है कि ये भक्त संसार के भयों व जाति की पराजयों से भयाक्रान्त एवं निराश होकर ईश्वर–भक्ति में लीन एवं सामाजिक जीवन से विमुख नहीं हो रहे हैं, अपितु प्रबल आस्था एवं विश्वास के साथ नवीन सामाजिक–नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना में प्रस्तुंत हो रहे हैं। निःसन्देह अपने इस भाव का आश्रय इन्होंने कोई लौकिक मर्त्य मानव न चुन कर स्वयं ईश्वर को, ब्रह्म को ही, उसके विभिन्न रूपों में, स्वीकार किया है तथा भक्ति जैसे प्रबल भाव के साथ उसे सर्वजन–ग्राह्य एवं सर्वजनकाम्य बना दिया है।

युगीन परिस्थिति का तुलसी ने भी बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। वह कहते हैं :-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका–विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, कहां जाई, का करी।

ऐसे समय दारिद्रय रूपी दशानन रावण द्वारा दबाई सृष्टि के परित्राण के लिए तुलसीदास कातर भाव से राम के सम्मुख रक्षा की गुहार लगाते हैं। यही स्थिति थोड़े–बहुत भेद के साथ प्रायः सब भक्त कवियों की है। इसमें विशेषता यही है कि सामाजिक-नैतिक दुर्दशा से पीड़ित जाति के लिए महनीय आदर्श और भक्ति के प्रबल भावावेग से युक्त यह आन्दोलन भाव तथा विचार दोनों स्तरों पर साहित्य के अन्य युगों की अपेक्षा बहुत महान सिद्ध होता है, तथा स्वर्णयुग सम्बन्धी अवधारणा को पुष्ट करता है।

इस युग में भक्ति के विविध रूप सामने आते हैं। कालक्रम की दृष्टि से निर्गुण भक्ति का स्वरूप सर्वप्रथम है। कबीर इसके प्रारम्भिक तथा मुख्य कवि एवं साधक हैं। कबीर सिद्ध और नाथ परम्पराओं से दाय में प्राप्त अद्वैतवाद, रहस्यात्मक साधना पद्धति, धार्मिक दंभ व आडम्बर के प्रति विरक्ति एवं कोरी विद्वत्ता के प्रति विरोध की भावना, जाति–पांति तथा ऊंच–नीच के खण्डन की प्रवृत्तियों को रामानन्द से प्राप्त भक्ति एवं प्रेम–भाव से समन्वित करके सरल, सहज एवं मनोहारी बना देते हैं। सहजयोगी रहस्यवाद को वह प्रेमाभक्तिपूर्ण एवं अनुभूतिपूर्ण प्रेमयोग एवं रहस्यवाद में बदल देते हैं। निर्भीकतापूवर्क वह हिन्दू तथा मुसलमान, मौलवी तथा पाण्डे दोनों के मिथ्यावाद, थोथे कर्मकाण्ड तथा पाखण्ड का खण्डन करते हैं। कबीर व्यावसायिक या नर–आश्रय में कविता करने वाले कवि नहीं थे। इसी से उन्हें अपने काव्य में चमत्कार, मनोरंजन तथा शैली आदि के लालित्य की न अपेक्षा थी न औचित्य। वह सच्चे क्रांन्तदर्शी कवि, समर्थ सन्देशवाहक, प्रबल समाज-सुधारक एवं भावुक भक्त थे, जिसके परिणामस्वरूप काव्य–कला के नियमों के अनुसार उनके काव्य को जो भी कहा जाए, वह हृदय

की गहरी सम्वेदना, चिन्तन की ईमानदारी और अभिव्यक्ति की शक्तिमत्ता के गुणों के कारण हिन्दी के श्रेष्ठ काव्य के वर्ग में परिगणित होता है । उनके विचारों में मानवता के शाश्वत मूल्यों और सार्वजनिक मर्यादाओं की विद्यमानता अब भली प्रकार सिद्ध हो चुकी है । कबीर को हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थ कवियों में गिना जाता है और मध्यकाल के मुख्य चार कवियों में ये परिगण्य हैं । निश्चित रूप में जिस युग में इस कोटि के कवि विद्यमान रहे हों, उसे स्वर्ण-युग कहने में विशेष शंका नहीं होनी चाहिए ।

कबीर के अतिरिक्त इस परम्परा में रैदास, नानक, कमाल, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास, आदि कवि हुए जिन्होंने जन–सामान्य की भाषा में अपने सरल तथा सहज भक्ति एवं समाज–कल्याण के भावों को उस निम्न एवं सर्वसाधारण वर्ग तक पहुंचाया जिसके लिए धर्म तथा सामान्य मानवीय जीवन के द्वार तब तक बन्द थे ।

भक्तिकाल की दूसरी शाखा प्रेममार्गी कवियों की थी । इस शाखा के अधिसंख्यक कवि मुसलमान थे तथा सूफी विचारधारा द्वारा प्रभावित थे । इनकी भक्ति का स्वरूप वैष्णव भक्ति के समान प्रेम एवं भावनामूलक था, परन्तु प्रतीक और अभिव्यक्ति की पद्धति में अवश्य भेद था । उन्होंने भारत में प्रचलित लौकिक प्रणय सम्बन्धी भावनापूर्ण आख्यानों का आश्रय लेकर पद्मावती, मधुमालती, मृगावती, चित्रावली आदि प्रबन्ध काव्यों का ठेठ अवधी भाषा में सृजन किया । प्रणयाकर्षण की इन कृतियों में लौकिक प्रेम के पीछे आध्यात्मिक प्रेम के भावपूर्ण संकेत उपलब्ध होते हैं । इनके काव्य में सामान्यतः किसी प्रकार के सिद्धान्तवाद या धार्मिकता–दार्शनिकता का आग्रह नहीं है । पद्मावत इस दृष्टि से इस धारा का सर्वश्रेष्ठ काव्य है । इस काव्य के सम्बन्ध में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है –

"....पद्मावत काव्य का अनुशीलन करते हुए जिस बात की गहरी छाप मन पर पड़ती है, वह यह कि इस कवि ने भारत भूमि की मिट्टी के साथ अपने को कितना मिला दिया था । जायसी सच्चे पृथिवी–पुत्र थे । वे भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है । गांव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण–सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है । जनता की उक्तियां, भावनाएं और मान्यतायें मानों स्वयं छन्द में बंध कर उनके काव्य में गुँथ गई हैं । यही कारण है कि जायसी का पद्मावत एक रोमानी कथा मात्र न रह कर एक धर्मग्रन्थ, सामाजिक–नैतिकता की संस्थापक रचना, एवं व्यवहार–ज्ञान का विश्वकोष बन गया है । प्रेमाख्यानक धारा में तो यह श्रेष्ठतम है ही, समग्र हिन्दी भक्ति साहित्य में भी यह तुलसी के मानस के साथ हिन्दी की श्रेष्ठतम वर्ग की प्रबन्ध कृतियों में परिगण्य है "। मंझन की मधुमालती, उसमान की चित्रावली, कुतुबन की मृगावती आदि इस वर्ग की अन्य महत्वपूर्ण कृतियां हैं तथा हिन्दी भक्तिकाल की स्वर्णयुग के रूप में प्रस्थापना में सहयोगी हैं ।

हिन्दी भक्तिकाव्य की सगुणभक्ति धारा रामकाव्य तथा कृष्णकाव्य के सगुणोपासक भक्त कवियों में अकेले तुलसीदास का व्यक्तित्व इतना महान तथा कृतित्व इतना उच्चकोटि का है और उन्होंने रामभक्ति की स्थापना एवं प्रचार में इतनी सफलता प्राप्त की है कि उतनी किसी

सुसंघटित तथा व्यवस्थित सम्प्रदाय को भी सम्भवतः नहीं मिलती । तुलसी अपने नायक राम में परम ब्रह्मत्व और पूर्ण मानवत्व की प्रतिष्ठा करके मनोहारी लोक भाषा में रामचरितमानस की रचना करते हैं । राम को वह जीवन के सभी क्षेत्रों तथा मानवीय सम्बन्धों के आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रस्थापित करते हैं और राम के भवतारक नाम को जन–जन के हृदय में रमा देते हैं । ''कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहं हित होई''।। अर्थात् काव्य को जन–जन का कल्याण करने वाला होने की कसौटी मानने वाला कवि तुलसी सीधे–सीधे भक्ति काल को पूर्ववर्ती आदिकाल तथा परवर्ती रीतिकाल की अपेक्षा उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देता है । वह प्राकृत जन का गुणगान करने वाले कवियों की भर्त्सना करके मानों इन दोनों कालों के काव्य की निम्नता को रेखांकित कर रहे थे । यह वृत्ति भक्तिकाल के सभी कवियों की रही है, पर लोकमंगल तथा काव्य उत्कर्ष का जो समन्वय तुलसी में उपलब्ध है, वह सारे हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है । दृष्टि की व्यापकता तथा भावना की गहराई, गम्भीर पाण्डित्य एवं विनम्र सहृदयता तथा सम्वेदनशीलता तुलसी को पण्डित–मूर्ख सब को प्रभावित करने में सक्षम बनाती है । अपनी क्रान्तदृष्टि, गम्भीर दार्शनिकता तथा रससिद्ध काव्यत्व शक्ति से सम्पन्न अकेले तुलसीदास संभवतः सारे भक्तिकाल की स्वर्णयुग के रूप में स्वीकृति में समर्थ हैं । अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान तथा हृदयराम आदि रामभक्ति शाखा के कुछ अन्य कवि हैं, परन्तु तुलसी के उच्चतम लोकादर्श तथा श्रेष्ठ काव्यत्व के समक्ष वे हिन्दी साहित्येतिहास में प्रायः धूमिल ही बने रहे ।

आसाम-बंगाल से गुजरात तक के बड़े भू–भाग को प्रेमाभक्ति से रसमग्न करने का श्रेय उत्तर–भारतीय भक्ति आन्दोलन की कृष्णभक्ति शाखा को है । गोकुल–वृन्दावन को केन्द्र बना कर अनेक सम्प्रदायों ने कृष्ण के बाल तथा मधुर रूपों का देश भर में प्रचार किया तथा यह रूप अनेक शताब्दियों से भारतीय संगीत, साहित्य, चित्र एवं अन्य ललित–कलाओं का आधार–विषय तथा मुख्य प्रेरणा–स्रोत बना रहा है ।

हिन्दी में भले ही 14वीं शताब्दी में विद्यापति के मैथिली भाषा में रचित पदों के साथ कृष्ण की भावावेगमयी प्रेमाभक्ति से पूर्ण काव्य का आरम्भ होता है, परन्तु सूरदास को ही वास्तव में व्यवस्थित रूप में इस धारा के प्रवर्त्तक कहा जा सकता है । ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के मुख्य शिष्य, उनके पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के काव्य रूप में श्रेष्ठ प्रयोक्ता तथा अष्टछाप के शीर्ष कवि थे । कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास अष्टछाप के अन्य उच्च–स्तरीय कवि थे । पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त गौड़ीय वैष्णव, सखी, राधावल्लभी आदि कृष्णभक्ति सम्प्रदाय भी इस काल में कृष्णभक्ति सम्बन्धी सैद्धान्तिक प्रचार एवं काव्यरूप में उसके सृजन में प्रवृत्त थे । हितहरिवंश राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे तथा उच्च स्तरीय कवि थे । हरिदास भी सरस कवि होने के साथ–साथ प्रसिद्ध संगीताचार्य भी थे । इन सब सम्प्रदायों के शताधिक प्रसिद्ध व अल्प प्रसिद्ध कवियों ने भक्तिकाल को सर्वाधिक सम्पन्न साहित्यकाल एवं स्वर्ण–युग बनाने में सहयोग दिया । सूरदास निःसन्देह इस काव्यधारा के सूर्य ही हैं । यदि लोकमंगल की दृष्टि से तुलसी अनुपम हैं तो काव्य के लालित्य एवं उत्कर्ष की दृष्टि से सूरदास अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध होते हैं । सूर कृष्णकाव्य धारा की भाषा, शैली, विषयवस्तु, भाव, विभाव तथा दर्शन–चिन्तन के मूल तथा अनन्त स्रोत हैं एवं उच्चतम कसौटी भी हैं । वह मानव की सहज सौन्दर्याकांक्षा

और ललित वृत्ति को परिष्कृत एवं उदात्त रूप में स्थापित करते हैं । सूरदास को विश्व के चोटी के कवियों में बिना किसी झिझक के परिगणित किया जा सकता है ।

मीरा, रसखान आदि कृष्ण भक्ति के अन्य कवि हैं, जो बिना किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हुए अपनी स्वतंत्र काव्य–साधना से इस काव्यधारा एवं युग को सम्पन्न करते हैं । रसखान की दास्यभाव की विह्वलता तथा मीरा के पदों की गीतिभावना भक्ति काल में अप्रतिम है ।

भक्ति–साहित्य के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्राकृत–जन के गुणगान से विलग, जिस काव्यकाल में कबीर, जायसी, तुलसी और सूर तथा उनके अनेक उच्च कोटि के सहयोगी कवि विद्यमान रहे हों, वह सुनिश्चित स्वर्णकाल से भी उच्चतर माना जा सकता है । तुलनात्मक संदर्भों में अपने पूर्ववर्ती–आदिकाल तथा परवर्ती–रीतिकाल के साथ तो इस पर विचार भी संभवतः न संगत होगा और न उचित ।

अध्याय 9

सन्त काव्य की दार्शनिक भूमिका

दर्शन का सरलीकृत अर्थ जीव, जगत की तर्कसंगत स्थिति और परस्पर अन्तर्संबंधों की उपस्थिति से माना जाता है । आस्तिक दर्शनों में ब्रह्म का तत्व और जुड़ जाता है और इस प्रकार उसमें जीव, जगत, ब्रह्म, माया आदि की परस्पर स्थिति और अन्तःक्रिया को व्याख्यायित करने का प्रयास होता है । भारतीय षट दर्शन परम्परा में आधे निरीश्वरवादी और आधे आस्तिक दर्शन हैं । मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद को भी निरीश्वरवादी वर्ग में रखा जाएगा । परन्तु विश्व की अधिकतर दर्शन परम्पराओं में ईश्वर का कोई–न कोई रूप अनिवार्यतः स्वीकार्य रहा है और जीव तथा जगत की व्याख्या के लिए भी वह केन्द्रीय भूमिका निभाता है ।

सामी (यहूदी–ईसाई–इस्लामी) परम्परा में ईश्वर जगत से भिन्न है । जगत उसका सृजन है । सब जीव उसकी इच्छा–आकांक्षा पर आधारित रचनाएँ हैं । वह सातवें आसमान पर रहता है । वैसे तो वह दयालु–कृपालु है, पर कयामत के रोज सब के कर्मों के अनुरूप वह उन्हें सुख अथवा दण्ड भी देता है । इस परम्परा में ईश्वर की परिकल्पना एक कठोर, अनुशासन–प्रिय परन्तु कृपालु शासक के रूप में हुई है । भारतीय चिन्तन परम्परा में आरम्भिक वैदिक–ब्राह्मण परम्परा में इसी प्रकार की धारणा का प्राधान्य लक्षित होता है । बहुदेववादी परम्परा में यज्ञ और कर्मकाण्ड के द्वारा देवताओं की प्रसन्नता लक्ष्य है, जिससे स्वास्थ्य, सम्पन्नता, बल, प्रभुत्व, अधिकार और विशेष शक्तियों की प्राप्ति होनी है । ब्राह्मण धर्म-दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक नीति–आचार है । वेदों का ज्ञान, देवताओं की स्तुति, अर्चना तथा यज्ञ एवं वर्णव्यवस्था ब्राह्मण धर्म के मूल स्तम्भ हैं । तपस्या का स्थान भी है, पर उसका उद्देश्य अतिप्राकृतिक शक्ति प्राप्त करना है, जिससे इन्द्रासन भी डोल उठे । ऋषि की शाप–शक्ति, सूर्य को निगलने, समुद्र को पी डालने आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं । त्याग और दान का तात्पर्य है राजा तथा प्रजा द्वारा ब्राह्मण-पूजा, सहस्रों गउओं का दान तथा ब्राह्मण के हित में सर्वस्व–त्याग की भावना ।[1] संन्यास को भी स्थान दिया गया है, पर यह प्रारम्भिक तीन आश्रमों में सम्पूर्ण जीवन उपभोग के बाद वृद्धावस्था में और अधिक शक्ति–उपार्जन के लिए किया जाने वाला गृहत्याग मात्र है ।[2]

परन्तु इस वैदिक–ब्राह्मण दर्शन के समानान्तर आत्मवादी–त्यागवादी परम्परा की भारत में विद्यमानता सन्देहहीन तथ्य के रूप में स्वीकार्य है । विद्वानों का विचार है कि आर्यों के

---

1. उपाध्ये, ए० एन०, **बृहत्कथाकोश**, (भूमिका), पृ० 13

2. विंटरनित्स, एम०, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृ० 23

भारत–आगमन काल में ही गंगा–यमुना के तटवर्ती प्रदेश में विकसित, विचारशील और समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है ।[3] मध्यकालीन सन्त साहित्य और दर्शन इसी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, यह हमारी स्थापना है । गंगा–यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त,जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली, व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था । इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, त्याग, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं, जो वैदिक-ब्राह्मण परम्परा से एक दम भिन्न और किंचित विरोधी हैं ।

जैकोबी इन्हें लोकधर्म कहते हैं । लेमन्न के अनुसार इसके उपस्थापक परिव्राजक थे । गार्वे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं । राईस डेविस इसे सुसंयोजित, तर्कपूर्ण घुमन्तुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं । विंटरनित्स ने इसे संन्यास तथा तप से सम्बंधित धर्म और साहित्य कहा है । आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये इसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसे मागधी धर्म कहते हैं ।[4] लेमन्न ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भारत में बहुत पहले अब्राह्मण परिव्राजक संन्यासियों का साहित्य विद्यमान रहा है, जो अब भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया है और उसे हम विभिन्न उपलब्ध साहित्य अंशों में खोज सकते हैं । इसकी पुष्टि करते हुए विंटरनित्स का कथन है कि लेमन्न की धारणा से भी बहुत अधिक मात्रा में वह श्रामणिक अथवा परिव्राजक साहित्य हमें महाभारत के उपदेशात्मक अंशों, उपनिषदों और पुराणों में प्राप्त होता है । इसके अंश बुद्ध–पूर्व और बुद्ध–कालीन साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं ।[5]

तात्विक भेद

ब्राह्मण धर्म–दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक नीति आचार है, तो परिव्राजक जीवन–दर्शन ब्राह्मण मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है । पात्र देवता–तुल्य ऋषि न होकर संसार–त्यागी, योगी और संन्यासी हैं । संसार दुखों का घर है ।[6] तृष्णा उसका मूल कारण है ।[7]

---

3. उपाध्ये,ए० एन० पूर्वोक्त, पृ० 11 तथा विंटरनित्स, एम०, पूर्वोक्त, पृ० 1
4. उपाध्ये, ए० एन, पूर्वोक्त, पृ० 12
5. विंटरनित्स, एम०, पूर्वोक्त, पृ० 21
6. काकी माता पिता सुत बनिता को काहू को भाई ।
धनु धरनी अरु संपति सगरी जो अपनाई ।
तनु छुटै कछु संगि न चालै कहा ताहि लपटाई ॥
नानक कहत जगत सभ मिथिआ जिउ सुपना रैनाई,
पद्म, गुरचरण सिंह, **गुरु तेग बहादुर-जीवन, चिन्तन और कला**, पृ० 148
तथा–अवर सकल जंजाल, और सागर जमलोक महं ।
मिथ्या सब संसार, मोहि कौन उतारे पार ।
बी० पी० शर्मा, **सन्तगुरु रविदास वाणी**, पृ० 140
7. भूलिओ मनु माइया उरझायो
जो जो करम कीओ लालच लगि, तिहि तिहि आप बंधाइयो
पदम् गुरुचरण सिंह, पूर्वोक्त, पृ० 143
तथा–माया मोहिला कान्हां मैं जन `वग तेरा
सन्त गुरु रविदास वाणी, पूर्वोक्त, पृ० 107

संन्यास का उद्देश्य संसार त्याग, आत्मोन्नति तथा अन्त में निर्वाण प्राप्ति है ।[8] आत्म–निरोध और आत्म–त्याग ही तपस्या है ।[9] संन्यासी और तपस्वी प्राणी–मात्र के प्रति मैत्री–भाव से पूर्ण हैं।[10] वह न तो किसी से भयभीत है, न शक्ति प्राप्त करके किसी को भयभीत ही करना चाहता है ।[11] यही मैत्री, प्रेम और अभय के भाव अहिंसा सिद्धांत के आधार बनते हैं ।[12] जन्मांतरवाद और कर्म-सिद्धान्त परवर्ती भारतीय जीवन दर्शन को इस विचार परम्परा की मुख्य देन माने जा सकते हैं ।[13] जीवन की क्षण–भंगुरता[14], वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु से आक्रान्त मानवता के लिए सत्कर्म, त्याग, तपस्या, भक्ति और प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, एवं मोक्ष अन्तिम लक्ष्य माने गए हैं ।[15]

---

8. मान मोह दोनों दोऊ परिहरि, गोबिन्द के गुन गावै,
कहु नानक इह विधि को प्रानी, जीवन मुकति कहावे ।
पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 145

9. जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं,
प्रेम गली अति सांकरी, जा में दो न समाही–
कबीर ग्रंथावली, तथा तजि अभिमान सरनि संतनि गहु, मुकति होहि दिन माही–
पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 148

10 जिहि माया ममता तजि सभते भइओ उदास ।
कहु नानक सुन रे मना तिहि घर ब्रह्म निवास ।।
पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 151

11. भय काहू कउ देत नहि नहि भै मानत आनि ।
कहु नानक सुनि रे मना, गिआनी ताहि बखानी ।।
पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 151

12. जनम जनम भरमत फिरिओ, मिटिओ न जंम को त्रासु ।
कहु नानक हरि भज मना, निरभै पावहि बासु ।
नर चाहत कछु अउर, अउरै की अउरे भई ।
चितवत रहिओ ठगउर, नानक फासी गलि परी ।।
पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 152

13. उपाध्ये, ए० एन०, **पूर्वोक्त**, पृ० 12

14. ऐ सबु संगी दिवस च्यार के, धन दारा सुत पित मात रे,
बिछुरे मिलन बहुरि नह है हों, ज्यों तरवर छिन पात रे ।
बी० पी० शर्मा, **पूर्वोक्त**, पृ० 96–97

15. जब लगि भगति मुकति की आसा, परम तत सुनि भावै ।
जहं जहं आस घटत है यहु मन तहं तहं कछु न पावै ।
छाडै आस निरास परमपद, तब सुख सति कर होई ।
कहैं रविदास जासूं अउर कहत है, परम तत है सोई ।।
बी० पी० शर्मा, **पूर्वोक्त**, पृ० 69

विचार सम्मेलन

यह परिकल्पना की जाती है कि ब्राह्मण काल के अन्त तक [16] आर्य तथा मागधी दोनों धार्मिक–दार्शनिक सारणियां परस्पर मिलनी आरम्भ हो चुकी थीं। अपने भूगोल से विच्छिन्न, केवल इतिहास पर आश्रित ब्राह्मण–आर्य विचार–धारा इस नवीन भौगोलिक–ऐतिहासिक दोहरे आक्रमण को यदि देर तक सहन न कर सकी हो तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।[17] उपनिषदों में इस सम्मेलन के प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं। यहां याज्ञवल्क्य आदि पहली बार आत्मविद्या का प्रचार करते हैं। यही परम्परा बाद में लोक को कर्मकाण्ड–प्रधान वैदिक परम्परा से मुक्ति दिलाकर बौद्ध और जैन मतों के रूप में फूट निकलती है, जिन्हें वस्तुतः मागधी धर्म और विचार–परम्परा के परवर्ती उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। मध्यकालीन सन्त–काव्य लोकजागरण तथा लोकधर्मों की इसी शृंखला की अनिवार्य कड़ी होने से सम्पूर्ण तत्व–चिन्तन की दाय का गर्वपूर्ण वाहक है, यह हमारी दूसरी स्थापना है।

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में पहली बार कर्म–सिद्धान्त मिलता है, जबकि वेदों और आरम्भिक उपनिषदों में इसका अभाव है। यह उल्लेखनीय है कि यहां पर यह सिद्धान्त क्षत्रिय राजा द्वारा ब्राह्मण को समझाया जाता है। बहुत बाद की रचना मैत्रायण्य उपनिषद में भी मागधी धर्मों के मूल सिद्धान्त भारी मात्रा में उपलब्ध हैं।[18] पिता–पुत्र संवाद जो सर्वप्रथम महाभारत के सभा–पर्व में तथा फिर मारकण्डेय पुराण, बौद्ध जातक और जैन उत्तराध्ययन–सूत्र में प्राप्त होता है, ब्राह्मण-आश्रमवादी तथा मागधी-त्यागवादी विचारधाराओं के संघर्ष का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है। पुत्र संसार को मृत्यु तथा नाश का कारण समझ कर त्याग देता है,[19] जबकि पिता उसे रोकता है और वेद–सम्मत वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार गृहस्थ–पालन के पश्चात वृद्धावस्था में ही संन्यास को उचित मानता है।[20]

मूल उपस्थापक : अब्राह्मण

इस विचारधारा के प्रायः सभी उपस्थापक अब्राह्मण ही हैं।[21] महाभारत में त्याग और संन्यास का उपदेश देने वाले प्रायः सभी अब्राह्मण हैं। विदुर इस वर्ग के व्यक्तियों में प्रमुख हैं।

---

16. मैक्समूलर पांचवी शती ईसा-पूर्व में वैदिक–ब्राह्मणकाल की समाप्ति मानते हैं, और प्रायः विद्वान उनसे सहमत हैं।

17. बैकर हावर्ड तथा अन्य, **सोशल थाट फ्राम लोर टू सॉयंस**, खण्ड 1, 2, 3, न्यूयार्क, 1960, पृ० 104, 218, 416/417, 706/707, 723

18. विंटरनित्स, एम०, **पूर्वोक्त**, पृ० 25

19. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य :
(क) गुरु नानक देव का ''सच्चा सौदा'', तथा
(ख) पद्म, गुरुचरण सिंह, **पूर्वोक्त**, पृ० 148

20. विंटरनित्स, एम०, **पूर्वोक्त**, पृ० 25

21. मध्यकालीन लोकजागरण के वाहक, तथा रूढ़िवादिता के विरोधी सभी क्रान्तिकारी भक्त, गुरु और समाजसुधारक प्रायः अब्राह्मण वर्ग के ही हैं।

वह स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री की सन्तान थे ।[22] उनका विवाह भी पारसव कन्या से हुआ था जो स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई थी । महाभारत का 'विदुर-हित-वाक्य' विदुर के उपदेशों से भरा पड़ा है, जिसमें त्यागवादी-संन्यासवादी आचार का प्राधान्य है ।[23] ''स्त्रीपर्व'' के ''धृतराष्ट्रशोकपनोदन'' में पुत्रों के निधन के कारण शोकसंतप्त धृतराष्ट्र को विदुर संसार की अनित्यता, दुखों और मृत्यु की शक्ति का उपदेश देकर सांत्वना देते हैं ।[24] यहां वह तालाब में झुकी डाली से लटके भयाक्रान्त व्यक्ति की कहानी सुनाकर लोभ और मोह की शक्ति और उसके दुष्परिणामों को रेखांकित करते हैं ।[25] महाभारत में अन्य कई स्थानों पर भी अब्राह्मण तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति संन्यास धर्म का उपदेश देते मिलते हैं । वनपर्व (207–216) में कौशिक ब्राह्मण को धर्मव्याध उपदेश देता है । वह स्वयं बधिक है, और कौशिक को उसके पास भेजने वाली स्त्री भी (3,206–208) सामान्य गृहस्थ महिला है । शान्ति पर्व (251–10) में भी वेदाध्यायी अथवा यज्ञकर्त्ता व्यक्ति की अपेक्षा सर्वस्वत्यागी तथा प्राणीमात्र के प्रति प्रेम रखने वाला व्यक्ति ही वास्तविक ब्राह्मण कहा गया है ।[26] शान्तिपर्व का तुलाधारी तथा जाजली संवाद वैराग्य साहित्य का सुन्दर उदाहरण है, जिसमें निम्नवर्गीय तुलाधार एक ब्राह्मण को, जिसका नाम जाजली था, मैत्री और अहिंसा का उपदेश देता है । अनुगीता (महाभारत–14, 28,6) में अध्वर्यु तथा यति का संवाद मिलता है, जिसमें यति यज्ञकर्त्ता को बकरे की बलि देने से रोकता है, और शास्त्रार्थ में उसे निरुत्तर कर देता है । अनुगीता (14,50,2) में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म तथा ज्ञान को सर्वोत्तम हित माना गया है । पशुबलि के प्रस्थापकों और प्रचारकों को नास्तिकों के समान नरकगामी माना गया है । जनक (14,32) बुद्ध के समान ही माया और ममत्व का विरोध करते हैं । शान्तिपर्व में विदेहराज की यह उक्ति (12–178) त्यागवादी विचारधारा में विशेष स्थान की अधिकारी है :–

अनन्तवत मे वितं, यन्न मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दहति किंचन ।।

अनुगीता (14,51,26) में दो अक्षर ''मम'' (ममता, आकर्षण, लालच, लोभादि) को मृत्यु तथा तीन अक्षर ''नमम'' (त्याग, मोहहीनता) को पर-ब्रह्म कहा गया है । महाभारत के शान्तिपर्व और अन्य भागों में अधिसंख्यक उपदेशात्मक अंश पूरी तरह पाली त्रिपिटक के समान हैं, तथा कुछ अंश तो मूलरूप में ही बौद्ध ग्रंथों में सम्मिलित कर लिए गए हैं । महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त ययाति की प्रसिद्ध कथा के द्वारा भी त्याग तथा संन्यास मत की ही प्रस्थापना की गई है ।

---

22. ''शूद्रयोनावहं जातः'' महाभारत–5, 50–5
23. महाभारत, ''विदुरहितवाक्य'', 5, 32–40
24. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य, पद्म, गुरुचरण सिंह, पूर्वोक्त, पृ० 148
25. (क) महाभारत–स्त्री पर्व, 2, 7, (ख) विंटरनित्स, एम०, पूर्वोक्त, पृ० 30
26. मध्यकाल के सब भक्तों–सन्तों की वाणी इस तत्व के सहस्त्रों प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

महाभारत तथा मुख्यतः शान्तिपर्व के मोक्षधर्म में ऐसी अनेक निजंधरी कथाएँ और आचार सम्बंधी उपदेश प्राप्त हैं, जो मूलतः बौद्ध अथवा जैन तथा परवर्ती लोकधर्मों और मध्यकालीन निर्गुण सन्तों–भक्तों की वाणियों के पूर्वकालीन संस्करण प्रतीत होते हैं। शान्तिपर्व (142–149)में व्याध तथा पेंडुकी की कथा मूलतः जैन प्रतीत होती है। मुद्गल आख्यान (3, 260) भी इसी कोटि में आता है। मार्कण्डेय पुराण के राजा विपश्चित नरक-यातना से पीड़ित व्यक्तियों की शान्ति के लिए और सुख के लिए स्वर्ग जाने से इनकार कर देते हैं। महाभारत में राजा शिवि (3–100,197,13–32) बाज़ से कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का माँस काट कर प्रस्तुत करता है।

संन्यास तथा त्याग सम्बंधी इन विचारों का सम्बंध योग की एक प्राचीन प्रणाली से था, जो आचार–शास्त्र की एक विधि और मोक्ष–प्राप्ति का सक्रिय सिद्धान्त था। इन्हें सांख्य और बौद्ध–जैन उपदेशों के साथ सरलता से संयोजित किया जा सकता है। भले ही सांख्य तथा योग की इन स्वतंत्र परम्पराओं को बाद में परम्परावादी ब्राह्मण धर्म से समन्वित करने के प्रयास हुए हैं[27] परन्तु उपर्युक्त विवेचन से ब्राह्मण विचारधारा और दर्शन–परम्परा के समानान्तर एक अन्य सशक्त दर्शन–परम्परा की विद्यमानता का निश्चय हो जाना चाहिए, जो परवर्ती काल में बौद्ध, जैन, नाथ पंथी, सिद्ध तथा मध्यकाल में निर्गुण–भक्ति और सन्त परम्परा की विविध धाराओं के रूप में लोक के पुनर्जागरण का आधार बनी।[28]

मध्यकालीन लोकजागरण और सन्त काव्य

कबीर, गुरु नानक देव, सन्त गुरु रविदास, गुरु तेग बहादुर तथा अन्य सभी सन्त असंदिग्ध रूप में परिशुद्धतावादी परम्परा के समानान्तर भारत में अति प्राचीनकाल से प्रवाहित होने वाली, तथा विकासक्रम में समय समय पर उभरने वाली, लोकधर्मों तथा लोक–आस्था की सरणी के महत्वपूर्ण मध्यकालीन प्रस्फुटन माने जा सकते हैं।[29] लोकधर्मों और लोक व्यवस्थाओं के इन मध्ययुगीन नेताओं के धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन एवं आचार में जो भेद लक्षित होता भी है, वह देश–काल के भेद की सतही परिणतिमात्र है। मूल आस्था लगभग सर्वत्र एक सी है, तथा उसमें त्याग, दया, क्षमा, ममत्वहीनता, विश्व की नश्वरता, सच्चरित्रता तथा ईश्वरीय दयालुता के प्रति आस्था के तत्व समान हैं।[30] इन सब धर्मों और विचार परम्पराओं की पराजागतिक (ट्रांसेडेंटल) दृष्टि ने क्लासिकी–आभिजात्यवादी व्यवस्थाओं के दमन से परिचित नवजागृत लोक को जो नवीन मूल्य प्रदान किए, वे संभवतः इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। क्लासिकी विश्व के धन–सम्पत्ति जैसे भौतिक साधनों,

---

27. विंटरनित्स, एम०, पूर्वोक्त, पृ० 39–40
28. उपाध्ये ए० एन०, पूर्वोक्त, पृ० 15
29. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, ''गुरु तेग बहादुर वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम'' (लेख), रमेश कुन्तल मेघ (सं०) **नवम गुरु पर बारह निबंध**, अमृतसर : गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, 1977, पृ० 211
30. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, ''सन्त गुरु रविदास की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम'' (लेख), आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद (सं०) **युगप्रवर्तक संत गुरु रविदास**
जालंधर : दीपक पब्लिशर्ज, 1983, पृ० 135–136

परम्परित शक्ति–केन्द्रों तथा अभिजात्यवादी मूल्यों के समक्ष प्रश्न-चिन्ह लगाकर इन्होंने एक झटके से लाखों–करोड़ों की संख्या में सर्वसामान्य लोक को मानसिक–वैचारिक दासता से मुक्त कर दिया ।[31] अपनी पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) परिकल्पना में उन्होंने लोक को ऐसे मूल्यों, विश्वासों और भविष्य का आश्वासन दिया, जो सुनिश्चित जागतिक जीवन से बहुत महान, श्रेष्ठ और काम्य थे । यही लोकजागरण का निर्धारक तत्व है । यही तत्व कबीर, गुरु नानक देव जैसे मध्यकालीन लोक नेताओं को केवल भाषा–कवि अथवा धर्म–गुरु की सीमा तक परिसीमित न करके, सामाजिक संदर्भ, सामाजिक संगति, सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक क्रान्ति की महनीय प्रतिबद्धता के श्लाकापुरुषों की भूमिका प्रदान करता है । इस नवजागरण में इनका त्याग, संन्यास या विश्व की क्षणभंगुरता का स्वर इनके पलायन को सूचित नहीं करता । यह इनकी वैयक्तिक मोक्ष–कामना की स्वार्थ–वृत्ति को भी सूचित नहीं करता । यह आभिजात्यवादी सम्पन्नता, अर्थ की वरीयता और नकली मूल्यों के प्रति एक प्रकार की स्वाभिमानपूर्ण वितृष्णा, घृणा तथा अमान्यता को स्पष्ट करता है, तथा अधिक स्वस्थ, निर्भयतापूर्ण और काम्य वैश्विक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन का आश्वासन देता है । यह कहा जा सकता है कि सन्तों की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम उनके वैयक्तिक तथा मतवादी आयामों की अपेक्षा अधिक समाजोन्मुख और अधिक प्रतिबद्ध हैं, तथा लोक के जागरण की अन्तरराष्ट्रीय (मध्यकालीन) धारा के अनुकूल होने के कारण अधिक प्रभाव वहन करने में सक्षम हैं ।[32]

---

31. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, ''मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन'' (लेख) , **परिशोध 14,** चंडीगढ़ : हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, जनवरी, 1971, पृ॰ 44–50

32. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस,** दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल सांयसेस, 1971, पृ॰ 27–30

अध्याय 10

मूर्तिभंजक कबीर

1. विषय उपस्थापन

कबीर मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उस महत्वपूर्ण मोड़ पर खड़े मिलते हैं जहां साहित्य धारा के वेग को हाथ देकर रोकना और उसे नया–दिशा निर्देश देना जातीय जीवन के लिए अनिवार्य था। विधि ने यह युगांतरकारी महाकार्य करने का दायित्व इस महाकवि के जिम्मे डाला था, जिसे वह भरपूर निभाते हैं। क्रान्तिकारी की भूमिका बहते जल के साथ–साथ बहने–तैरने वाले की तरह सहज नहीं होती। क्रान्तिकारी को गलत परम्पराओं, दूषित मान्यताओं, अनिष्टकारी रूढ़ियों आदि के पाश–जाल को सतत छिन्न–भिन्न करते हुए एक रौद्र विनाशक की भूमिका में उतरना पड़ता है। उसके साथ ही उसे नवीन मूल्यों, मान्यताओं, परम्पराओं तथा आस्थाओं का उतने ही आग्रह, शक्तिमत्ता और वेग के साथ बीज–वपन तथा मूल–स्थापन करना होता है। उसकी यही विनाशकारी एवं फिर निर्माणकारी भूमिका ही युग नेता की विशिष्टता होती है। कबीर के व्यक्तित्व में ये तत्व बहुत उभरे हुए मिलते हैं। हिन्दी के युगान्तरकारी रचनाकार के रूप में उनका व्यक्तित्व अपने समकालीनों से हाथभर ऊंचा दूर से दिखाई देता है। इस संदर्भ में इन में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण लक्षित होता है वह है – विद्रोह की भावना, मूर्तिभंजन की वृत्ति (आइकनोक्लाज्म)। कबीर वस्तुतः रूढ़ियों और परम्पराओं की असद् मूर्तियों को तोड़कर सही मानों में सत्य की स्थापना करने वाले महान पुरुष थे।

2. सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

विद्रोह की भावना मिथ्या, अन्यायपूर्ण, ढोंगी और आततायी स्थिति से सामना करने पर निष्पन्न होती है। व्यक्ति जब दासता की मनोवृत्ति से उबरने के लिए प्रयत्नशील होता है और समानता की मनोभूमि पर अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्षरत होता है, तभी विद्रोह का शिलान्यास होता है। अधिकारों के प्रति सजगता, संघर्षशील प्रवृत्ति और मुक्ति–कामना, विद्रोह की मूलभूत प्रवृत्तियां हैं।

विद्रोह मानव जीवन का अनिवार्य सत्य एवं विकास का महत्वपूर्ण उपादान रहा है। परन्तु विद्रोह का चयन आधुनिक मानव की तो अस्तित्वगत अतः सामाजिक विवशता बन गयी है। घिनौनी स्थितियों और सड़ांधपूर्ण वातावरण में आत्महत्या और अस्तित्व में से अस्तित्व को वैकल्पिक रूप में चुनने का सरलतम आशय विद्रोह का चयन करना ही है। जीने के लिए विद्रोह आवश्यक है। तभी जीना प्रामाणिक और प्रमाणित हो सकता है।

सामाजिक जीवन में एक व्यक्ति का विद्रोह केवल उसी तक सीमित नहीं रहता। सामाजिक रूढ़ि की पाषाण–शिला पर आघात करके वह जन–जन के जीवन को एक नवीन कम्पन, नई झंकार, नई जागृति, नई अपेक्षा से भर देता है। विद्रोह अनेक बार कठोर और सुदृढ़ प्राचीरों को भंग करने में विफल भी रहता है। उस अवसर पर निहित–स्वार्थ सफलता में मुस्कराता है, पर विद्रोही द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करने वाला बहुवर्ग खिन्न होता है, मर्मान्तक चोट अनुभव करता है और विद्रोही नेता को प्रकारान्तर से अधिक कड़ा प्रहार करने का मानसिक–अवचेतन सम्बल, निमंत्रण और चुनौती प्रस्तुत करता है। व्यक्ति का विद्रोह व्यक्ति सीमाओं की संकरी गलियों के चक्रव्यूह का भेदन करके संपूर्ण समाज में संचरण करता है। सामाजिक–राजनीतिक परिस्थिति से अलग–थलग और बाहर पड़े रहकर तथा वैयक्तिक स्तरों पर विद्रोह की कल्पना करना उपहास मात्र बनकर रह जाता है। विद्रोह की इसी सामाजिक प्रासंगिकता के संदर्भ में मध्यकाल के महाकवि कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन इस लेख की अध्ययन–सीमा है।

3. मूर्तिभंजक कबीर

3.1 कबीर : युगीन परिस्थितियां

कबीर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियां अपने चरम शिखर पर थीं। राजनीतिक परिस्थितियां पूरी तरह अस्थिर थीं। राजवंशों में कोई स्थिरता नहीं थी। उनकी नीति तो इससे भी अधिक अल्पस्थायी और अस्थिर थी। हर समय राज–परिवर्तन की सम्भावना और आशंका बनी रहती थी। जनता पर इस प्रकार के गौरव–गरिमा–मुक्त और इतिहास–पुष्ट मर्यादा से विहीन शासकों का शोषण और अत्याचार आत्यंतिक सीमा छू रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन शासन के प्रति जन–सामान्य में श्रद्धा, आस्था, विश्वास और भक्ति के भाव शेष नहीं थे। तुलसी की- ''कोउ नृप होऊ हमही का हानि –'' वाली स्थिति चरितार्थ हो रही थी। लोदी वंश का शासन भारतीय इतिहास का बहुत अधिक शोषण, उत्पीड़न और आतंक का काल था, जब कबीर का आविर्भाव हुआ।

धार्मिकं दृष्टि से भी मतवादों का बहुवाद फैला हुआ था। गुह्य साधनाओं, तंत्र–मन्त्र का जनसामान्य में खूब प्रचार था। नाथ सम्प्रदाय हिन्दू–मुसलमान दोनों को प्रभावित कर रहा था। सूफी मत भी हिन्दुओं–मुसलमानों में पर्याप्त श्रद्धा व मान प्राप्त कर रहा था। वेदान्त का अद्वैत का सिद्धान्त आठवीं शती से ही प्रचार पा रहा था। इसके साथ ही रामानन्द का भक्ति आंदोलन राम और कृष्ण के अनन्त नामों के साथ जन–जन के मानस में बसने का उपक्रम करने लगा था। दक्षिण के सन्तों ने अपने पर्यटन के साथ निर्गुण ब्रह्म की सेवा विट्ठल के नाम से प्रचारित की थी। इस प्रकार पूरी तरह विश्रृंखलित, पूर्व तंत्रकाल की अपेक्षा इस काल में धार्मिक परिस्थितियां अपने विविध प्रकार के विश्वासों के साथ बल–संग्रह करके एक नवीन धार्मिक, सामाजिक नवजागरण के लिए भूमिका–निर्माण कर रही थीं।

सामाजिक व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म के कारण विश्रृंखलता आ रही थी। पूर्वकाल के समान प्रत्येक वर्ण अपने–अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति अडिग आस्था से सम्पन्न नहीं

रह गया था । अभिजात वर्ग उत्तरदायित्व-विहीन होते जा रहे थे । निम्न वर्गों के मन में अभिजात वर्ग के प्रति पूज्य भाव समाप्त हो रहा था । परिणामतः ब्राह्मण–शूद्र विभेद और आक्रोश अभिवृद्धि प्राप्त कर रहा था । मुसलमान शासन में न केवल शासक वर्ग में ही वरन् मुसलमान मात्र की महत–ग्रंथि विस्फीत हो रही थी, परिणामतः हिन्दू–मुस्लिम विद्वेष बढ़ रहा था । जाति का आधार कर्म, कर्त्तव्य, गुण आदि न होकर केवल कर्मकाण्ड बनता जा रहा था, और बाहरी वेश–भूषा और आचार की विविधता ही मानसिक स्तर का मूल्यांकन कर रही थी ।

ये धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां किसी युग–नेता के आविर्भाव को मानो निमंत्रण भेज रही थीं, और कबीर इस मांग की पूर्ति के श्रेष्ठ माध्यम बनकर अवतरित होते हैं । विद्रोही नेता की सब से बड़ी विशेषता उसका महत् गुण होता है, वह कहीं से कच्चा, कमज़ोर नहीं होता । वह पतनशील (फालिबल) नहीं होता । उसके मन में अन्य के सन्दर्भ में हीनता–ग्रंथि नहीं होनी चाहिए, अन्यथा उसका विद्रोह ईर्ष्याजन्य बनकर नीच–प्रतिक्रिया मात्र रह जाती है । यह अद्‌भुत संयोग है कि कबीर का जन्म ही उन्हें विद्रोही गुणों से समन्वित करके उस दिशा में उनके व्यक्तित्व के विकास की दिशा–निर्देशित कर देता है । कबीर हिन्दू नहीं थे, पर साथ ही वह परम्परित इस्लामी परिवार में भी जन्मे या पालित नहीं हुए । कबीर के माता–पिता अथवा पालक उस वर्ग के मुसलमान थे, जो नाथपंथ से प्रभावित निम्नवर्गीय जुलाहे थे, तथा जो हिन्दू और इस्लाम दोनों की कट्टरता से मुक्त थे । यदि उनके जन्म सम्बंधी किंवदन्ती को स्वीकार किया जाए, तो वह उच्च-वर्गीय हिन्दू (ब्राह्मण) तो थे, पर उस वर्ग में परित्यक्त होकर उनका पालन उन्हें ब्राह्मणवर्गीय कट्टरता या जड़ता से मुक्त कर देता है । वाराणसी में जन्म स्वयं में महत्वपूर्ण तथ्य है । वाराणसी देश की आध्यात्मिक राजधानी रही है तथा हर धार्मिक–सांस्कृतिक आन्दोलन वाराणसी में ही सफलता या विफलता प्राप्त करता रहा है । कबीर सुविधा-भोगी अभिजातवर्ग से सम्बद्ध नहीं थे, जो दूसरे के श्रम के आधार पर जीता व आनन्द से जीता है । पर कबीर कृषि–दास या हरिजनों के उस वर्ग से भी नहीं थे, जिन्हें पशुवत् रखा और दोहित किया जाता है । वह वास्तव में अपने कला–शिल्प के श्रम पर जीने वाले वर्ग से सम्बद्ध थे, जो न तो अभिजात के दोषों से आक्रान्त होता है न पशुवत् जीवन के स्वीकार द्वारा निम्नतम स्तर पर जीने को बाध्य होता है । यही कारण है कि जन्मतः तथा बाद में परिवेशगत परिस्थितियों से बल प्राप्त करके कबीर का शक्तिशाली विद्रोही व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित हो सका और वह धर्म तथा समाज के संघटन के लिए समस्त बाह्याचारों का अन्त करने और प्रेम से समान धरातल पर रहने का एक सर्वमान्य सिद्धान्त प्रतिपादित कर सके ।

गलत रूढ़ियों के विरोध, परम्पराओं के उचित संचयन तथा परिस्थितियों की प्रेरणा में कबीर ने ऐसे विश्वधर्म की स्थापना की जो जन–जीवन को व्यावहारिकता में उतार सके और अन्य धर्मों के प्रसार में समानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके । कबीर ने उस रूप को इतना सहज और स्वाभाविक बना दिया तथा अपनी विचारधारा के सत्य से इसे इतना प्रखर बना दिया कि विविध वर्ग और विचार वाले व्यक्ति अधिक से अधिक संख्या में उसे स्वीकार कर सकें तथा अपने जीवन का अंग बनाने में समर्थ हुए ।

3.2 अन्य मध्यकालीन विचारक और कबीर

मध्य युग में तीन वर्गों के विचारक हुए हैं – रूढ़िवादी, सामंजस्यवादी और स्वतंत्र। रूढ़िवादी विचारक अधिकतर शास्त्राचार्य थे। शास्त्रीय विधि–विधान तथा वर्णाश्रम धर्म में आस्था और श्रुति प्रामाण्यवाद का अनुयायी होना इनकी मुख्य विशेषता थी। शंकराचार्य इस वर्ग के नेता हुए हैं तथा विष्णु स्वामी, निम्बारकाचार्य, वल्लभाचार्य आदि मध्यकाल में इस वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि थे। सामंजस्यवादी विचारकों के प्रमुख और प्रथम अधिनायक स्वामी रामानुजाचार्य थे। शास्त्रीय वर्णाश्रम का पालन करते हुए भी शूद्रों के प्रति ये स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण थे। उन्होंने शूद्रों के लिए भी प्रापत्तिमार्ग खोल दिया था। इस वर्ग में विविध विरोधी तत्वों में सामंजस्य का महत्वपूर्ण प्रयास करने वालों में तुलसी प्रमुख हुए। उनके पूर्व भी चैतन्य, नामदेव, रामदास, नरसिंह मेहता, तुकाराम आदि सन्त और भक्त हो चुके थे। मुसलमानों में भी रूढ़िवादी इस्लाम का स्वतंत्र चिन्तामूलक सूफी मत से सामंजस्य स्थापित करने वाले सामंजस्यवादी विचारक हुए, जिनमें अलगज्जाली मुख्य स्वीकार किए जाते हैं। तीसरा वर्ग उदात्तवृत्ति वाले स्वतंत्र चिंतकों का था। इन्हें ही सही अर्थों में क्रान्तिकारी, विद्रोही, युगान्तकारी तथा मूर्तिभंजक विशेषण दिया जा सकता है। रूढ़िवादी विचारधारा का खण्डन और सर्वतोमुखी सुधार इनका लक्ष्य था। शास्त्रीय विधि–विधान, वर्णाश्रम धर्म और श्रुति प्रामाण्यवाद में इन्हें कोई आस्था नहीं थी। अंधानुसरण और अंधविश्वास से इन्हें विरोध था और घृणा थी। स्वभाव से ये संत बुद्धिवादी और विचारों में पूरी तरह स्वतंत्र थे। रामानन्द इस वर्ग के नेता और कबीर इसके मुख्य प्रस्तोता, व्यावहारिक रूप में चिन्तन को चरितार्थ करने वाले तथा प्रमुख कवि थे।

अपने युग की विश्रृंखलता कबीर को सहनीय नहीं थी। अतः युगीन विचार–धाराओं को मर्यादित करके उन्होंने एक स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया। कबीर की सदाचरण- प्रधान धारा ने उत्तर भारतीय पतन को उस युग में रोकने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई। दक्षिण में भी लिंगायत, सिद्धरा आदि सम्प्रदाय स्वतंत्र चिन्तन और समाज–सुधार की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, पर कबीर के समान उन्हें सम्मान और मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इन सबकी तुलना में कबीर सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न और लोकरुचि के पारखी थे। ये चिन्तक समाज और धर्म के सुधार पर अवश्य बहुत बल देते हैं पर उतना महत्व दर्शन को नहीं देते। दर्शन वस्तुतः अधिक स्थायी, अधिक प्रभावपूर्ण और देश–काल की सीमाओं का अतिक्रमण करने की क्षमता से सम्पन्न होता है। कबीर उच्च कोटि के समाज-सुधारक, धर्म-सुधारक और उपदेशक होने के साथ–साथ बड़े दार्शनिक भी थे। हर नए शोध के साथ नित्य प्रति कबीर के दार्शनिक गाम्भीर्य की विशिष्टता उद्घाटित होती जा रही है, उनका महत्व स्पष्ट होता जा रहा है और युगांतरकारी नेता के रूप में उनकी छवि प्रकट होती जा रही है। मध्यकालीन भारतीय मुसलमानों में भी कबीर की कोटि का कोई सामाजिक नेता लक्षित नहीं होता। इस्लाम में स्वतंत्र चिन्तन के लिए स्थान नहीं रहा है। सूफीमत में इसके लिए अवश्य अवकाश रहा है, पर इसके लिए सूफियों को भारी मूल्य चुकाना पड़ा। मंसूर हल्लाज की फांसी इसका प्रमाण है। अलगज्जाली अवश्य इस्लाम और सूफीमत में सामंजस्य स्थापित करके स्थिति को संभालने में योगदान देता है। इस प्रकार मंसूर

हल्लाज को कबीर से किसी सीमा तक तुलनीय माना जा सकता है, पर क्योंकि मंसूर का भारत से कोई सम्बंध नहीं था, अतः यह तुलना विशेष सार्थक नहीं।

कबीर–युग में इस्लाम प्रचण्ड वेग से फैलता जा रहा था। उसके अप्रतिहत प्रवाह में अनेक पीड़ित निम्न जातियां समाती जा रही थीं। कबीर स्वयं इसी वर्ग की सद्यः धर्मपरिवर्तित जाति से सम्बद्ध थे। अपनी स्वतंत्र चिन्तना के आधार पर कबीर धर्मपरिवर्तन के इस उठते तूफ़ान को न केवल यथाशक्ति रोक देते हैं, बल्कि जनसाधारण में भेद–भाव–विहीन, बुद्धिवादी, सहज धर्म की प्रतिष्ठा करके उन्हें हर प्रकार के रूढ़ि–बन्धनों से मुक्त कर देते हैं। वह उस वर्ग को एक नया व्यक्तित्व, नई अस्मिता, नया धर्म, नया ईश्वर, नई चेतना तथा नई व्यवस्था प्रदान करते हैं। सर्वसाधारण जनता में स्वतंत्रता–पूर्वक सोचने की शक्ति और साहस का प्रादुर्भाव कबीर की सब से बड़ी देन मानी जा सकती है। जनसामान्य अब हिन्दू और इस्लाम दोनों की जबदी परम्पराओं से मुक्त होने में प्रयासरत होता है। वह इन दोनों से और विशेष रूप में प्रबल वेग से फैलते हुए इस्लाम से भी अधिक सरल, अधिक व्यावहारिक और अधिक बुद्धिवादी धर्म के कबीर–प्रतिपादित स्वरूप को देखकर मुग्ध हो जाता है। उनके बाद भी उनके शिष्यों द्वारा यह जनजागरण जारी रहता है। कुछ कबीर के प्रत्यक्ष प्रभाव में तथा कुछ उनके विचारों तथा मत के फैलाव के प्रभावान्तर्गत अनेक समान एवं समानान्तर मतों का प्रसार होता है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में नानक, दादू, लालदास, धरनीदास, चरनदास, नारायण, गरीबदास, पलटू, पीपा, प्राणनाथ, राधा स्वामी सत्संग, यारी साहिब, बुल्ला साहिब और दरिया साहिब के पंथों और विचारों के विकास–प्रसार को कबीर के द्वारा अभिप्रेरित जनजागरण के संदर्भ में ही देखा जाना अधिक संगत प्रतीत होता है।

3.3 कबीर : विद्रोही मुद्रा में

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीरदास की वाणी वह लता है, जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई। हठयोगियों और भक्तों में एक मूलभूत अन्तर था कि जोगी टूट जाता था पर झुकता न था, जबकि भक्त झुक जाता था टूटता नहीं था। योगी के लिए समाज की ऊंच–नीच की भावना मज़ाक और आक्रमण का विषय थी, जबकि भक्त के लिए मर्यादा और स्फूर्ति थी। योगी के लिए ज्ञान गर्व का विषय था, पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था, अपने पर भरोसा था और प्रेम दुर्बल भाव था, पर भक्त के लिए अपने अज्ञान पर आस्था थी, समस्त ब्रह्माण्ड भी पिण्ड था, राम पर भरोसा था और ज्ञान कठोर तथ्य था। श्रद्धालु गृहस्थ के मन में योगी ने शंका उत्पन्न कर दी। माया, भवजाल, चौरासी लाख योनियों के चक्र और साधना मार्ग की दुष्करता ने उसे लाचार बना दिया। दूसरी ओर भक्त ने उसके मन में शंकामुक्ति, निश्चिन्तता, यहां तक कि लापरवाही का भाव भर दिया। गलती से एक बार हरिनाम ले लिया, वैष्णव तिलक लगा लिया, तुलसीमाला धारण कर ली, तो बैकुण्ठ का दरवाज़ा खुल गया।

कबीरदास को अक्खड़ता योगियों से विरासत में मिली थी, पर यह इनका प्रधान गुण नहीं था। अवधू या योगी को सम्बोधित करते हुए ही उनकी अक्खड़ता बढ़ावे पर होती है। वह योग के विकट रूपों का अवतरण करते हैं। गगन और पवन की पहेली बुझाते हैं, सुन्न

और सहज का रहस्य पूछते हैं, द्वैत और अद्वैत के तत्व की चर्चा करते हैं और फिर अवधू के अज्ञान पर कुटिल हंसी हंसते हैं । वह पूछते हैं —

अवधू, अच्छरहूं सो न्यारा ।
जो तुम पवन गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा ।
गगना पवना दोनों बिनसे, कहां गया जोग तुम्हारा ।

योगी अवधू यही भाषा समझते थे । उनको सम्बोधित करते हुए वह पूरी तरह अक्खड़ता से काम लेते हैं, अपने व्यक्तित्व को बहुत ऊंचे उठा कर बात करते हैं, विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करते हैं, और खूबी यह कि यह इनकी अनधिकार चेष्टा नहीं थी ।

परन्तु साथ ही कबीर स्वभाव के फक्कड़, सत्य के खोजी थे, और अपना घर जला कर हाथ में मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे । वह अपना घर स्वयं अपने हाथों जलाने में समर्थ को अपना साथी बनाने को उद्यत थे । वह सिर से पैर तक मस्त–मौला थे, भूत, वर्तमान और भविष्य सब के हिसाब–किताब से मुक्त । वह प्रेम के मतवाले थे, पर इस वर्ग के मतवाले नहीं, जो विरह में तड़पते, आहें भरते हैं । जहां प्रिय से क्षण भर का भी वियोग नहीं, जहां द्वैत ही मिट गया, वहां बेचैनी, बेकरारी और तड़पन कहां । यह अनन्य भक्त का रूप है । कबीर की यह घरफूंक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वास का परिणाम थी । उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान, गुरु और साधना पर सन्देह नहीं किया । कबीर का स्वयं अपने प्रति और अपने प्रियतम के प्रति अखण्ड, अडिग विश्वास उनकी कविता में अद्‌भुत शक्ति भर देता है । उनके हृदय से निकले भाव सीधे श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालते हैं । इसी सरलता और विश्वास के कारण अपने प्रिय के समक्ष बहुत विनीत और हतदर्प होकर वह राम के कुत्ते के रूप में 'मुतिया' नाम से अपना परिचय देते हैं । पर कहीं भी प्रिय से शिकायत नहीं, मचलन नहीं, उपालम्भ नहीं, महान की महत् मर्यादा को अपनी ससीमता से गंदला करने का उपक्रम नहीं । है तो बस सम्पूर्ण आत्मसंमर्पण, अडिग भक्ति और पूर्ण आत्मविश्वास ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर की इस शक्ति का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि सरल व्यक्ति ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है और निष्ठावान ही विनीत होता है । यही कारण है कि अवधू को गगन–गुफा ज्ञान के लिए ललकारने वाला, शास्त्र और परम्परा के जाल को छिन्न–भिन्न कर डालने वाला, प्रतिपक्ष पर सीधा आघात करने वाला तथा अपने सत्य-ज्ञान के विषँय में सदा आश्वस्त तथा सजग कबीर अपने राम के समक्ष 'मुतिया' बनकर मानो कुत्ते की समग्र निरीहता के साथ दुम हिलाता सामने खड़ा हो जाता है ।

अवधू पर आक्रमण करते हुए कबीर सावधान रहते हैं । यह उनका जाना-पहचाना क्षेत्र है । 'पंडित' या 'शेख' पर आक्रमण करते हुए वह उतने सावधान नहीं । उन्हें वह नगण्य जीव, बाह्याचारों के गट्ठर और कुसंस्कारों के पुतले-मात्र मानते हैं । आक्रमण भी उतना उग्र नहीं होता । सामान्य हिन्दू गृहस्थ पर आक्रमण तो पूरी लापरवाही से पूर्ण होता है, मानो वह आक्रमण के योग्य भी न हों । यही लापरवाही उनके व्यंग्य की जान है । द्विवेदी जी कहते हैं कि

आज तक हिन्दी में ऐसा ज़बरदस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ । उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यंत सादी किन्तु अत्यंत तेज प्रकाशन–भंगी अत्यंत असाधारण है । बाह्याचारों पर आक्रमण करने वाले सन्तों और योगियों की कमी नहीं, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर से पहले बहुत कम दिखाई दी है । व्यंग्य वह है, जहां कहने वाला होठों–होठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो । कहने वाला अपनी ओर से एकदम निश्चिन्त है, तभी तो वह इतना करारा व्यंग्य कर सकता है ।

सिद्धों और योगियों ने भी प्रबल आक्रमण अपनी वाणियों में किए, पर उनमें हीनता–ग्रंथि सक्रिय प्रतीत होती है । उनमें कबीर की लापरवाही, मस्ती, मृदुता, रस और जीवन नहीं है, बल्कि तर्क, आक्रोश और तीव्रता मात्र है । वे कहीं अपनी कमजोरी से अवचेतन में अवगत और आक्रान्त रहे हैं । परन्तु कबीर की मस्ती के पीछे लापरवाही और आत्मविश्वास के कवच तथा अस्त्र विद्यमान हैं, और वह स्वयं को आक्रमण के योग्य दुर्गुणों से मुक्त अनुभव करते हैं । कबीर उस वर्ग में पैदा हुए थे, जिस पर योगियों–सिद्धों का तो पूर्ण प्रभाव था, पर जो ऐतिहासिक कारणों से इस्लाम ग्रहण करने पर भी राजधर्म की उच्च भावना नहीं पा सका था । उधर हिन्दुओं में तो वह नीच वर्ग था ही । ऐसे वर्ग के कबीर के लिए ऊंच–नीच और तर्क–दर्शन बुद्धि–विलास की बात न होकर जीवन–मरण का प्रश्न था । वह उन शास्त्रीय विचारों से पूरी तरह मुक्त थे जो ऊंच–नीच को तर्कसंगत सिद्ध करते हैं तथा जो समाज का कल्याण उसके स्थितिशील रूप में ही देखते हैं । यही कारण है कि उनमें निर्भीक आक्रमणकारिता है । उनको अपनी निर्दोषिता पर पूर्ण भरोसा है, लापरवाही उनका कवच है और आत्म–विश्वास आक्रामक हो गया है । पुराणों के आख्यानों में देवताओं, मुनियों तथा ऋषियों के अवगुणों तथा कमज़ोरियों का भी उल्लेख मिलता है । अपनी इसी आत्मविश्वासपूर्ण आक्रामकता में ही कबीर कहते हैं कि जिन पांच तत्वों की चादर को सुर, नर, मुनि भी ओढ़ कर मैली होने से नहीं बचा सके, उसे ही कबीर मैली नहीं होने देते । इस उक्ति में कबीर का दम्भ या घमण्ड नहीं, अपनी शुचिता, सरलता और शुद्धता का अडिग विश्वास ही प्रकट है । कबीर जो भी कहते, वह आत्मविश्वास पर आधारित होने के कारण सीधा चोट करने में समर्थ होता था । पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध और योगी पोथी की निन्दा बहुत करते थे, पर पोथी उनकी पढ़ी होती थी, और भीतर ही भीतर वह उसकी महिमा से भी कहीं अभिभूत होते थे । उनमें कबीर के उस आत्मविश्वास का अभाव था, जिसके आधार पर वह कह सकें :-

मैं कहता हौं आंखिन देखी । तू कहता कागद की लेखी ।
मैं कहता सुरझावनहारी । तू राख्यो अरुझाई रे ।।

कबीर में सहजता है, संतुलन है, समता है, पर जिसे वह गलत मानते हैं उसे क्षमा करने का सामर्थ्य नहीं है । वह सामाजिक ऊंच–नीच, मर्यादा के समर्थकों और आग्रह–कर्त्ताओं को कभी क्षमा नहीं कर सके । भगवान के नाम पर पाखण्ड करने वाले उनके आघात से कभी बच नहीं सके । ऐसे अवसर पर वह बहुत उग्र, कठोर और प्रचण्ड हो उठते थे । गुमराह होने वालों का दोष उघाड़ने में भी वह चुटकी और आनन्द लेते थे । गंगा नहाने वालियों संबंधी उनका एक पद इस व्यंग्य एवं तृप्ति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है :-

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय ।
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन, घूंघट ओटे मसकत जाय ।
गठरी बांधिन मोटरी बांधिन, खसम के मूंडे दिहिन धराय ।
बिछुवा पहिरिन ओंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय ।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढ़ाय ।
पांच–पचीस के धक्का खाइन, घरहूं की पूंजी आई गंवाय ।
कहत कबीर हेत कर गुरसों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाइ ।।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कबीर की मूर्तिभंजक और युगप्रवर्तक की भूमिका को इन शब्दों में सरलता से कहा जा सकता है । कबीर युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और उनमें युगप्रवर्तक की दृढ़ता वर्तमान थी । इन्हीं गुणों के कारण युगप्रवर्तन में सफल हो सके । उनके व्यक्तित्व को एक वाक्य में इस प्रकार कहा जा सकता है – वह सिर से पैर तक मस्त–मौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, तथा जन्म से अस्पृश्य परन्तु कर्म से वन्दनीय थे ।

अध्याय 11

सन्त गुरु रविदास की 'वाणी' के समाजशास्त्रीय आयाम

विषय-उपस्थापन

मध्ययुगीन भारतीय लोकजागरण में भक्तों, सन्तों और लोकधर्मों से सम्बंधित गुरुओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन्त गुरु रविदास का इस परम्परा में महत्वपूर्ण एवं शीर्ष स्थान है। इनका जीवनकाल सन् 1388 और 1518 (सं० 1445-1575 वि०) के बीच माना जाता है।[1] गुरु रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में इनकी गणना होती है। इनके कबीर का समकालीन होनें सम्बन्धी धारणा भी सर्वमान्य है। कबीर के अपने शब्दों में ..... 'सन्तन में रविदास सन्त' से भी गुरु रविदास के उनका समकालीन या पूर्वकालीन होने की धारणा पुष्ट होती है। कबीर का समय 1456-1575 विक्रमी[2] स्वीकार होने के कारण रविदास की इसके आसपास विद्यमानता स्वीकार्य है।

अपनें समय के प्रसिद्ध भक्त, महात्मा और धर्मगुरु रविदास न केवल अपने सजातीय बन्धुओं के लिए बल्कि समग्र उत्तर भारत की धर्मपरायण जनता के लिए मध्यकालीन सामाजिक उथल-पुथल की अवस्था में महत्वपूर्ण सामाजिक, नैतिक और आंध्यात्मिक सम्बल सिद्ध हुए। सन्त रविदास की वाणी के समाजशास्त्रीय आयामों का अध्ययन प्रस्तुत निबन्ध का सन्दर्भ-फलक है।

विषय सन्दर्भ

ईसा की चौंदहवीं शती के अन्त से सोलहवीं शती के आरम्भ तक विद्यमान सन्त गुरु रविदास के सामाजिक और नैतिक दर्शन के समुचित अध्ययन के लिए उनकी 'वाणी' के सर्वेक्षण के अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितियों पर ऐतिहासिक विकासक्रम के परिप्रेक्ष्य में और सामाजिक अन्तः-सम्बन्धों पर सैद्धांतिक दृष्टि से संक्षिप्त विचार प्रासंगिक ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है। मध्यकालीन सामाजिक तथा नैतिक मानसिकता की सही पहचान के लिए विचार कुछ पीछे से हो तो सम्भवतः अधिक संगत होगा।

2.1 वाणी : संक्षिप्त सर्वेक्षण

सन्त गुरु रविदास की वाणी परिमाण में बहुत अधिक नहीं है, परन्तु तात्विक स्पष्टता और काव्य की एकतानता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। परम्परागत काव्य-शास्त्रीय नियमों

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–2, वाराणसी : 3, ज्ञानमण्डल, 2020 वि०, पृष्ठ 509–10
2. वही०

को सामान्यतः स्वीकार न करते हुए वाणी की रचना लौकिक परम्परा में प्रचलित रागों और पदों में हुई । 'रविदास-कबीर गोष्ठी' का आरम्भ चौपाई की नौ अर्धालियों से होता है और संवाद भाग 39 दोहों पर आधारित है । साखी भाग 41 दोहों पर आधारित है तथा 'प्रहलाद चरित' की रचना दो-दो सोरठे के बाद एक अर्धपंक्ति के घत्ते की परम्परा वाले 18 पदों में हुई है । कृष्णभक्त कवि नन्ददास द्वारा बाद में इसी छन्दयोजना को अपने 'भंवर गीत' के लिए प्रयुक्त किया गया ।

जीव, जगत, माया और ईश्वर के सम्बन्ध में गुरु रविदास की धारणा के सन्दर्भ में उनकी वाणी के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय अपनी लम्बी टिप्पणी में कहते हैं :–

सन्त रविदास की काव्यमय रचनाओं का उद्देश्य भी साहित्य-सृजन न होकर व्यक्ति और समाज का आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कार करना था । उनकी रचनाओं में रस, अलंकार और काव्य के विभिन्न गुणों को ढूंढना उचित नहीं । कबीर आदि अन्य सन्त कवियों की भाँति उनकी रचनाएं भी काव्य-प्रधान न होकर उपदेश और सन्देश-प्रधान हैं । नश्वर जगत में लीन, मोहांध तथा माया से भ्रमित मानव समाज को कल्याण मार्ग पर प्रशस्त करना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है । उसमें साहित्य का सौन्दर्य नहीं, सच्चे ज्ञान और भक्ति का रचनात्मक विवेचन है । अष्टांग साधना का महान् सन्देश सन्त रविदास की मौलिक देन है । ज्ञान और भक्ति की समन्वयात्मक विचारधारा का समावेश उनके काव्य में है । सन्त रविदास पहले भक्त थे और बाद में कवि । समाज सुधार एवं परिष्कार के लिए प्रचार की दृष्टि से उन्होंने अपने उपदेशों के लिए सामयिक रचना-प्रणाली को ही अपनाया था । पद और साखियों के रूप में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए हैं ।[3]

वाणी के अनुसार संसार पूर्णतः निस्सार है, सारयुक्त केवल ईश्वर और उसकी भक्ति ही है ।[4] 'प्रहलाद चरित' में राजा हिरण्याक्ष और भक्त प्रहलाद के संवाद में भी संसार की अनित्यता को रेखांकित किया गया है ।[5] भवजल रूपी व्याधि के लिए एक मात्र ज्ञान तत्व ही समुचित औषधि है ।[6] बाजीगर और उसकी बाजी के रूपक द्वारा जगत की अनित्यता और ईश्वर की नित्यता का वाणी में संकेत हुआ है ।[7]

---

3. स्वामी रामानन्द शास्त्री, वीरेन्द्र पाण्डेय, **सन्त रविदास और उनका काव्य**, हरिद्वार : भारतीय रविदास सेवा संघ, प्रथम संस्क०, 1955, पृष्ठ 88

4. जैसा रंग सेंबल करि, ह्वै तैसा यह संसार,
हों रंग रंगो राम महं, भभै रविदास विचार ।।9।। साखी भाग
बी० पी० शर्मा, **सन्त गुरु रविदास वाणी**, पृष्ठ 140

5. अवर सकल जंजाल, भी सागर जमलोक महं ।
मिथ्या सब संसार, मोहि कौन उतारे पार ।
इहं गुन हीं पढ्यो ।।3।। **वही०**, पृष्ठ 147

6. **वही०**, पद 91 (राग सारंग), पृष्ठ 106

7. **वही०**, पद 11, पृष्ठ 73

शरीर और जगत दोनों ही अनित्य हैं। यदि कोई सार्थक एवं नित्य तत्व है, तो वह केवल प्रभु नाम ही है।[8] धन और यौवन पर आशा रखना अन्ततः मृगमरीचिका ही सिद्ध होगा।[9] सब जागतिक सम्बन्ध निरर्थक हैं, सब संगी-साथी, मित्र-सम्बन्धी चार दिन के साथी मात्र हैं। इसलिए इन सब की आशा छोड़ कर श्री गोपाल के रंग में रंग जाना ही मानव जन्म की सार्थकता है।[10] सांसारिक सम्बन्ध मात्र माया का भ्रम है। कोई भी सगा या सम्बन्धी नहीं। प्राण निकलते ही सब सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह तथ्य है कि मरते ही तन जला डालने की किस प्रकार की हड़बड़ी देखी जाती है। हां केवल प्रभु-भक्ति ही इस अर्थहीन संसार में एकमात्र सार्थक तत्व है।[11] पंचविकार वैराग्य-मार्ग की सब से बड़ी बाधा हैं। सुत-पत्नी व अन्य सम्बन्ध मोह का कारण हैं। 'भगति च्यंतो तो मोह दुःख व्यापै, मोह च्यंतो तो सब भगति जाई....' की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता देर तक नहीं रहती, क्योंकि रविदास वैराग्य एवं पूर्ण शरणागति के महत्व को जानते-पहचानते हैं।[12]

शरीर नश्वर है, यह मद, अहंकार आदि का आधार है। आत्मा व परमात्मा का मिलन ही मानव की परम कामना है। इसे तन मिटने व मन मिलने की प्रक्रिया कहा जा सकता है।[13] मन जब-जब कामना व आशा से ग्रसित होता है, तब-तब विफल-काम होकर दुःख प्राप्त करता है। सर्व आशा-त्याग और परमपद-लीनता ही परम-सुख का एक मात्र साधन है।[14] शरीर नाशवान है, उसकी साजसज्जा निरर्थक है। धन-सम्पत्ति, भाई-बन्धु, पत्नी, पुत्र, कुटुम्ब तथा अन्य सम्बन्ध भी अनित्य एवं निरर्थक हैं। इन सब में उलझे मानव का जन्म ही निरर्थक हो जाता है। राम में पूर्ण शरणागति ही इस अवस्था में मानव के लिए एकमात्र सहारा है।[15] गुरु

---

8. वही०, पद 72, पृष्ठ 98–99
9. धन जोवन को झूठी आसा, सति सति भाषे जन 'रविदासा' ।।1।।
   वही०, पद 109 पृष्ठ 114
10. ऐ सबु संगी दिवस च्यार के, धन दारा सुत पित मात रे,
    बिछुरे मिलन बहुरि नह ह्वै हों, ज्यों तरवर छिन पात रे ।।1।।
    तौ कैसे हरिनाम लहुंगे,गरे अटके कफ–पित बातरे ।
    काल कराल भ्रमत फंदक ज्यूं, करत आचानी घात रे ।।2।।
    चेते नहिं अलपु मति मूरखि, छांडि अम्रित विषु खात रे ।
    कहि 'रविदास' आस तज औरे, श्री गोपालह रंग राच रे ।।3।।
    वही०, पद 67, पृष्ठ 96–97
11. वही०, पद 95, पृष्ठ 107–108
12. वही०, पद 101 (राग धनाश्री), पृष्ठ 110–111
13. वही०, पद 3, पृष्ठ 68
14. जब लगि भगति मुकति की आसा, परम तत्त सुनि गावै ।
    जहं जहं आस धरत है यह मन तहं तहं कछु न पावै ।।3।।
    छांडे आस निरास परमपद, तब सुख सति कर होई ।
    कहै 'रविदास' जासु अउर कहत है, परम सत्त है सोई ।।4।।
    वही०, पद 4, पृष्ठ 69
15. वही०, पद 122 (राग सोरठा), पृष्ठ 119, पद 123
    (राग सूही) पद 119, पद 148, पृष्ठ 129

का शब्द और सुरति ही कुदाली है, जो खोदेगा वही पाएगा । माया किसी के साथ नित्य नहीं रहेगी, इसलिए मानव रसना का एक मात्र साध्य नाम-जाप ही है ।[16] माया की महिमा और उससे ग्रसित प्राणी का रविदास ने बड़ा व्यंजक चित्रण किया है । आत्मदीनता के स्वर में गुरुवर कहते हैं [17] :–

मन मोरा माया महं लपटानो । (टेक)
विसा सक्त रहियो निसवासर, अजहूं नहि अघानो ।
कामी कुटिल लबार कुचाली, समझइ नहीं समुझानो ।।1।।

सति संगत पलु नहीं कीन्हीं, मन मूरिख बहु गरवानो ।
सोत खात दिनरैन बिताई, ताहि मैं रसना सुख मानो ।।2।।

माया मंहि हिल मिलि रहियो, फोकट साटे जनम गंवानो ।
कहि, 'रविदास' कछु चेत बावरे, राम नाम बिन नहि उबरानो ।।3।।

अहंकार सामान्य सामाजिक जीवन में भी काम्य नहीं माना जाता, फिर, भक्ति के लिए तो अहं सब से बड़ी बाधा रूप में स्वीकृत है । कबीर ने भी इस संदर्भ में कहा था –

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं ।
प्रेम गली अति सांकरी जा में दो न समाहीं ।।

गुरु रविदास ने अहं के कुप्रभाव का बहुत विस्तृत रूप में तथा अनेक पदों में उल्लेख किया है । आपा खोकर ही भक्ति और परम तत्व की प्राप्ति संभव है, यह उनके कथन का सार है ।[18]

---

16. गुरु कौ सबद अरु सुरति कुदाली, खोदत कोउ लहै रे ।
राम काहु के बांटे न आयो, सो नेकु लमहै रे ।।3।।
झूठी माया जग डहकाया, तो तीनि ताप दहै रे ।
कहै 'रविदास' राम जपि रसना, माया काहू के संग न रहै रे ।।4।।
वही०, पद 55, पृष्ठ 92

17. वही०, पद 145, पृष्ठ 127

18. अब गोरी बूड़ीरे भाई, ताथे चढ़ी लोक बड़ाई ।
अति अहंकार उर महं सत रज, ता में रहयो उरझाई ।।
काम बसि बझि परयो कछु न सूझे, स्वामी नांव भुलाई ।। 1 ।।
हम मानो गुनी जोग सुनि जुगता, हम महापुरुष रे भाई ।
हम मानो सूर सकल विध त्यागी, मैं ममिता नहीं मिटाई ।। 2 ।।
हम मानो अखिल सूनि मन सोध्यों, सब चेतनि सुधि पाई ।
ग्यान ध्यान सबहिं हम जानौ, बूझी कौन सूं जाई ।। 3 ।।
हम मानो परम प्रेम रस जानो, नौं विधि भगति कराई ।
स्वांग देखि सबहि जग डहक्यो, फिर आपन पौर वधाई ।। 4 ।।
सांग यहुं सांच न जानौ, लोगनि इहै भरमाई ।
स्यंघ रूप मेषी जब पहरी, बोली तब सुध पाई ।। 5 ।।
ऐसी भगति हमारी सन्तो, प्रभुता ऐह बड़ाई ।
आपन अनिन और नहीं मानत, ताथे मूल गंवाई ।। 6 ।।
भणै 'रविदास' उदास ताहि तें, अब कछु मोपे करयो न जाइ ।
आपा खोया भक्ति होत है, तब रहे अन्तर उरझाई ।। 7 ।।
वही०, पद 6, पृष्ठ 70–71

मानव की परमगति भगवत् प्राप्ति में ही है, पर इस मार्ग में अनेक बाधायें हैं । सर्वाधिक विरत करने वाली बाधायें बाहरी नहीं, आन्तरिक हैं । मनुष्य के अपने अहं के साथ, काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर जैसे विकार सहज रूप में उत्पन्न होते हैं । इन्हें माया-विस्तार कहा जा सकता है । इनका धर्म ही तत्व-मार्ग में रत मन को विरत करना है । साधक की विशेषता इसी तथ्य में निहित है कि वह इनके प्रपंच से बच जाए । पर यह भी अहंभाव से संभव नहीं । इसीलिए भी नाम का आधार, अहं का पूर्ण त्याग तथा अनन्य ईश्वर शरणागति ही एकमात्र मार्ग है । रविदास कहते हैं [19] :–

काम क्रोध माइया मद मत्सर, इन पंचहुं मिली लूटे ।।1।।

हम बड़ कवि कुलीन हम पण्डित, हम जोगी संनियासी ।
गियानी गुनी सूर हम दाते, इह बुधि कबहि न नासी ।।2।।

कहू रविदास सभै नहीं समझति, भूलि परे जैसे बउरे ।
मोहि अधारू नामु नाराइन, जीवन प्रान धन मोरे ।।3।।

रविदास के अनुसार मृग, भृंग, कुंजर और पतंग केवल एक दोष के कारण, अर्थात् एक लुब्धत्व के कारण विनाश को प्राप्त होते हैं । ऐसी अवस्था में पांच दोषों से ग्रसित मानव के लिए ईश्वर-शरणागति द्वारा अविद्या-नाश के अतिरिक्त और क्या उपाय संभव व सफल हो सकता है[20] ?

'मैं' और 'तू' की इस विलोम स्थिति को तथा मायाविष्ट होने की अवस्था को रविदास बहुत आकर्षक रूपक द्वारा व्यंजित करते हुए कहते हैं [21] :–

माधो, का कहिऐ भ्रम ऐसा, तुम कहीयत होहु न जैसा ।।
न्रिपति ऐक सेज सुख सूता, सुपिनें भया भिखारी ।
अछित राज बहोत दुख पायो, सो गति भई हमारी ।।1।।

जब हम हुते तब तुम नाहीं, अब तुम हो हम नांही ।
सलिता गवन कीओ महोदधि, जल केवल जल मांही ।।2।।

रजु भवंग रजनी परगासा, अस कछु मरम जनावा ।
समझि परी मोहि कनक अलंक्रित ज्यूं, अब कछु कहत न आवा ।।3।।

करता ऐक भाई जग भुगता, सब घटि सब विधि सोई ।
कहे 'रविदास' भगति इक उपजी, सहजै होई सू होई ।।4।।

---

19. वही०, पद 14 तथा 15, पृष्ठ 74–75
20. माधो : अविदिया हित कीन्ह, ताये मैं तोर नाम न लीन्ह ।। टेक।।
म्रिग मीन भ्रिंग पतंग कुंजर, एक दोष बिनास ।
पंच व्याधि असाधि इहि तन, कवन ताकी आस ।। 1 ।।
'रविदास' उदास तजु भ्रम, तपन तपु गुरु ध्यान ।
भगत जन भै हरन, परमानन्द करहु ध्यान ।। 4 ।।
वही०, पद 48, पृष्ठ 89
21. वही०, पद 69 (68), पृष्ठ 97

काम, लोभ, क्रोध, मोह तथा अहंकार की भीषणता का उल्लेख करते हुए नाम की नौका और गुरु के कर्णधार होने के रूपक द्वारा जीवन, जगत और ब्रह्म के सम्बन्ध को रविदास सुन्दर अभिव्यक्ति देते हैं ।[22]

मानव मन की रचना ही इस प्रकार हुई है कि वह कभी स्थिर नहीं रहता । माया-ममता से लिपटे इस मन की गति 'कुत्ते की दुम' की-सी है । गुरु का ज्ञान और प्रेम की छड़ी ही इसे कुबुद्धि और कुकर्म के मार्ग से विरत कर सकते हैं [23] :–

मनु मेरो थिरु न रहाई,
कोटि कौतिग करि दिषरावै, इत उत जग महिं धाई ।। टेक ।।
माया ममिता मोह लपटानो, दिन दिन उरझत जाई ।
सुआन पुच्छ कभु होइ न सूधो, कीजहु लाख उपाई ।।
गुरु को ग्यान प्रेम की सांटी, कुबुध कुकरम छुड़ाई ।
कहि 'रविदास' मन थिर हवैसी, चली सब छांडी गुर सरणाई ।। 7 ।।

सत्य-ज्ञान के बिना होने वाले सर्वकर्म भ्रममात्र हैं । भक्ति के विविध सोपान भी सत्य के साक्षात्कार के बिना भ्रम मात्र हैं । नृत्य, गीत, जप, तप, दान, सेवा, पूजा, षट-कर्म, संहिताबोध, गृहवास या वनगमन, इन्द्रिय-निग्रह, गुहावास – ये सब भी सत्य-बोध के अभाव में भ्रममात्र ही सिद्ध होंगे ।[24]

ईश्वर-भक्ति मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, पर इसके मार्ग में अनेक बाधायें इतनी महत्वपूर्ण और शक्तिशाली नहीं हैं, जितनी स्वयं मानव की आन्तरिक प्रवृत्तिगत बाधायें । सत, रज और तम गुणों में व्याप्त रहने पर निर्मल भक्ति सम्भव नहीं । इन्हीं कारणों से मनुष्य

---

22. अहो देव काम केसरि, काल भुजंग भामनी भाल, लोभ सुकर क्रोध बरबारनूं ।
देव ग्रव गैंडा महामोह टटनों निकट, विकट तट निकट बस्त अहंकार आरनूं ।।
देव जल मनोरथ ऊरमीं तरल त्रिस्नां अपार, मकर इंद्री जीव जंत्र माहीं ।।
भ्रमत व्याकुल नाथ सति विष्यादिक पंथ, देव देव विश्रामं नाहीं ।।
अहो देव सबै असंगति मेट मधि फूटा मेट, नाउं नौका बड़े भाग पाई ।।
बिन गुरु करणधार डोले न लागै तोर, विषय प्रवाह ओगाह जाई ।। 2 ।।
वही०, पद 137, पृष्ठ 124

23. वही०, पद 164, पृष्ठ 135

24. भाई रे ! भ्रम भगति सूं जानि ।
जो लौं नहीं सांच सूं पहिचानि ।। टेक ।।
भ्रम नाचण भ्रम गाइण, भ्रम जप तप दानि ।
भ्रम सेवा भ्रम पूजा, अरु भ्रम सूं पहिचानि ।। 1 ।।
भ्रम षट करम संकल संहिता, भ्रम ग्रेह बन जानि ।
भ्रम करि करि करम कीऐ, भ्रम की यहूं बानि ।। 2 ।।
भ्रम इंद्री निगह कीयो, भ्रम गुहा में बास ।।
भ्रम तो लौ जागिए, सूनि की करै आस ।। 3 ।।
भ्रम सुध सरीर जो लौ, भ्रम नांव विनांव ।
भ्रम भणि रविदास तो लौ, जो लौ चाहे ठाव ।। 4 ।।
वही०, पद 7, पृष्ठ 71

पल-पल काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह की पूजा ठान लेता है । शक्ति, स्नेह और इष्ट कामना में स्थल-स्थल डोलता रहता है । ब्रह्म-मिलन की प्रबल आकांक्षा को वह सुत-दारा की ओर उन्मुख कर देता है । परन्तु हरि का जन अन्य सब कुछ को त्याग कर हरि के सिवा और सब कुछ को भूल जाता है ।[25] रविदास-कबीर गोष्ठी में भी भक्ति-विरोधी तत्वों और उन पर विजय-प्राप्ति का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है [26] :–

कबीर चंचल सूं निहचल करि राखो, यहु मन उनमनि लावो ।
इंद्री पसरी निवारो साधो, तो निहचै करि पावो ।। 34 ।।

भक्ति के लिए अहं और अभिमान त्याग का महत्व सर्वोपरि है । इसके अभाव में अन्य सब कर्मकाण्ड, जप-तप, तीर्थ-व्रत, निरर्थक हैं ।[27] अन्यत्र रविदास कहते हैं, राम-नाम विहीन प्रत्येक कर्म भ्रम मात्र है । भक्ति न तो रस दान है, न ज्ञान बघारना और न यह वन में गुहावास ही है । इन्द्रिय-निरोध भी भक्ति नहीं है, न जोग साधने को ही भक्ति माना जा सकता है । आहार-त्याग, निद्रा-साधना, वैराग्य-साधना तथा वेदाध्ययन भी भक्ति नहीं । मूंड मुंडाना, माला-जाप, चरण पखारना भी भक्ति नहीं, ये कर्म मात्र हैं :–

आपौ गयो तब भगति पाई ऐसी भगति है, भाई ।
राम मिल्यौ अपनौ गुन खोयौ, रिद्धि-सिद्धि सबै जु गंवाई ।।
कहैं 'रविदास' छुटी सब आस, तब हरि ताही के पास ।
आतमा थिर भई तब, सब ही निधि पाई ।। 4 ।।

आपा खोकर ही सर्वसिद्धि की दायक भक्ति की प्राप्ति संभव है ।[28] अहं-त्याग को भक्ति के लिए रविदास प्रथम अनिवार्य शर्त के रूप में रेखांकित करते हैं । इस तथ्य का कलाली (गुरु) के रूपक द्वारा बहुत व्यंजक वर्णन करते हैं कि 'कलाली' प्रेमाभक्ति का प्याला देने को तो उद्यत हैं, पर बदले में भक्त का सिर (अहं) मांगती हैं [29] :–

देहु कलाली येक पिआला, ऐसा अवधू होई मतिवाला ।
कहै कलाली पिआला देऊं, पीवन हारें का सिर लेऊं ।। 1 ।।
ऐरी कलाली तैं क्या कीआ, सिर के साटें पिआला दीआ ।
सिरकै सांटे महंगा भारी, पीवैगा अपना सिर डारी ।। 2 ।।
चन्द सूरं दोउ सनमुख होई, पीवे पिआला मरै न कोई ।
सहज सुनि मैं भाटी स्रवै, पीवै 'रविदास' गुरुमुखि द्रवे ।। 3 ।।

---

25. वही०, पद 17, पृष्ठ 75
26. वही०, पृष्ठ 146
27. कहै 'रविदास' तेरी [illegible]
[illegible] तेरी भगति दूर है, भाग बड़े सो पावे ।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपलक ह्वै चुणि खावै ।। 3 ।।
वही०, पद 18, पृष्ठ 76
28. वही०, पद 27, पृष्ठ 79–80
29. वही०, पद 50, पृष्ठ 90

सर्वतृष्णा का त्याग तथा एक मात्र राम-शरणागति ही जीवन-सत्य कहला सकता है[30] :–

थोथो जिनि पछोरो रे कोई, पछोरो जा में निज कन होइ ।
थोथो काया थोथी माया, थोथा हरि बिन जनम गंवाया ।। टेक ।।
थोथा पंडित थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी ।।
थोथा मंदिर भोग विलासा, थोथी आन देव की आसा ।
सांचा सुमिरन नांव बिसासा, मन बच कर्म कहे 'रविदासा' ।। 1 ।।

रविदास अब प्रतिवाद छोड़-छाड़ कर दिन-रात हरिस्मरण का आदेश देते हैं ।[31] संसार के प्रपंच से व्याकुल आत्मा का आत्मस्वीकार, भयातुरता और पूर्ण शरणागति, जो भक्त की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है,[32] रविदास-वाणी में अद्‌भुत मनोहरता से व्यक्त हुई है । माया के हाथ बिके मन के ज्ञान-चक्षु भी अकारथ हो जाते हैं । इन प्रपंचों में पड़े व्यक्ति को पग-पग पर दुख का साक्षात्कार करने के अतिरिक्त और क्या उपलब्धि हो सकती है ? ऐसी अवस्था में प्रभु की पूर्ण शरणागति ही एक मात्र सहारा है ।[33] परन्तु वह प्रभु तो अविगत है, उसकी सेवा किस विधि से की जाए ? शिव, सनकादि तथा स्वयं ब्रह्मा भी जिसका आर-पार कुछ नहीं पा सकते । रविदास कहते हैं कि वे पूर्ण शरणागति भक्ति-संयुक्त उसका गान मात्र कर सकते हैं ।[34]

विनीत भाव से वह कहते हैं :–

भरम करम जीअ बंध्यो छूटे तुम बिन कैसे हो हरि ।। 1 ।।

जप, तप, विधि–निषेध, पाप–पुण्य की माया में ग्रसित प्राणी के लिए जन्म–जन्म भटकना ही एक-मात्र नियति है । वह आगे कहते हैं :–

ताड़न छेदन त्रापन खेदन, बहु विधि कर लेहि उपाई ।
लोन खड़ी संजोग बिन जैसे, कनक कलंक न जाइ हो हरि ।। 3 ।।

---

30. वही०, पद 72, पृष्ठ 98–99
31. 'रविदास' राति न सोवियै, दिवस न करियै सुआद ।
अह निसि हरि जी सिमरिये, छांडि सकल प्रतिवाद ।। 6 ।।
वही०, साखी 7, पृष्ठ 140
32. माया मोहिला कान्हां मैं जन सेवग तेरा ।। टेक ।।
संसार प्रपंच ही व्याकुल रामानन्दा, त्राहि त्राहि अनाथ नाथ गोविंदा ।
'रविदास' विनवै कर जोरी, अविगत नाथ कवन गति मोरि ।। 9 ।।
वही०, पद 92, राग कान्हड़ा, पृष्ठ 107
33. वही०, पद 106, 107, राग जेतसरी, पृष्ठ 118
34. अविगति नाथ निरंजन देवा, मैं का जानूं तुम्हारी सेवा ।। टेक ।।
बाधूं न बंधन, छाऊं न छाया, तुम्ह ही सेऊं निरंजन राया ।
चरण पतालि सीस असमाना, सो ठाकुर कैसे संपटि समाना ।। 1 ।।
सिव सनकादिक अंत न पाया, खोजत ब्रह्मा जनम गंवाया ।
तोरौं न पाती पूजो न देवा, सहज समाधि करों हरि सेवा ।। 2 ।।
नष प्रसेद जाकें सुरसरी धारा, रोमावली अठारह भारा ।
चारि वेद जाके सुम्रिति स्वासा, भगति हेत गावें 'रविदासा' ।। 3 ।।
वही०, पद 76 (राग भैरों), पृष्ठ 100

कहै 'रविदास' उदास ताही ते कहा उपाव अब कीजै ।
भौ बूडत भै भीत भगत जन, कर अवलंबन दीजै हो हरि[35] ।। 4 ।।

शरणागति की चरम अवस्था वह है, जहां भक्त हरि नाम–विश्वास के अतिरिक्त हर प्रकार की सुरक्षा, आश्रय तथा परित्राण की आशा छोड़ कर हरिशरण में आता है । रविदास–वाणी में यह आतुर शरणागति बहुत मोहक रूप में व्यक्त हुई है[36]:–

आयो आयो हौ देवाधिदेव ! तुम सरन आयो ,
जानि किरपा कीजौ अपनौ जना ।। टेक ।।

सकल सुख की मूल जाकी नाहीं समतूल, सो चरन भूल पायो ।
लियो विविध जोनि वास, जम की अगम त्रास, तुम्हरे भजन बिन भ्रमत फिरयो ।
ममता अहं विषे मद मातो, इस दुख कबहूं न दुस्तर तिरयौ ।।1।।
तुम्हारे नाँव बिसास छांडि आन आस, संसारी धरम मेरो मन न धरीजै ।
'रविदास' दास की सेवा मानहु देवा ! पतित पावन नाम परगट करीजै ।।2।।

2.2 वाणी की मुख्य प्रस्थापना

भक्ति, संन्यास और त्याग वाणी के मुख्य प्रतिपाद्य हैं । विश्व तथा वैश्विक सम्बन्धों की अनित्यता और असारता समग्र चिन्तन का सार है । सुख–दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान से अप्रभावित रहना श्रेष्ठ गुण के रूप में स्थापित हुए हैं । न किसी को भयभीत करने और न स्वयं भयभीत होने में श्रामणिक दर्शन प्रतिबिंबित हुआ है । ईश्वर पर आस्था, एकांतिक भक्ति और समग्र भाव से शरणागति एकमात्र कर्त्तव्य तथा उपाय माने गए हैं । जागतिक सम्बन्धों को अनित्य स्वीकार किया गया है और मोह, माया, क्रोध, मद, काम, लोभ आदि को इस अनित्य संसार में मानव को लिप्त करने वाले हीन अवगुणों के रूप में मान कर परित्याज्य कहा गया है । पाखण्ड और रूढ़ि–त्याग का स्वर 'वाणी' में प्रमुख है ।

2.3 समस्या का रेखांकन

समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों का आरम्भ होता ही उस स्थिति से है जहां दो या इससे अधिक व्यक्ति परस्पर प्रतिकृत हों, प्रभावित हों या प्रभावित करें । परन्तु 'वाणी' में समाज के परिवार वृत्त के अथवा परिवारेत्तर सम्बन्धों के विषय में सहज स्वीकारात्मक प्रायः कुछ नहीं कहा गया है । अगर कहीं भाई-बहन, पति-पत्नी, माता-पिता अथवा मित्र-सम्बन्धियों की बात हुई भी है, तो इन्हें अनित्य, अवास्तविक तथा भ्रम-मात्र कह कर इनका अवमूल्यन ही हुआ है।[37]

---

35. वही०, पद 19, पृष्ठ 76

36. वही०, पद 9, पृष्ठ 72

37. ऐ सबु संगी दिवस च्यार के धन दारा सुत पित मात रे,
बिछुरे मिलन बहुरि नह ह्वै है ज्यों तरवर छिन पात रे ।। 1 ।।
कहि 'रविदास' आस तज औरे, स्री गोपालह रंग राच रे ।। 2 ।।
वही०, पद 67, (राग कान्हड़ा), पृष्ठ 96–97

वास्तविक सम्बन्ध केवल आत्मा और परमात्मा का ही बताया गया है ।[38] सामाजिक अन्तः-सम्बन्ध एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह विचारणीय स्थिति है । प्रकटतः मानव की स्वाभाविक वासनाओं और प्रवृत्तियों की अमान्यता, जिनमें उसकी समूह एवं सामाजिक वृत्ति भी महत्त्वपूर्ण है, अवैज्ञानिक और मनोविज्ञान-विरोधी स्थापना स्वीकार हो सकती है, परन्तु सामाजिक अन्तःसम्बन्धों में इन प्रवृत्तियों का उन्नयन, अतिरिक्त सामाजीकरण अथवा किंचित् दमन श्रेष्ठ सामाजिक संरचना की प्रथम शर्त भी है । हर सामाजिक संगठन में घटकों की वैयक्तिकता का कुछ सीमा तक समष्टि में विलयन सर्वत्र काम्य होता है और जब उन प्रवृत्तियों की अनित्यता की प्रस्थापना द्वारा किसी पराजागतिक (ट्रान्सेडेंटल) आदर्श की स्थापना काम्य हो तो वह निश्चित् रूप में क्लासिकी समष्टि भावना से भी उच्चतर स्थिति स्वीकार हो सकती है । बृहत्तर लोकजागरण के सन्दर्भ में इस तत्त्व का विश्लेषण तथा सन्त गुरु रविदास की 'वाणी' के परिप्रेक्ष्य में इनका मूल्यांकन उपर्युक्त प्रस्थापना की पुष्टि में सहायक हो सकता है ।

3. ऐतिहासिक विकासक्रम तथा मध्यकालीन लोकजागरण

प्राचीन सभ्यताओं के क्लासिकी साम्राज्यों के संदर्भ में मध्यकाल का आरम्भ सातवीं–आठवीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है । भारतीय इतिहास के अनुसार भी मध्यकालीन-प्रवृत्तियां वर्धन साम्राज्य की समाप्ति के साथ लगभग इसी काल में उभरती प्रतीत होती हैं । विश्व इतिहास में मध्यकाल का विस्तार 17वीं शती ईस्वी तक लगभग एक हजार वर्षों का स्वीकार किया जाता है । भारत के इतिहास के अनुसार यह काल 19वीं शती तक खिंच जाता है, और इस प्रकार 1200 वर्षों के सुदीर्घ कालायाम को समेटता है । यह काल पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल के रूप में विभाजित होता है । पूर्व-मध्यकाल बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है, जिसके बाद उत्तर-मध्यकाल उन्नीसवीं शती तक चलता है ।[39] यह वर्गीकरण क्लासिकी सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन-मूल्यों के एक विशिष्ट काल में ह्रास तथा कुछ ऐसे नवीन मूल्यों के विकास तथा वृद्धि पर आधारित है, जो सुनिश्चित क्लासिकी नहीं थे। पूर्व-मध्यकाल क्लासिकी मूल्यों के ह्रास के साथ सम्बद्ध है, जबकि उत्तरमध्यकाल में लोक धर्मों, लोक प्रवृत्तियों, रोमानी आदर्शों तथा जीवन सम्बन्धी वैयक्तिक मूल्यों का अभ्युदय होता है । सन्त गुरु रविदास लौकिक अभ्युदय के इसी दूसरे कालखण्ड के एक महत्त्वपूर्ण नेता के रूप में उत्तर भारत में अवतरित होते हैं, यह इस अध्ययन की मुख्य स्थापना है ।

भारत में क्लासिकी राजनीतिक शक्ति का ह्रास हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ आरम्भ होकर तेरहवीं शताब्दी में केन्द्रीय इस्लामी सत्ता की स्थापना तथा हिन्दू शासन के पतन के साथ पूर्णता प्राप्त करता है । यह एक साम्राज्य द्वारा दूसरे साम्राज्य की पराजय मात्र न होकर राजनीति के

---

38. तोही मोही मोही तोही अंतरु कैसा ।
कनक कटिक जल तरंग जैसा ।।
वही०, पद 32, पृष्ठ 83

39. यह काल–विभाजन इतिहासाधारित है । हिन्दी–साहित्य के पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल की अवधारणा इस से भिन्न है ।

लौकिक आधार से पूरी तरह विच्छिन्न हो जाने की प्रक्रिया का अन्तिम छोर था। वस्तुतः यह प्रक्रिया साम्राज्यों की स्थापना से पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। यह मानव के सामाजिक इतिहास का सुविज्ञात तथ्य है कि विभिन्न समाजों के आरम्भिक कबीलाई स्वशासन के आधार रूप में जनतांत्रिक तथा लोकप्रिय आकांक्षाएं एवं गणतांत्रिक स्वीकृति के तत्त्व बीज रूप में विद्यमान रहे हैं। क्लासिकी व्यवस्था तक पहुंचने वाले सभी समाजों ने अपनी आरम्भिक स्थितियों में किसी प्रकार के लोकप्रिय स्वशासन (चाहे वह कुछ विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न या निहित स्वार्थ वाले वर्गों तक ही सीमित रहा हो) को अवश्य जिया और अनुभव किया। यूनानी गणराज्य तथा भारतीय जनपद इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि ये आरम्भिक जनपद राजाओं या साम्राज्य-संस्थापक व्यक्तियों द्वारा या तो दबा लिए गए, या आत्मसात् कर लिए गए।

कबीलाई अथवा आदिम जनतांत्रिक व्यवस्था की अपेक्षा साम्राज्य स्थापना को मानव की सर्वतोमुखी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति की शक्तियों की सक्रियता और प्रसार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस व्यवस्था में वर्ग तथा श्रम के विभाजन के कारण विकास की गति बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु साथ ही यह व्यवस्था अपने जन्म से ही अपनी अन्तर्निहित प्रकृति में मुट्ठी भर शासक वर्ग और बृहत्तर शासित समुदाय के बीच बढ़ती हुइ दूरी, खाई और सीमा-रेखा के बीज लेकर आती है। आरम्भिक अवस्थाओं में जब राजा लोकप्रिय नेताओं की क्षमताओं और संभावनाओं से सम्पन्न रूप में उभरते हैं, तो वे शासित समुदाय में सामूहिक वफादारी और राष्ट्रीय उत्साह की भावना के प्रतीक बन जाते हैं। परन्तु कालान्तर में जब यह व्यवस्था अपने अनुत्पादक शासक वर्ग के अस्तित्व के लिए अधिकाधिक दमनकारी सैनिक शक्ति पर निर्भर होकर शोषण तथा दमन का सहारा लेती है, तो शासित जन के मन में जीतने और हारने, आने और जाने वाले राजा के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा, अरुचि, परायेपन और विलगाव की भावना के विकास का कारण बनती है। विश्व के इतिहास में क्लासिकी समाज-व्यवस्थाओं के विरुद्ध लोक के अभ्युदय, क्लासिक-विरोधी प्रतिक्रिया, क्लासिकी व्यवस्था के ह्रास और मध्यकाल के आरम्भ के सूचक-बिन्दु के रूप में इस स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, इस्लाम और ईसाई) की छिन्नभिन्नता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल को पतनकाल, अन्धकारकाल, अवनतिकाल, हीनता का काल आदि भी कहा जा सकता है, परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती दृष्टि और आभिजात्य रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है। निरपेक्ष दृष्टि से इसे क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं के लिए यह काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है। धर्म, मत और सामाजिक मान्यता के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं। सामाजिक व्यवस्था और वर्ग-भेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं।[40] भारत में इस्लामी शासन के स्थिर हो जाने के

40. ग्रियर्सन, हर्बरट, द बैकग्राउण्ड आफ इंग्लिश लिट्रेचर (क्लासिकल एण्ड रोमैण्टिक), पृष्ठ 289

बाद ही इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है। हिन्दू और इस्लाम, दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है। पौराणिक हिन्दू धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी उससे विमुख हो चुका था।[41] इस्लाम का अनुयायी लोक भी इस्लामी शासन होने पर भी स्वयं को सामन्तों द्वारा उतना ही शोषित तथा दमित अनुभव कर रहा था। ऐसे अवसर पर तथा इस स्थिति में लोक इस व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न रूपों और तरीकों से अपना विरोध तथा प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इस प्रतिक्रिया का एक रूप तो वह है, जब नवजागरणशील लोक इस व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ के प्रति अपनी वितृष्णा तथा विरोध व्यक्त करता है, तो दूसरे रूप में वह भावभरे मन से प्राचीन 'अच्छे समयों' और 'अच्छे शासकों' को याद करके प्रकारान्तर से वर्तमान को अस्वीकार करता है।

भारतीय सन्दर्भ में इस दृष्टि से गुरु रविदास, कबीर और गुरु नानकदेव आदि प्रथम वर्ग के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं, जो अपनी समकालीन-आभिजात्यवादी राजनीतिक, मतवादी तथा सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ का खण्डन करते हैं। दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि तुलसीदास हैं, जो गुरु रविदास, कबीर और नानकदेव की तरह अपनी समकालीन व्यवस्था से पूरी तरह असंतुष्ट तो थे, परन्तु इसका विकल्प और समाधान अपने कल्पित आदर्श (यूटोपिया) रामराज्य में ढूंढने की कोशिश करते हैं, जो अपनी संरचना में साम्राज्यवादी होने पर भी प्रजावत्सल रूप में परिकल्पित हुआ है।

प्रस्तुत विवेचन की आधारभूमि हिन्दू और इस्लाम मज़हबों के बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक की प्रतिक्रिया का उपर्युक्त प्रथम (रविदास, कबीर, नानक आदि वाला) रूप है। मज़हबों की भिन्नता होने पर भी यह वर्ग परस्पर निकटता और एकात्मकता अनुभव करता है। ह्रासशील क्लासिकी-आभिजात्यवादी मान्यताओं पर से लोक का विश्वास उठता है। लोक की इसी क्रान्ति में रविदास, कबीर और गुरु नानक देव जैसे क्रान्तिकारी मार्गदर्शकों के माध्यम से लोक अपने नए व्यक्तित्व, नए अस्तित्व की पहचान करता है। दादूदयाल, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास जैसे महान् मध्यकालीन सन्त और समाज-सुधारक और फरीद, जायसी, मंझन, कुतुबन, शेख उस्मान और बुल्लेशाह जैसे महान् सूफी कवि इसी क्रान्ति और लोक-जागरण के भिन्न-देशीय प्रकाश-पुंजों के रूप में अवतरित होते हैं।

अभिजात वर्ग के क्लासिकी धर्म, देव-परम्परा, नैतिक मान्यता, जीवन-पद्धति और यहां तक कि ईश्वर के प्रति भी ये सब अपने-अपने ढंग से अनास्था प्रकट करते हैं, और इस प्रकार लोक को एक नई आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया मूल्य तथा नया स्थान प्रदान करते हैं। अभिजात वर्ग की मानसिक गुलामी से मुक्त, नवजागृत लोक अब उसकी धार्मिक-साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अनास्था प्रकट करता है। इसीलिए उपर्युक्त सभी सन्तों, भक्तों और धर्मगुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश, अभिजात हिन्दू और मुसलमान दोनों के आडम्बरयुक्त कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं। मानसिक दासता से मुक्त और नव व्यक्तित्व से सम्पन्न लोक अपने सहज अनुभव, सहज चिन्तन तथा सहज भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी अब मुक्त हो जाता है। वह अभिजात के भाषा-नियंत्रण, साहित्य-शास्त्र और आरोपित सामाजिक-नैतिक मर्यादा से भी मुक्त हो जाता है। वह अपने सहज ग्राम्य गीतों,

---

41. थामस, पी०, **इंडियन वूमन थ्रू द ऐजस**, न्यूयार्क, 1964, पृष्ठ 222–224

गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि को अपनी ग्राम्य, संस्कृत-विहीन भाषा में अभिव्यक्ति देने के लिए भी मानसिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है ।[42]

मध्यकालीन भक्ति धारा के परम शान्त सिद्ध, सन्त एवं कवि के रूप में मान्य सन्त गुरु रविदास[43] इस नवजागरण की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं और उनकी वाणी के समाजशास्त्रीय आयामों को रेखांकित करने के लिए उपर्युक्त लोकजागरण एक अनिवार्य भूमिका प्रतीत होती है ।

4. समाजशास्त्रीय आयाम : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

सन्त गुरु रविदास के जीवन को धर्म, नैतिकता और सामाजिक मूल्य-मान्यताओं के साथ पूरी तरह प्रतिबद्ध स्वीकार किया जाता है और उनके वैयक्तिक जीवन को इस प्रतिबद्धता के श्रेष्ठतम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

परन्तु उनकी वाणी पर विचार करते हुए यह कहा जाता है कि वह सन्त थे, जगत को स्वप्नवत् तथा मिथ्या मानते थे, अतः उन्होंने सामाजिक अन्तःसम्बन्धों और जागतिक विषयों के बारे में स्वीकारात्मक दृष्टि से प्रायः कुछ नहीं कहा । इस दृश्यमान जगत और जागतिक सम्बन्धों को गुरु रविदास ने मिथ्या तथा विनाशकारी कहा है । यह वास्तव में प्रभु की बाजी या खेल है । प्रभु स्वयं बाजीगर हैं और यह जगत् उसकी बाजी है । प्रभु सत्य है, और उसकी यह बाजी असत्य और अनित्य है ।[44]

यह बहुत विचित्र और विचारणीय स्थिति है और सैद्धान्तिक कसौटी पर इसका कसा जाना उचित होगा ।

गम्भीर समाज-वैज्ञानिक खोजों पर आधारित, जे० पी० स्काट का मत चिन्तन को आगे बढ़ाने में सहयोगी हो सकता है । वे कहते हैं – 'जो सामाजिक संस्था या व्यवस्था अपने घटकों के मूलभूत, नैसर्गिक तथा प्रवृत्तिजन्य व्यवहारों को पूरी तरह से दबाने, विकृत करने या निषिद्ध करने का प्रयास करती है, वह या तो स्वयं मर जाती है, अथवा उस समाज की छिन्न-भिन्नता का कारण बनती है, या फिर समाज के घटकों की विकृत तथा अवांछित व्यवहार-प्रक्रियाओं को जन्म देती है' ।[45] मानव मूल रूप में एक विकसित पशु है, जिसका जीवन कुछ आनुवंशिक संस्कारों या प्रवृत्तियों द्वारा तथा अनुभवाधारित ज्ञान द्वारा संचालित होता है । इसलिए, उसके लिए सहज व्यवहार का निषेध, पूर्ण निवृत्ति और संसार की नश्वरता का दर्शन जीवन-संवहन व संचालन में सहयोगी नहीं हो सकता । तो क्या गुरु रविदास की वाणी में लगभग सर्वत्र इस प्रकार के निवृत्तिमूलक दर्शन की व्याप्ति सामाजिक छिन्न-भिन्नता तथा विकृति का कारण बनी ? उत्तर स्पष्ट नकार में दिया जा सकता है, बल्कि यह कहा जा सकता

---

42. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, मध्यकालीन रोमांस, लोक का मुखर विरेचन (लेख), **परिशोध–14**, चण्डीगढ़ : हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, जनवरी, 1971, पृष्ठ 44–50
43. आचार्य पृथ्वी सिंह आज़ाद, **रविदास दर्शन**, चण्डीगढ़ : गुरु रविदास संस्थान, 1973, पृष्ठ 64
44. **वही०**, पृष्ठ 83
45. स्काट, जे०पी०, **इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज़**, खण्ड 14, द मैकमिलन कम्पनी एण्ड द फ्री प्रैस, 1968, पृष्ठ 350

है कि उनकी वाणी से सामाजिक जीवन के उच्च तथा काम्य पक्षों को ही बल मिला, जिसका प्रमाण उनका अपना जीवन तथा उनके पंथ का इतिहास प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस प्रकट विरोधाभास पर किंचित् अधिक विचार अपेक्षित हो सकता है।

किसी कवि, चिंतक, भक्त या नियामक की वाणी युगीन समाज के प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने के प्रयास रूप में स्वीकार हो सकती है। यह उसके सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत परिगण्य है। पूरी ईमानदारी और पूरे बल के साथ अपने कथन को स्वांतःसुखाय कहने वाले की रचना भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सामाजिक अनिवार्यता, मूल्य योजना और नैतिक मान्यता द्वारा ही रूपाकार ग्रहण कर सकती है। समाज के किसी घटक के पूरी तरह सामाजिकता-विहीन व्यवहार की कल्पना भी सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में कहा गया है – 'सामाजिक व्यवहार से तात्पर्य उस व्यवहार से है, जो उसी वंश के अन्य प्राणी के द्वारा या तो सम्प्रेरित होता है या उसे प्रभावित करता है। इस प्रकार हर तरह के व्यवहार में कम या अधिक सामाजिकता अनिवार्य है, तथा पूरी तरह से सामाजिकता-विहीन व्यवहार की सामान्यतः कल्पना नहीं की जा सकती।'[46]

चूंकि किसी भी प्राणी के किसी भी व्यवहार को सामाजिकता-विहीन स्वीकार नहीं किया जा सकता, और गुरु रविदास की (अथवा उनके वर्ग के विश्व के किसी भी भक्त महात्मा की) वाणी में संसार तथा सांसारिक जीवन की अमान्यता, निषेध अथवा उपेक्षा का स्वर अनिवार्यतः प्रमुख रहा है, अतः यहां एक अन्य स्तर पर विचार अपेक्षित है।

समाजदर्शन के अनुसार मानव की विभिन्न जीवन-दृष्टियां तथा उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थायें नित्य, शाश्वत, सार्वजनिक और सार्वकालिक न होकर युग एवं समाज–सापेक्ष होती हैं। विभिन्न युगों और समाजों में भिन्न हो जाना इनकी नियति भी है, और बाध्यता भी। स्पेंग्लर के अनुसार कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं होता तथा विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है। प्रत्येक युग एवं युगीन समाज के शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, नीति-अनीति, अनौचित्य–औचित्य सम्बन्धी अपने-अपने मूल्य, मान आदि होते हैं। इन्हीं मूल्यों और प्रतिमानों के आधार पर ही किसी युग अथवा युगीन समाज का मूल्यांकन एवं विश्लेषण सम्भव है, संगत है तथा उचित है।[47]

तो क्या संसार की प्रीति झूठी होने, दुनिया सपना मात्र होने तथा ईश्वर ही एकमात्र सत्य होने सम्बन्धी दर्शन गुरु रविदास के युग के समाज का मूल्य और प्रतिमान था ? इसका उत्तर 'हां' और 'न' दोनों रूपों में दिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में मध्यकाल की ही सिक्ख गुरवाणी सम्बन्धी अपनी सुरक्षात्मक टिप्पणी में श्री प्यारा सिंह 'पद्म' कहते हैं : –

...... इससे यह अभिप्रायः नहीं कि वह (गुरु तेगबहादुर) पलायनवादी थे और इस संसार को मिथ्या अथवा असत्य कह कर योगियों की तरह त्याग का उपदेश दे रहे थे। मालूम

---

46. स्काट, जे. पी., पूर्वोक्त, पृ. 343.

47. वर्मा, धीरेन्द्र तथा अन्य (सम्पा०) हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, वाराणसी : ज्ञानमण्डल, पृष्ठ 884–85 द्वितीय संस्करण, सं० 2020 वि० (समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद)

होता है, उन्होंने अपने समय की दशा को अच्छी तरह जांच लिया था, जिसमें गरीब जनता बुरी तरह पिस रही थी, मज़हब के नाम पर समय की सरकार जो कुछ कर रही थी, वह अति भयंकर रूप धारण किए हुए था, और विचारों की स्वतंत्रता नाममात्र भी नहीं थी । एक भयभीत था, एक भयानक, एक मज़लूम था, एक ज़ालिम । इसमें स्वनिर्भर होने की शिक्षा देते हुए गुरु ने कहा कि निपुण पुरुष वही है जो दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर स्व-मानपूर्ण जीवन व्यतीत करे । जनसाधारण में कुर्बानी अथवा बलिदान के भाव पैदा करने हेतु आवश्यक था कि इस संसार का मोह छोड़ा जाए, इस शरीर को मिथ्या तथा आदर्शों को सर्वोपरि मान कर लोगों को संघर्ष के लिए सावधान किया जाए ।'[48]

इस कथन को पूर्ण सत्य तो सम्भवतः न माना जाए, पर इसमें सत्यांश अवश्य है । पूर्ण सत्य न मानने के मार्ग में बाधक तत्त्व यह है कि केवल गुरु रविदास, सिक्ख गुरुओं व अन्य भक्तों ने ही, जिन्हें परिस्थितिवश अपने युग में एक आक्रामक शक्ति का साक्षात्कार करना पड़ा था, जीवन और जगत सम्बन्धी यह धारणा व्यक्त नहीं की । उस काल में भारत में ही नहीं, भारत से बाहर के भी, लगभग सभी सन्तों तथा भक्तों ने अपने एकान्त भक्त और सन्त के दृष्टिकोण से भी जगत तथा जागतिक क्रियाओं तथा विषयों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा तथा आस्था व्यक्त की । इसमें हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई; सम्बद्ध तथा नितांत अकेले; आक्रान्त तथा शासकों द्वारा पूज्य – सभी सन्तों ने लगभग इस प्रकार के दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

परन्तु ऐतिहासिक संदर्भ में मध्ययुगीन किसी भी सन्त तथा लोकनेता की वाणी के पराजागतिक (ट्रांसंडेंटल) स्वर की सत्यता को दृढ़ समाज-शास्त्रीय आधार पर सहज रूप में स्वीकार किया जा सकता है । ईसाइयत के मध्ययुगीन रूपान्तर के लौकिक प्रभाव का उल्लेख यहां उपादेय हो सकता है ..... । ईसाइयत प्राचीन काल की यूनानी-रोमी परिशुद्धतावादी– व्यक्तिनिष्ठ (एब्सोल्यूटिस्ट-इंडिविजुएलिस्टिक) समाज-व्यवस्थाओं में एक नये तत्त्व का समावेश करती है । सामाजिक संरचना में यह तीन विभिन्न तथा विविधरूपी पक्षों का विकास करती है और वे हैं –

1. पराजागतिक, परावैश्विक अथवा विश्व अनुभवातीत (ट्रांसेंडेंटल)
2. विश्ववादी (वर्ल्डली) तथा
3. वैयक्तिक (परसनल/इण्डिविजुअल) ।

इसकी विश्ववादी दृष्टि रोमन वैयक्तिक न्याय तथा विश्व भर को समानता की दृष्टि से देखने की भावना का प्रतिरूप है । दूसरी ओर इसकी पराजागतिक दृष्टि ने जनता को ऐसे मूल्य प्रदान किए जो ईसाई विश्वास के अनुसार निश्चित रूप में इस जगत और वैश्विक कार्य-व्यवहार से श्रेष्ठ थे । आरम्भिक ईसाइयत ने प्रचलित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को यथावत् स्वीकार करने का प्रयास अवश्य किया, पर मध्यकाल के लोकजागरण तथा रोमांसिक अभ्युदय के साथ क्रमशः बड़ी दृढ़ता के साथ यह प्रतिपादित करने

48. पद्म, प्यारा सिंह (सम्पा०) **वाणी गुरु तेगबहादुर**, पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1970 (दूसरा संस्करण), भूमिका भाग, पृष्ठ (झ)

का प्रयास अवश्य किया कि प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक-आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को प्रत्येक जागतिक एवं सांसारिक पदार्थ और प्रक्रिया से भिन्न एवं श्रेष्ठ स्तर पर स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार इसने पूर्वयुगीन वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिनिष्ठता की भावनाओं को एक सुदृढ़ तथा गहरा पराजागतिक इन्द्रियातीत (ट्रांसेंडेण्टल) आधार प्रदान किया। इससे पूर्वकाल की आदिम अथवा क्लासिकी व्यवस्थायें, इस प्रकार की अवधारणायें किसी भी स्तर पर नहीं कर पाई थीं। इस प्रकार मध्यकाल में ईसाइयत विशिष्ट आस्थाशील एवं नवजागृत लोक में अपने रहस्यवादी, त्यागवादी, संन्यासपूर्ण तथा पराजागतिक निवृत्तिमूलक दर्शन के माध्यम से तत्कालीन मतवादी अथवा राजनीतिक शासनों के विरुद्ध अवमानना, मूल्यहीनता तथा निर्भयता का भाव जगाने में सफल हुई।[49]

उपर्युक्त वर्ग की प्रतिक्रिया किसी देश विशेष अथवा मत विशेष की विशिष्टता नहीं कही जा सकती। जब कभी भी लोक क्लासिकी परिशुद्धतावाद तथा सामाजिक अत्याग्रहों के विरुद्ध प्रतिकृत हुआ है, तो इसी प्रकार की पराजागतिक धारणाओं के माध्यम से इहलोक और एहलौकिक तत्त्वों के प्रति हीनता तथा अवमानना की अभिव्यक्ति हुई है। क्लासिकी इस्लाम के विरुद्ध सूफी सन्तों की प्रतिक्रिया इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगण्य है। यूरोप में ह्रासशील क्लासिकी मूल्यों के विरोध में फ्रांसी प्रावेंसलस, ड्रुइड पुरोहितों और ट्राबोडोर गायकों की प्रतिक्रिया[50] भी इसी वर्ग की थी।

5. भारत : लौकिक प्रतिक्रिया की परम्परा

भारत में तो इस क्लासिक विरोधी लोक की प्रतिक्रिया की एक सुदीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य तथा चिन्तन-परम्परा में उपलब्ध है।

बौद्ध तथा जैन विचारधारा को इस प्रतिक्रिया के सुन्दर उदाहरण के रूप में स्वीकार करने में अब किसी को भी सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं होगी। पर इसके सूत्र और भी पीछे तथा अधिक स्पष्ट रूप में मिलने आरम्भ हो जाते हैं। आर्यों के भारत आगमन से पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत में सिन्धु-घाटी सभ्यता की विद्यमानता अब ऐतिहासिक तथ्य है। इसी प्रकार विद्वानों के मतानुसार गंगा-यमुना के तटवर्ती प्रदेश में भी उसी काल में विकसित, विचारशील और समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है।[51] गंगा-यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था। इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं।[52]

जैकोबी इसे लोकधर्म नाम देते हैं। लेमन्न के अनुसार इसके उत्थापक परिव्राजक थे। गार्बे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं। राईस डेविस इसे

49. टालको० एच० पार्सन, **इनसाइक्लोपीडिया आफ द सोशल साइंसेज़**, खण्ड 13–14, द मैकमिलन कम्पनी, 13वां मुद्रण, 1959, पृष्ठ 226
50. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल सायंसेज, 1971, पृष्ठ 27–30
51. उपाध्ये, ए०एन०, **बृहत्कथा कोश** (भूमिका), पृष्ठ 11, तथा विण्टरनित्ज़ एम०, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 1
52. **पार्सव वचनसार** (प्राक्कथन) बम्बई, 1935, पृष्ठ 12–13

होता है, उन्होंने अपने समय की दशा को अच्छी तरह जांच लिया था, जिसमें गरीब जनता बुरी तरह पिस रही थी, मज़हब के नाम पर समय की सरकार जो कुछ कर रही थी, वह अति भयंकर रूप धारण किए हुए था, और विचारों की स्वतंत्रता नाममात्र भी नहीं थी । एक भयंभीत था, एक भयानक, एक मज़लूम था, एक ज़ालिम । इसमें स्वनिर्भर होने की शिक्षा देते हुए गुरु ने कहा कि निपुण पुरुष वही है जो दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर स्व-मानपूर्ण जीवन व्यतीत करे । जनसाधारण में कुर्बानी अथवा बलिदान के भाव पैदा करने हेतु आवश्यक था कि इस संसार का मोह छोड़ा जाए, इस शरीर को मिथ्या तथा आदर्शों को सर्वोपरि मान कर लोगों को संघर्ष के लिए सावधान किया जाए ।'[48]

इस कथन को पूर्ण सत्य तो सम्भवतः न माना जाए, पर इसमें सत्यांश अवश्य है । पूर्ण सत्य न मानने के मार्ग में बाधक तत्त्व यह है कि केवल गुरु रविदास, सिक्ख गुरुओं व अन्य भक्तों ने ही, जिन्हें परिस्थितिवश अपने युग में एक आक्रामक शक्ति का साक्षात्कार करना पड़ा था, जीवन और जगत सम्बन्धी यह धारणा व्यक्त नहीं की । उस काल में भारत में ही नहीं, भारत से बाहर के भी, लगभग सभी सन्तों तथा भक्तों ने अपने एकान्त भक्त और सन्त के दृष्टिकोण से भी जगत तथा जागतिक क्रियाओं तथा विषयों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा तथा आस्था व्यक्त की । इसमें हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई; सम्बद्ध तथा नितांत अकेले; आक्रान्त तथा शासकों द्वारा पूज्य – सभी सन्तों ने लगभग इस प्रकार के दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

परन्तु ऐतिहासिक संदर्भ में मध्ययुगीन किसी भी सन्त तथा लोकनेता की वाणी के पराजागतिक (ट्रांसंडेंटल) स्वर की सत्यता को दृढ़ समाज-शास्त्रीय आधार पर सहज रूप में स्वीकार किया जा सकता है । ईसाइयत के मध्ययुगीन रूपान्तर के लौकिक प्रभाव का उल्लेख यहां उपादेय हो सकता है ..... । ईसाइयत प्राचीन काल की यूनानी-रोमी परिशुद्धतावादी–व्यक्तिनिष्ठ (एब्सोल्यूटिस्ट-इंडिविजुएलिस्टिक) समाज-व्यवस्थाओं में एक नये तत्त्व का समावेश करती है । सामाजिक संरचना में यह तीन विभिन्न तथा विविधरूपी पक्षों का विकास करती है और वे हैं –

1. पराजागतिक, परावैश्विक अथवा विश्व अनुभवातीत (ट्रांसेंडेंटल)
2. विश्ववादी (वर्ल्डली) तथा
3. वैयक्तिक (परसनल/इण्डिविजुअल) ।

इसकी विश्ववादी दृष्टि रोमन वैयक्तिक न्याय तथा विश्व भर को समानता की दृष्टि से देखने की भावना का प्रतिरूप है । दूसरी ओर इसकी पराजागतिक दृष्टि ने जनता को ऐसे मूल्य प्रदान किए जो ईसाई विश्वास के अनुसार निश्चित रूप में इस जगत और वैश्विक कार्य-व्यवहार से श्रेष्ठ थे । आरम्भिक ईसाइयत ने प्रचलित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को यथावत् स्वीकार करने का प्रयास अवश्य किया, पर मध्यकाल के लोकजागरण तथा रोमांसिक अभ्युदय के साथ क्रमशः बड़ी दृढ़ता के साथ यह प्रतिपादित करने

---

48. पद्म, प्यारा सिंह (सम्पा०) **वाणी गुरु तेगबहादुर**, पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1970 (दूसरा संस्करण), भूमिका भाग, पृष्ठ (झ)

का प्रयास अवश्य किया कि प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक-आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को प्रत्येक जागतिक एवं सांसारिक पदार्थ और प्रक्रिया से भिन्न एवं श्रेष्ठ स्तर पर स्वीकार किया जाना चाहिए । इस प्रकार इसने पूर्वयुगीन वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिनिष्ठता की भावनाओं को एक सुदृढ़ तथा गहरा पराजागतिक इन्द्रियातीत (ट्रांसेंडेण्टल) आधार प्रदान किया । इससे पूर्वकाल की आदिम अथवा क्लासिकी व्यवस्थायें, इस प्रकार की अवधारणायें किसी भी स्तर पर नहीं कर पाई थीं । इस प्रकार मध्यकाल में ईसाइयत विशिष्ट आस्थाशील एवं नवजागृत लोक में अपने रहस्यवादी, त्यागवादी, संन्यासपूर्ण तथा पराजागतिक निवृत्तिमूलक दर्शन के माध्यम से तत्कालीन मतवादी अथवा राजनीतिक शासनों के विरुद्ध अवमानना, मूल्यहीनता तथा निर्भयता का भाव जगाने में सफल हुई ।[49]

उपर्युक्त वर्ग की प्रतिक्रिया किसी देश विशेष अथवा मत विशेष की विशिष्टता नहीं कही जा सकती । जब कभी भी लोक क्लासिकी परिशुद्धतावाद तथा सामाजिक अत्याग्रहों के विरुद्ध प्रतिकृत हुआ है, तो इसी प्रकार की पराजागतिक धारणाओं के माध्यम से इहलोक और एहलौकिक तत्त्वों के प्रति हीनता तथा अवमानना की अभिव्यक्ति हुई है । क्लासिकी इस्लाम के विरुद्ध सूफी सन्तों की प्रतिक्रिया इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगण्य है । यूरोप में ह्रासशील क्लासिकी मूल्यों के विरोध में फ्रांसी प्रावेंसलस, ड्रुइड पुरोहितों और ट्राबोडोर गायकों की प्रतिक्रिया[50] भी इसी वर्ग की थी ।

5. भारत : लौकिक प्रतिक्रिया की परम्परा

भारत में तो इस क्लासिक विरोधी लोक की प्रतिक्रिया की एक सुदीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य तथा चिन्तन-परम्परा में उपलब्ध है ।

बौद्ध तथा जैन विचारधारा को इस प्रतिक्रिया के सुन्दर उदाहरण के रूप में स्वीकार करने में अब किसी को भी सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं होगी । पर इसके सूत्र और भी पीछे तथा अधिक स्पष्ट रूप में मिलने आरम्भ हो जाते हैं । आर्यों के भारत आगमन से पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत में सिन्धु-घाटी सभ्यता की विद्यमानता अब ऐतिहासिक तथ्य है । इसी प्रकार विद्वानों के मतानुसार गंगा-यमुना के तटवर्ती प्रदेश में भी उसी काल में विकसित, विचारशील और समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है ।[51] गंगा-यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था । इस सभ्यता के मूल सिद्धान्त आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं ।[52]

जैकोबी इसे लोकधर्म नाम देते हैं । लेमन्न के अनुसार इसके उत्थापक परिव्राजक थे । गार्वे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं । राईस डेविस इसे

---

49. टालको० एच० पार्सन, **इनसाइक्लोपीडिया आफ द सोशल साइंसेज़**, खण्ड 13–14, द मैकमिलन कम्पनी, 13वां मुद्रण, 1959, पृष्ठ 226

50. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल सायंसेज़, 1971, पृष्ठ 27–30

51. उपाध्ये, ए०एन०, **बृहत्कथा कोश** (भूमिका), पृष्ठ 11, तथा विण्टरनित्ज़ एम०, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 1

52. **पार्सव वचनसार** (प्राक्कथन) बम्बई, 1935, पृष्ठ 12–13

सुसंयोजित, तर्कपूर्ण घुमन्तुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं । विंटरनित्स ने इसे संन्यास तथा तप से सम्बंधित धर्म और साहित्य कहा है । आदिनाथ-नेमिनाथ उपाध्ये इसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसे मागधी धर्म कहते हैं ।[53] उपर्युक्त सब मत एक विशेष भू-भाग में एक विशेष प्रकार की, ब्राह्मण आभिजात्यवादी परम्परा से भिन्न, लोकसंस्कृति तथा सभ्यता की विद्यमानता की परिकल्पना संसूचित करते हैं ।

लेमन्न ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भारत में बहुत पहले अब्राह्मण, परिव्राजक संन्यासियों का साहित्य विद्यमान रहा है, जो अब भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया है और उसे हम विभिन्न उपलब्ध साहित्य अंशों में खोज सकते हैं । इसकी पुष्टि करते हुए विंटरनित्स का कथन है कि लेमन्न की धारणा से भी बहुत अधिक मात्रा में वह श्रामणिक अथवा परिव्राजक साहित्य हमें महाभारत के उपदेशात्मक अंशों , उपनिषदों तथा पुराणों में प्राप्त होता है । इसके अंश बुद्ध-पूर्व तथा बुद्ध-कालीन साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं ।[54]

5.1 तात्विक भेद

ब्राह्मण धर्म-दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामांजिक नीति-आचार है । वेदों का ज्ञान, देवताओं की स्तुति, अर्चना तथा यज्ञ एवं वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण धर्म के मूल स्तम्भ हैं । तपस्या का स्थान भी है, पर उसका उद्देश्य अतिप्राकृतिक शक्ति प्राप्त करना है, जिससे इन्द्रासन भी डोल उठे । ऋषि की शाप-शक्ति, सूर्य को निगलने, समुद्र को पी डालने, आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं । त्याग तथा दान का तात्पर्य है राजा और प्रजा द्वारा ब्राह्मण-पूजा, सहस्रों गऊओं का दान तथा ब्राह्मणों के हित में सर्वस्व त्याग की भावना ।[55] संन्यास को भी स्थान दिया गया है, पर यह प्रारम्भिक तीन आश्रमों में सम्पूर्ण जीवन-उपभोग के बाद वृद्धावस्था में और अधिक शक्ति उपार्जन के लिए किया जाने वाला गृह-त्याग मात्र है ।[56]

दूसरी ओर, परिव्राजक जीवन-दर्शन ब्राह्मण-मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है । (गुरु रविदास की 'वाणी' में समानान्तर विचारों के लिए देखें – पादटिप्पणी 33 से 39, 41, 42, 47) । आख्यान वेदों पर आश्रित न होकर लोक-कथाओं और गाथाओं से सामग्री ग्रहण करते हैं । पात्र देवता-तुल्य ऋषि न होकर संसार-त्यागी योगी और संन्यासी हैं । संसार दुःखों का घर माना

---

53. उपाध्ये, ए०एन०, **बृहत्कथा कोश**, (भूमिका), पृष्ठ 12
54. विण्टरनित्ज, एम०, **सम प्रोबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 21
55. उपाध्ये, ए०एन०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 13
56. विण्टरनित्ज, एम०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 23

जाता है ।[57] तृष्णा इसका मूल कारण है ।[58] संन्यास का उद्देश्य संसार त्याग, आत्मोन्नति[59] तथा अन्त में निर्वाण प्राप्ति है ।[60] आत्म–निरोध और आत्मत्याग ही तपस्या है ।[61] संन्यासी तथा तपस्वी प्राणी मात्र के प्रति मैत्री–भाव से पूर्ण है । वह न तो किसी से भयभीत है, न शक्ति प्राप्त कर किसी को भयभीत ही करना चाहता है ।[62] न उसके मन में कपट और पक्षपात की भावना है न अन्तरात्मा में कोई मैल । 'हंस' के समान उसका जीवन-व्यवहार होता है ।[63] परिव्राजक दर्शन के अनुसार मैत्री, प्रेम तथा अभय के भाव अहिंसा सिद्धान्त के आधार बनते हैं । जन्मान्तरवाद और कर्मसिद्धान्त परवर्ती भारतीय जीवन-दर्शन को इस विचार–परम्परा की मुख्य देन माने

---

57. समान व समानान्तर विचार के लिए गुरु रविदास की वाणी से तुलनीय एवं द्रष्टव्य :-
    अवर सकल जंजाल, भौ सागर जमलोक महं ।
    मिथ्या सब संसार, मोहि कौन उतारे पार ।
    इहं गुन हौं पढ्यो ।। 3 ।।
    बी०पी० शर्मा, **पूर्वोक्त**, प्रहलादचरित (राग धनाश्री), पृष्ठ 147

58. माटी को पुतरा कैसे नचतु है ।
    देखै देखै सुनै बोलै दउरिउ फिरत है ।। टेक ।।
    जब कछु पावै तब गरब करतु है, माइया गई तब रोवनु लगतु है ।।
    मन बच क्रम रस कसहि लुभाना, विनसि गइआ जाइ कहूं समाना ।
    वही०, पद 121 (राग आसा), पृष्ठ 119

59. परम प्रकाश अविनाश अघमोचनं निरषि निजरूप विस्राम पाया ।
    बंदत 'रविदास' वैराग पद च्यंतत, जयौ जगदीश गोबिन्द राया ।। 5 ।।
    वही०, पद 101, पृष्ठ 110 व 111

60. कहि रविदास समुझि रे, सन्तो, इहु पद है न्रिवान ।
    इहु रहसि कोउ खोजे बूझे, सोउ है सन्त सुजान ।। 4 ।।
    वही०, पद 158, पृष्ठ 132

61. कहै रविदास यहु परम वैराग, राम नाम किन जपहु सुभाग ।
    घ्रित कारनि दधि मथै सयान, जीवन मुक्त सदां नृवानं ।।
    वही०, पद 2, पृष्ठ 67

62. रविदास सोइ साधु भलो,जउ रहइ सदा निरवैर ।
    सुखदाई समता गहई, सभनह मांगहि खैर ।। 3 ।।
    आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, **रविदास दर्शन**, साषी, 86, पृष्ठ 90

63. रविदास सोई साधु भलो, जो निहकपट निरपच्छ ।
    छमासील अरु सरल मनह, बाहर भीतर स्वच्छ ।।8।।
    रविदास सोई साधु भलो, जउ हंसा गति होय ।
    काम करम सब छांडि करि, राम भजन महं खोय ।।10।।
    वही०,साषी 91, 93, पृष्ठ 94–96

जा सकते हैं ।[64] जीवन की क्षण–भंगुरता[65], वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु से आक्रान्त[66] मानवता के लिए सत्कर्म,[67] त्याग[68], तपस्या[69], भक्ति[70] और प्राणीमात्र के प्रति प्रेम[71], एवं मोक्ष[72] अन्तिम लक्ष्य माने गए हैं ।

यदि उपर्युक्त विद्वानों के मतों तथा तथ्यपुष्टि के आधार पर आर्यों के भारत आगमन से पूर्व भारत में मागधी धर्मों की विद्यमानता का मत स्वीकार कर लिया जाए तो नवीन परिस्थितियों में आर्यों को यहां पहले से विद्यमान सशक्त चिन्तन परम्परा का सामना भी करना पड़ा होगा । अपने भूगोल से विच्छिन्न, केवल इतिहास पर आश्रित ब्राह्मण–आर्य विचारधारा इस नवीन भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दोहरे आक्रमण को यदि देर तक सहन न कर सकी हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था ।[73]

---

64. उपाध्ये, ए०एन०, **पूर्वोक्त,** पृष्ठ 12

65. रविदास तनु पियरो पातरा, झरत न लागइ बार ।
जरा मीचु ज्यौ आवई, जात न लागहि बार ।।2।।
बी०पी० शर्मा, **पूर्वोक्त,** (साखी भाग), पृष्ठ 141

66. जल की भांति पवन का थंभा, रक्त बूंद का गारा ।
हाड़ मांस नाडी कौ पिंजरु, पंखी बसै विचारा ।।1।।
प्रानी किआ मेरा किआ तेरा, जैसे तरिवर पंखी बसेरा ।
राखहु कंध उसारहु नीवां साढे तीनि हाथ तेरी सीवां ।।2।।
बंके बाल पाग सिर ढेरो, इहु तनु होइगो भसम को ढेरी ।
ऊंचे मंदर सुन्दर नारी, राम नाम बिनु बाजी हारी ।।3।।
वही०, पद 122, पृष्ठ 119

67. करमन ही परभारउ तजि, निहकरमी होई कर काम ।
रविदास निहकरमी करम ही, मेल कराए राम ।।7।।
आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, **रविदास दर्शन,** साखी 109, **पूर्वोक्त,** पृ० 161

68. सत्त संतोष अरु सदाचार, जीवन को आधार ।
रविदास भये नर देवते, जिन तिआगे पंच विकार ।।1।।
वही०, साखी 159, पृष्ठ 161

69. रविदास राति न सोविये, दिवस न करिये सुआद ।
अह निसि हरि जी सिमरिये, छाडि सकल प्रतिवाद ।।5।।
वही०, साखी 177, पृष्ठ 178

70. पलु–पलु छिनु–छिनु सिमरिये, जौ लौटे हरि दुआर ।
हरि भजनु बिन सिव नहीं, भणै रविदास चमार ।।2।।
बी० पी० शर्मा, **पूर्वोक्त,** (साखी 18), पृष्ठ 140

71. प्रानी बध नहिं कीजियहि, जीवह ब्रह्म समान ।
रविदास पाप नहं छूटइ, करोर गउन करि दान ।।5।।
आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद, **रविदास दर्शन,** साखी 186, पृष्ठ 185

72. सुरत शब्द जउ एक हों, तउ पाइहिं परम आनन्द ।
रविदास अन्तर दीपक जरई, घट उपजई ब्रह्म आनन्द ।।1।।
वही०, साखी 77, पृष्ठ 80

73. बैकर होवर्ड, तथा अन्य, **सोशल थाट फ्राम लोर टू साइन्स,** भाग 1, 111, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ 104, 218, 416–17, 706–707, 723

5.2 विचार सम्मेलन

यह परिकल्पना की जाती है कि ब्राह्मण काल के अन्त[74] तक ये दोनों धार्मिक तथा वैचारिक सरणियां परस्पर मिलनी आरम्भ हो चुकी थीं। उपनिषदों में इस सम्मेलन के प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं। यहां याज्ञवल्क्य आदि पहली बार आत्मविद्या का प्रचार करते हैं। दूसरी ओर यही परम्परा बाद में लोक को कर्मकाण्ड–प्रधान वैदिक परम्परा से मुक्ति दिला कर बौद्ध और जैन मतों के रूप में फूट निकलती है, जिन्हें वस्तुतः मागधी धर्म एवं विचार-परम्परा के परवर्ती उत्तराधिकारी[75] तथा बाद के अढ़ाई हजार वर्षों के भारतीय इतिहास में लोकधर्मों के पूर्वगामी कहा जा सकता है।

छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक उपनिषदों में पहली बार कर्म–सिद्धान्त मिलता है, जबकि वेदों तथा आरम्भिक उपनिषदों में इसका अभाव है। यह उल्लेखनीय है कि यहां यह सिद्धान्त क्षत्रिय राजा द्वारा ब्राह्मण को समझाया जाता है। बहुत बाद की रचना मैत्रायण्य उपनिषद् में भी मागधी धर्मों के मूल सिद्धान्त भारी मात्रा में उपलब्ध हैं।[76] पिता–पुत्र संवाद, जो सर्वप्रथम महाभारत के सभापर्व में तथा फिर मार्कंडेय पुराण, बौद्ध जातक और जैन उत्तराध्ययन-सूत्र में प्राप्त होता है, ब्राह्मण आश्रमवादी तथा मागधी त्यागवादी विचारधाराओं के संघर्ष का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है। पुत्र संसार को मृत्यु तथा नाश का कारण समझ कर त्याग देता है,[77] जबकि पिता उसे रोकता है और वेद–सम्मत वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार गृहस्थ–पालन के पश्चात् वृद्धावस्था में ही संन्यास को उचित मानता है।[78]

5.3 मूल उपस्थापक : अब्राह्मण

इस विचारधारा के प्रायः सभी उपस्थापक अब्राह्मण ही हैं।[79] महाभारत में त्याग तथा संन्यास का उपदेश देने वाले प्रायः सभी अब्राह्मण हैं। विदुर इस वर्ग में प्रमुख हैं। वह स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री की सन्तान थे।[80] उनका विवाह भी पारसव कन्या से हुआ था, जो स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई थी। महाभारत का ''विदुर–हितवाक्य'' विदुर के उपदेशों से भरा पड़ा है, जिसमें त्यागवादी, संन्यास सम्बन्धी आचार का प्राधान्य है।[81] 'स्त्रीपर्व' के 'धृतराष्ट्रशोकपनोदन' में पुत्रों के निधन के कारण शोक–संतप्त धृतराष्ट्र को विदुर संसार की

---

74. मैक्समूलर पांचवीं शती ईसा–पूर्व वैदिक–ब्राह्मण काल की समाप्ति मानते हैं, और प्रायः विद्वान् उनसे सहमत हैं।
75. पारसव वचनसार, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 25
76. विण्टरनित्ज, एम०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 25
77. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य : गुरुनानकदेव का 'सच्चा सौदा'
78. विंटरनित्ज़, एम०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 25
79. मध्यकालीन लोकजागरण के वाहक, तथा रूढ़िवादिता के विरोधी सभी क्रान्तिकारी भक्त, गुरु तथा समाज–सुधारक प्रायः अब्राह्मण वर्ग के ही हैं।
80. शूद्रयोनावहं जातः- **महाभारत**, 5, 50–55
81. **महाभारत** (विदुर हितवाक्य), 5, 32–40

अनित्यता, दुःखों तथा मृत्यु की शक्ति का उपदेश देकर[82] सान्त्वना देते हैं । यहां वह तालाब में झुकी डाली से लटके उस भयाक्रान्त व्यक्ति की कहानी सुना कर लोभ तथा मोह की शक्ति तथा दुष्परिणामों को रेखांकित करते हैं, जिसके नीचे जल में मगरमच्छ, डाली पर सर्प तथा तालाब के किनारे सिंह खड़ा था । शाखामूल को चूहा काट रहा था । मृत्यु मुख में होने पर भी उस व्यक्ति ने मधुमक्खियों के छत्ते से टपकती मधु बूंदों को देख कर, आसन्न मृत्यु को भूल कर मधु का स्वाद लेना आरम्भ कर दिया था ।[83] महाभारत में अन्य कई स्थानों पर भी अब्राह्मण तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति संन्यास धर्म का उपदेश देते मिलते हैं । 'वन पर्व' (207–216) में कौशिक ब्राह्मण को धर्मव्याध उपदेश देता है । वह स्वयं वधिक है, और कौशिक को उसके पास भेजने वाली स्त्री भी (3, 206–208) सामान्य गृहस्थ महिला है । शान्तिपर्व (251–10) में भी वेदाध्यायी अथवा यज्ञकर्त्ता व्यक्ति की अपेक्षा सर्वस्व–त्यागी तथा प्राणी मात्र के प्रति प्रेमभाव रखने वाला व्यक्ति ही वास्तविक ब्राह्मण कहा गया है ।[84] 'शान्तिपर्व' का 'तुलाधारी तथा जाजली संवाद' वैराग्य साहित्य का सुन्दर उदाहरण है, जिसमें निम्न वर्गीय तुलाधार एक ब्राह्मण को, जिसका नाम जाजली था, मैत्री तथा अहिंसा का उपदेश देता है । अनुगीता (महाभारत 14, 28, 6) में अध्वर्यु तथा यति का संवाद मिलता है, जिसमें यति यज्ञकर्त्ता को बकरे की बलि देने से रोकता है, और शास्त्रार्थ में उसे निरुत्तर कर देता है । अनुगीता (14,50,2) में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म तथा ज्ञान को सर्वोत्तम हित माना गया है । पशुबलि के प्रस्थापकों और प्रचारकों को नास्तिकों के समान नरकगामी माना गया है । जनक (14, 32) बुद्ध के समान ही माया एवं ममत्व का विरोध करते हैं । शान्तिपर्व (12–178) में विदेहराज की यह उक्ति त्यागवादी विचारधारा में विशेष स्थान की अधिकारिणी है –

अनन्तवत मे वित्तं, यन मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दहति किंचन ।।

अनुगीता (14, 51, 26) में दो अक्षर 'मम' (ममता, मोह, आकर्षण, लालच, लोभादि) को मृत्यु तथा तीन अक्षर 'नमम' (त्याग, मोह–हीनता) को परब्रह्म कहा गया है । महाभारत के शान्तिपर्व तथा अन्य भागों के अधिसंख्यक उपदेशात्मक अंश पूरी तरह पाली त्रिपिटक के समान हैं तथा कुछ अंश तो मूल रूप में ही बौद्ध ग्रन्थों में सम्मिलित कर लिए गए हैं । महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त ययाति की प्रसिद्ध कथा द्वारा भी त्याग तथा संन्यास मत की ही प्रस्थापना की गई है ।

महाभारत तथा मुख्यतः शान्तिपर्व के मोक्षधर्म में ऐसी अनेक निजंधरी कथाएं तथा आचार–सम्बन्धी उपदेश प्राप्त हैं, जो मूलतः बौद्ध अथवा जैन तथा परवर्ती लोकधर्मों तथा मध्यकालीन निर्गुण भक्तों की वाणियों के पूर्वकालीन संस्करण प्रतीत होते हैं । शान्ति पर्व

---

82. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य :-बी०पी० शर्मा, पूर्वोक्त, पद 72, पृष्ठ 98–99

83. (क) महाभारत, स्त्रीपर्व, 2, 7
(ख) विंटरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 30

84. मध्यकाल के सब भक्तों–सन्तों की वाणी इस तत्त्व के सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

(143–149) में व्याध तथा पेंडुकी की कथा मूलतः जैन प्रतीत होती है । मुद्गल आख्यान (3,260) भी इसी कोटि में आता है । मार्कण्डेय पुराण में राजा विपश्चित नरक यातना से पीड़ित व्यक्तियों की शान्ति और सुख के लिए स्वर्ग जाने से इन्कार कर देते हैं । महाभारत में राजा शिवि (3–100,197, 13–12) बाज से कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काट कर प्रस्तुत करता है ।

संन्यास एवं त्याग सम्बन्धी इन विचार–अंशों का सम्बन्ध योग की एक प्राचीन प्रणाली से था, जो आचार शास्त्र की एक विधि और मोक्ष–प्राप्ति का सक्रिय सिद्धान्त था । इन्हें सांख्य और बौद्ध–जैन उपदेशों के साथ सरलता से संयोजित किया जा सकता है । भले ही सांख्य तथा योग की सी स्वतंत्र परम्पराओं को बाद में परम्परावादी ब्राह्मण धर्म से समन्वित करने के प्रयास हुए हैं,[85] परन्तु प्रस्तुत विवेचन में ब्राह्मण विचारधारा के समानान्तर एक अन्य सशक्त चिन्तन–परम्परा की विद्यमानता का अवश्य निश्चय हो जाता है, जो परवर्ती काल में बौद्ध–जैन, नाथपंथी, सिद्ध तथा मध्यकाल में निर्गुण भक्ति की विविध धाराओं के रूप में लोक के पुनर्जागरण का आधार बनी ।[86]

6. मध्यकालीन लोकजागरण, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा गुरु रविदास वाणी

कबीर, गुरु रविदास तथा गुरु नानक असंदिग्ध रूप में आभिजात्यवादी, परिशुद्धतावादी परम्परा के समानान्तर भारत में अतिप्राचीन काल से प्रवाहित होने वाली तथा विकास–चक्र में समय–समय पर उभरने वाली, लोकधर्मों तथा लोक–आस्था की सरणी के महत्वपूर्ण मध्यकालीन प्रस्फुटन माने जा सकते हैं । लोकधर्मों तथा लोकव्यवस्थाओं के इन मध्यकालीन नेताओं के धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन एवं आचार में जो भेद लक्षित होता भी है, वह केवल देश–काल के भेद की सतही परिणति मात्र है । मूल आस्था लगभग सर्वत्र एक सी है तथा उसमें त्याग, दया, क्षमा, ममत्वहीनता, विश्व की नश्वरता, सच्चरित्रता तथा ईश्वरीय दयालुता के प्रति आस्था के तत्व समान हैं । इन सब धर्मों और विचार परम्पराओं की पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) दृष्टि ने क्लासिकी–आभिजात्यवादी व्यवस्थाओं के दमन से परिचित नवजागृत लोक को जो नवीन मूल्य प्रदान किए, वे सम्भवतः इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है । क्लासिकी विश्व के धन–सम्पत्ति जैसे भौतिक साधनों, परम्परित शक्ति–केन्द्रों तथा आभिजात्यवादी मूल्यों के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगा कर, इन्होंने एक झटके से लाखों–करोड़ों की संख्या में सर्वसामान्य लोक को मानसिक-वैचारिक दासता से मुक्त कर दिया । अपनी पराजागतिक (ट्रांसेडेंटल) परिकल्पना में उन्होंने अपने अनुयायी लोक को ऐसे विश्वासों, मूल्यों और भविष्य का आश्वासन दिया जो सुनिश्चित जागतिक जीवन से बहुत महान्, श्रेष्ठ और काम्य थे । यही लोक–जागरण का निर्धारक तत्व है । यही तत्व गुरु रविदास, कबीर, गुरुनानक देव जैसे मध्यकालीन लोकनेताओं को केवल भाषाकवि अथवा धर्मगुरु की सीमा तक परिसीमित न करके, सामाजिक संदर्भ, सामाजिक संगति, सामाजिक उपयोगिता तथा सामाजिक

---

85. विंटरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 39–40
86. उपाध्ये, एम०एन०, पूर्वोक्त (भूमिका), पृष्ठ 15

क्रान्तिकारिता की महनीय प्रतिबद्धताएं प्रदान करता है। इस नवजागरण में इनका त्याग, संन्यास अथवा विश्व की क्षणभंगुरता का स्वर इनके पलायन को सूचित नहीं करता। यह इनकी वैयक्तिक मोक्ष–कामना की स्वार्थ–वृत्ति को भी सूचित नहीं करता। यह आभिजात्यवादी सम्पन्नता, अर्थ की वरीयता और नकली मूल्यों के प्रति एक प्रकार की स्वाभिमानपूर्ण वितृष्णा, घृणा और अमान्यता को स्पष्ट करता है तथा अधिक स्वस्थ, निर्भयतापूर्ण और काम्य वैश्विक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन का आश्वासन देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुरु रविदास की वाणी के समाज–शास्त्रीय आयाम उनके वैयक्तिक तथा मतवादी आयामों की अपेक्षा अधिक समाजोन्मुख, अधिक प्रतिबद्ध हैं तथा लोक के जागरण की अन्तरराष्ट्रीय (मध्यकालीन) धारा के अनुकूल होने के कारण अधिक व्यापक प्रभाव वहन करने में सक्षम हैं।

अध्याय 12

गुरु तेग बहादुर वाणी : समाजशास्त्रीय आयाम

1. विषय उपस्थापन

सिक्ख धर्म के नवम गुरु तेग बहादुर की वाणी के समाज-शास्त्रीय आयामों का अध्ययन प्रस्तुत निबन्ध का संदर्भ फलक है। गुरु तेग बहादुर सातवें गुरु हरगोबिन्द के छठे पुत्र थे और आठवें गुरु हरिकृष्ण के निधन के बाद गुरु गद्दी पर आसीन हुए। आपका जन्म संवत् 1678 में अमृतसर में हुआ था।

2. विषय–संदर्भ

सत्रहवीं शताब्दी ई० में विद्यमान गुरु तेग बहादुर के सामाजिक तथा नैतिक दर्शन के समुचित अध्ययन के लिए उनकी वाणी के सर्वेक्षण के अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितियों पर ऐतिहासिक विकासक्रम के परिप्रेक्ष्य में और सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से संक्षिप्त विचार प्रासंगिक ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है। मध्यकाल की सामाजिक–राजनीतिक तथा नैतिक मानसिकता की सही पहचान के लिए यह विचार कुछ पीछे से हो तो संभवतः यह अधिक संगत होगा।

2.1 वाणी : संक्षिप्त सर्वेक्षण

गुरु तेग बहादुर की वाणी परिमाण में काफी कम, परन्तु तात्विक स्पष्टता तथा कथ्य की एकतानता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। परम्परागत काव्य–शास्त्रीय नियमों को सामान्यतः स्वीकार न करते हुए 'वाणी' की रचना लौकिक परम्परा में प्रचलित रागों तथा 'सलोकों' के माध्यम से हुई है। सोलह रागों में 59 पद, तथा 57 'सलोकु' सम्पूर्ण वाणी का आधार है। भक्ति,[1] संन्यास,[2] तपस्या,[3] विश्व एवं वैश्विक सम्बन्धों की अनित्यता तथा असारता[4] वाणी के

1. पद्‌म, गुरुचरन सिंह, **गुरु तेगबहादुर, जीवन, चिन्तन और कला**, जालन्धर : नवचिन्तन प्रकाशन, 1975, रागु सोरठि (3-9) पृष्ठ 141, रागु विलावलु (2-1) पृष्ठ 145
2. वही०, रागु बसंत हिंडोल (3-4) पृष्ठ 147, रागु सारंग (2-3) पृष्ठ 148, रागु जैजावंती, (2-1) पृष्ठ 149
3. वही०, रागु धनासरी (2-1) पृष्ठ 42, रागु जैजावंती (2-3) पृष्ठ 149
4. वही०, रागु सोरठि (3-12-139) पृष्ठ 142, रागु धनासरी (2-2) पृष्ठ 142,रागु तिलंग (3) पृष्ठ 144, रागु सारंग (2-1 तथा 2-3) पृष्ठ 148

मुख्य प्रतिपाद्य हैं। योगी के लक्षण–कथन[5] में गीता का कथ्य प्रतिध्वनित होता है। सुख–दुःख, हर्ष–शोक, मान–अपमान से अप्रभावित रहना[6] श्रेष्ठ गुण के रूप में स्थापित हुए हैं। न किसी को भयभीत करने और न भयभीत होने के कथन[7] में श्रामणिक दर्शन प्रतिध्वनित हुआ है। ईश्वर पर आस्था, एकांतिक भक्ति और समग्र भाव से शरणागति[8] एकमात्र कर्त्तव्य एवं उपाय माने गए हैं। जागतिक सम्बन्धों की अनित्यता[9] को स्वीकार किया गया है और मोह, माया, क्रोध, मद, काम, लोभ आदि[10] को इस अनित्य संसार में मानव को लिप्त करने वाले हीन अवगुणों के रूप में मान कर परित्याज्य कहा गया है। पाखण्ड तथा रूढ़ि–त्याग[11] का स्वर 'वाणी' में प्रमुख हैं।

समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों का आरम्भ होता ही उस स्थिति से है, जहां दो या इससे अधिक व्यक्ति परस्पर प्रतिकृत हों, प्रभावित हों या प्रभावित करें। परन्तु 'वाणी' में समाज के परिवार वृत्त के अथवा परिवारेत्तर सम्बन्धों के विषय में प्रायः कुछ नहीं कहा गया है। अगर कहीं भाई–बहिन, पति–पत्नी, माता–पिता अथवा मित्र–सम्बंधियों की बात हुई भी है, तो उन्हें अनित्य, अवास्तविक तथा भ्रम मात्र कह कर इनका अवमूल्यन ही हुआ है।[12] वास्तविक सम्बन्ध केवल आत्मा और परमात्मा का ही बताया गया है।[13] सामाजिक अन्तर्संबन्ध एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह विचारणीय स्थिति है। प्रकटतः मानव की स्वाभाविक वासनाओं और प्रवृत्तियों की अमान्यता, जिनमें उसकी समूह एवं सामाजिक वृत्ति भी महत्वपूर्ण है, अवैज्ञानिक और मनोविज्ञान विरोधी स्थापना स्वीकार हो सकती है, परन्तु सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों में इन प्रवृत्तियों का उन्नयन, अतिरिक्त सामाजीकरण अथवा किंचित दमन श्रेष्ठ सामाजिक–संरचना की प्रथम शर्त भी है। हर सामाजिक संगठन में घटकों की वैयक्तिकता का कुछ सीमा तक समष्टि में विलयन सर्वत्र काम्य होता है। और जब इन प्रवृत्तियों की अनित्यता की प्रस्थापना द्वारा किसी पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) आदर्श की स्थापना काम्य हो तो यह निश्चित रूप में क्लासिकी समष्टि भावना से भी उच्चतर स्थिति स्वीकार हो सकती है। बृहत्तर

5. वही०, रागु सोरठि (3-11) पृष्ठ 142-143, रागु धनासरी (2-3) पृष्ठ 142-143
6. वही०, रागु सोरठि (3-11) पृष्ठ 142-143, रागु धनासरी (2-3) पृष्ठ 142-143
7. वही०, सलोकु (16) पृष्ठ 151, सलोकु (41, 42, 43) पृष्ठ 152
8. वही०, रागु गउड़ी (2-4) पृष्ठ 136, रागु टोडी (2-1-31) पृष्ठ 144, रागु मारु (2-1) पृष्ठ 146, रागु सारंग (2-4-3-139-4-159) पृष्ठ 148
9. वही०, रागु देवगंधारी (2) पृष्ठ 138, (2-3-6-47) पृष्ठ 138-139, रागु सोरठि (2-2) पृष्ठ 139, रागु जैजावंती (2-4) पृष्ठ 149
10. वही०, रागु गउड़ी (2-1) पृष्ठ 136, रागु आसा (1) पृष्ठ 138, रागु सोरठि (3-3) पृष्ठ 139-140, (3-7) पृष्ठ 140-141, रागु जैतसरी (1) पृष्ठ 143, रागु बसंत हिंडोल (3) पृष्ठ 147
11. वही०, रागु सोरठि (3-10), पृष्ठ 141, रागु बिलावलु (2-2 तथा 3-3) पृष्ठ 145, रागु बसंत हिंडोल (3-2) व पृष्ठ 147
12. वही०, रागु सोरठि (3-9) पृष्ठ 141, (3-12-139) पृष्ठ 142, रागु धनासरी (2-2) पृष्ठ 142, रागु देवगंधारी (2-3-6-47) पृष्ठ 138-139
13. वही०, रागु बसंत हिंडोल (3-2) पृष्ठ 148, रागु जैतसरी (1) पृष्ठ 143, रागु टोडी (2-1-31) पृष्ठ 144, रागु सोरठि (3-3) पृष्ठ 139-140

लोकजागरण के संदर्भ में इस तत्व का विश्लेषण तथा गुरु तेग बहादुर की 'वाणी' के परिप्रेक्ष्य में इनका मूल्यांकन उपर्युक्त प्रस्थापना की पुष्टि में सहायक हो सकता है।

2.2 **ऐतिहासिक विकासक्रम तथा मध्यकालीन लोकजागरण :** प्राचीन सभ्यताओं के क्लासिकी समाजों के सन्दर्भ में मध्यकाल का आरम्भ सातवीं–आठवीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है। भारतीय इतिहास के अनुसार भी मध्यकालीन प्रवृत्तियां वर्धन साम्राज्य की समाप्ति के साथ लगभग इसी काल में उभरती प्रतीत होती हैं। विश्व–इतिहास में मध्यकाल का विस्तार सातवीं शती ईस्वी से सत्रहवीं शती ईस्वी तक लगभग एक हजार वर्षों का स्वीकार होता है। भारत के इतिहास के अनुसार यह काल उन्नीसवीं शती तक खिंच जाता है और इस प्रकार 1200 वर्षों के सुदीर्घ कालायाम को समेटता है। यह काल पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल के रूप में विभाजित होता है। पूर्व मध्यकाल बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है, जिसके बाद उत्तर मध्यकाल उन्नीसवीं शती तक चलता है।[14] यह वर्गीकरण क्लासिकी सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन–मूल्यों के एक विशिष्ट काल में ह्रास तथा कुछ ऐसे नवीन मूल्यों के विकास तथा वृद्धि पर आधारित है, जो सुनिश्चित क्लासिकी नहीं थे। पूर्वमध्यकाल क्लासिकी मूल्यों के ह्रास के साथ सम्बद्ध है, जबकि उत्तरमध्यकाल में लोकधर्मों, लोकवृत्तियों, रोमानी आदर्शों तथा जीवन सम्बन्धी वैयक्तिक मूल्यों का अभ्युदय होता है। गुरु तेग बहादुर लौकिक अभ्युदय के इसी दूसरे कालखण्ड के एक महत्वपूर्ण नेता के रूप में उत्तर भारत में उभरते हैं, यह हमारी स्थापना है।

भारत में क्लासिकी राजनीतिक शक्ति का ह्रास हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ आरम्भ होकर तेरहवीं शताब्दी में केन्द्रीय इस्लामी सत्ता की स्थापना तथा हिन्दू शासन के पतन के साथ पूर्णता प्राप्त करता है। यह एक साम्राज्य द्वारा दूसरे साम्राज्य की पराजय मात्र न होकर राजनीति के लौकिक आधार से पूरी तरह विच्छिन्न हो जाने की प्रक्रिया का अन्तिम छोर था। वस्तुतः यह प्रक्रिया साम्राज्यों की स्थापना से पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। यह मानव के सामाजिक इतिहास का सुविज्ञात तथ्य है कि विभिन्न समाजों के आरम्भिक कबीलाई स्वशासन के आधार रूप में जनतांत्रिक तथा लोकप्रिय आकांक्षाएं एवं गणतांत्रिक स्वीकृति के तत्व बीज रूप में विद्यमान रहे हैं। क्लासिकी व्यवस्था तक पहुंचने वाले सभी समाजों ने अपनी आरम्भिक स्थितियों में किसी न किसी प्रकार के लोकप्रिय स्वशासन (चाहे वह कुछ विशिष्ट सुविधासम्पन्न या निहित–स्वार्थ वाले वर्गों तक ही सीमित रहा हो) को अवश्य जिया और अनुभव किया। यूनानी गणराज्य तथा भारतीय जनपद इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि ये आरम्भिक जनपद राजाओं या साम्राज्य संस्थापक व्यक्तित्वों द्वारा या तो दबा लिए गए, या आत्मसात कर लिए गए।

कबीलाई अथवा आदिम जनतांत्रिक व्यवस्था की अपेक्षा साम्राज्य–स्थापना को मानव की सर्वतोमुखी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति की शक्तियों की सक्रियता और प्रसार की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस व्यवस्था में वर्ग तथा श्रम के विभाजन के कारण विकास की गति बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु साथ ही यह व्यवस्था अपने जन्म से ही अपनी

---

14. यह काल-विभाजन इतिहासाधारित है। हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल की अवधारणा इससे भिन्न है।

अन्तर्निहित प्रवृत्ति में मुट्ठी–भर शासक–वर्ग और वृहत शासित समुदाय के बीच बढ़ती हुई दूरी, खाई और सीमा–रेखा के बीज लेकर बढ़ती है। आरम्भिक अवस्थाओं में जब राजा लोकप्रिय नेताओं की क्षमताओं और संभावनाओं से सम्पन्न रूप में उभरते हैं, तो वे शासित समुदाय में सामूहिक वफादारी और राष्ट्रीय उत्साह की भावना के प्रतीक बन जाते हैं। परन्तु कालान्तर में जब यह व्यवस्था अपने अनुत्पादक शासक वर्ग के अस्तित्व के लिए अधिकाधिक दमनकारी सैनिक शक्ति पर निर्भर होकर शोषण तथा दमन का सहारा लेती है, तो शासित जन के मन में जीतने और हारने, आने और जाने वाले राजा के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा, अरुचि और विलगाव की भावना के विकास का कारण बनती है। विश्व के इतिहास में क्लासिकी समाज व्यवस्थाओं के विरुद्ध लोक के अभ्युदय, क्लासिक–विरोधी प्रतिक्रिया, क्लासिकी व्यवस्था के ह्रास और मध्यकाल के आरम्भ के सूचक बिन्दु के रूप में इस स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, इस्लाम और ईसाई) की छिन्न–भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल को पतनकाल, अन्धकारकाल, अवनतिकाल, हीनता का काल आदि भी कहा जाता है। परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती दृष्टि और आभिजात्य रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है। निरपेक्ष दृष्टि से इसे क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं के लिए यह काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है। धर्म, मत और सामाजिक मान्यता के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं। सामाजिक व्यवस्था और वर्गभेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं।[15] भारत में इस्लामी शासन के स्थिर हो जाने के बाद ही इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है। हिन्दू और इस्लाम, दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है। पौराणिक हिन्दू धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी उससे विमुख होकर बौद्ध, जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ पंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था।[16] इस्लाम का अनुयायी लोक भी इस्लामी शासन होने पर भी स्वयं को सामन्तों द्वारा उतना ही शोषित तथा दमित अनुभव कर रहा था। ऐसे अवसर पर तथा इस स्थिति में लोक इस व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न रूपों और तरीकों से अपना विरोध तथा प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इस प्रतिक्रिया का एक रूप तो वह है जब नवजागरणशील लोक इस व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ के प्रति अपनी वितृष्णा तथा विरोध व्यक्त करता है, तो दूसरे रूप में वह भाव भरे मन से प्राचीन 'अच्छे समयों और अच्छे शासकों' को याद करके प्रकारान्तर से वर्तमान को अस्वीकार करता है। भारतीय सन्दर्भ में इस दृष्टि से कबीर और गुरु नानक देव आदि प्रथम वर्ग के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं, जो अपनी समकालीन–आभिजात्यवादी, राजनीतिक, सामाजिक, मतवादी तथा सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ का खण्डन करते हैं। दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि तुलसीदास हैं जो कबीर और नानक की तरह अपनी समकालीन व्यवस्था से पूरी तरह असंतुष्ट तो थे,

15. ग्रियर्सन, हर्बर्ट, द बैकग्राऊण्ड आफ इंगलिश लिट्रेचर, (क्लासिकल एण्ड रोमेण्टिक), पृष्ठ 289

16. थामस, पी०, इंडियन वूमेन थ्रू द ऐजस, न्यूयार्क : 1964, पृष्ठ 222-224

परन्तु इसका विकल्प और समाधान अपने कल्पित आदर्श (यूटोपिया) रामराज्य — में ढूंढने की कोशिश करते हैं, जो अपनी संरचना में साम्राज्यवादी होने पर भी प्रजावत्सल रूप में कल्पित हुआ है ।

प्रस्तुत विवेचन की आधारभूमि हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों के बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक की प्रतिक्रिया का उपर्युक्त प्रथम (कबीर, नानक आदि वाला) रूप है । मज़हबों की भिन्नता होने पर भी यह वर्ग परस्पर निकटता और एकात्मकता अनुभव करता है । ह्रासशील क्लासिकी–आभिजात्यवादी मान्यताओं पर से लोक का विश्वास उठता है । लोक की इसी क्रान्ति में कबीर और गुरु नानक देव जैसे क्रान्तिकारी मार्ग दर्शकों के माध्यम से लोक अपने नए व्यक्तित्व, नए अस्तित्व की पहचान करता है । रविदास, दादूदयाल, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास जैसे महान मध्यकालीन सन्त और समाज सुधारक और फरीद, जायसी, मंझन, कुतुबन, शेख उस्मान और बुल्लेशाह जैसे महान सूफी कवि इसी क्रान्ति और लोकजागरण के भिन्न देशीय प्रकाश–पुंजों के रूप में अवतरित होते हैं ।

अभिजात वर्ग के क्लासिकी धर्म, देवपरम्परा, नैतिक मान्यता, जीवन–पद्धति और यहां तक कि ईश्वर के प्रति भी ये सब अपने–अपने ढंग से अनास्था प्रकट करते हैं । और इस प्रकार लोक को एक नई आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया मूल्य तथा नया स्थान प्रदान करते हैं । अभिजात वर्ग की मानसिक गुलामी से मुक्त, नवजागृत लोक अब उसकी धार्मिक साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अनास्था प्रकट करता है । इसलिए उपर्युक्त सभी सन्तों, भक्तों और धर्मगुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश अभिजात हिन्दू और मुसलमान दोनों के आडम्बर युक्त कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं । मानसिक दासता से मुक्त और नवव्यक्तित्व से सम्पन्न लोक अपने सहज अनुभव, सहज चिन्तन तथा सहज भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी अब मुक्त हो जाता है । वह अभिजात के भाषा–नियंत्रण, साहित्य शास्त्र और आरोपित सामाजिक–नैतिक मर्यादा से भी मुक्त हो जाता है । वह अपने सहज ग्राम्य–गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि को अपनी ग्राम्य, संस्कृत–विहीन भाषा में अभिव्यक्ति देने के लिए भी मानसिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है ।[17]

'नवम नानक' के रूप में मान्य गुरु तेगबहादुर इसी नवजागरण की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं और उनकी वाणी के समाजशास्त्रीय आयामों को रेखांकित करने के लिए उपर्युक्त लोगजागरण एक अनिवार्य भूमिका प्रतीत होती है ।

2.3 समाजशास्त्रीय आयाम : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

गुरु तेगबहादुर के जीवन को धर्म, नैतिकता और सामाजिक मूल्य–मान्यताओं के साथ पूरी तरह प्रतिबद्ध स्वीकार किया जाता है और उनके आत्म–बलिदान को इस प्रतिबद्धता के श्रेष्ठतम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । परन्तु उनकी वाणी पर विचार करते हुए यह कहा जाता है कि वे सन्त थे, जगत को स्वप्नवत तथा मिथ्या मानते थे, अतः उन्होंने

---

17. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन (लेख) **परिशोध**–14, चण्डीगढ़ : हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, जनवरी 1971 पृष्ठ 44-50

सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों और जागतिक विषयों के बारे में प्रायः कुछ नहीं कहा। इस सम्बन्ध में मदन लाल गुलाटी का कथन उद्धृत किया जा सकता है। वह कहते हैं —— 'उनका विषय भक्ति ही है। इसके माध्यम से ही उन्होंने जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया है। यह अलग बात है कि उनका दृष्टिकोण केवल भक्त का दृष्टिकोण है। अतः संसार की नश्वरता बताने के बाद उसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक पहलुओं पर विचार करने की बात ही नहीं उठती।[18] आगे वह कहते हैं —— 'जब वृक्ष ही जहरीला हो, फिर उसके फूलों एवं फलों के वर्णन करने से क्या लाभ ? इसी प्रकार गुरु जी के समाज वर्णन के बारे में कहा जा सकता है।'[19]

यह बहुत विचित्र और विचारणीय स्थिति है और सैद्धांतिक कसौटी पर इसका कसा जाना उचित होगा।

गम्भीर समाज–वैज्ञानिक खोजों पर आधारित जे० पी० स्काट का मत चिंतन को आगे बढ़ाने में सहयोगी हो सकता है। वह कहते हैं —— 'जो सामाजिक संस्था या व्यवस्था अपने घटकों के मूलभूत नैसर्गिक तथा प्रवृत्तिजन्य व्यवहारों को पूरी तरह से दबाने, विकृत करने या निषिद्ध करने का प्रयास करती है, वह या तो स्वयं मर जाती है, अथवा उस समाज की छिन्न–भिन्नता का कारण बनती है या फिर समाज के घटकों की विकृत तथा अवांछित व्यवहार–प्रक्रियाओं को जन्म देती है।'[20] मानव मूल रूप में एक विकसित पशु है जिसका जीवन कुछ आनुवंशिक संस्कारों या प्रवृत्तियों द्वारा तथा अनुभवाधारित ज्ञान द्वारा संचालित होता है।[21] इसलिए उसके सहज व्यवहार का निषेध, पूर्ण निवृत्ति और संसार की नश्वरता का दर्शन जीवन–संवहन व संचालन में सहयोगी नहीं हो सकता। तो क्या गुरु तेग बहादुर की वाणी में लगभग सर्वत्र इस प्रकार के निवृत्तिमूलक दर्शन की व्याप्ति सामाजिक छिन्न–भिन्नता तथा विकृति का कारण बनी। उत्तर स्पष्ट नकार में दिया जा सकता है बल्कि यह कहा जा सकता है कि उनकी वाणी से सामाजिक जीवन के उच्च तथा काम्य पक्षों को ही बल मिला, जिसका प्रमाण उनका अपना जीवन तथा उनके पंथ का इतिहास प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस प्रकट विरोधाभास पर किंचित अधिक विचार अपेक्षित हो सकता है।

किसी कवि, चिंतक, भक्त या नियामक की वाणी युगीन समाज के प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने के प्रयास रूप में स्वीकार हो सकती है। यह उसके सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत परिगण्य है। पूरी ईमानदारी और पूरे बल के साथ अपने कथन को स्वांतः सुखाय कहने वाले की रचना भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सामाजिक अनिवार्यता, मूल्ययोजना और नैतिक मान्यता द्वारा ही रूपाकार ग्रहण कर सकती है। समाज के किसी घटक के पूरी तरह सामाजिकता विहीन व्यवहार की कल्पना भी संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में कहा गया है —— 'सामाजिक

---

18. गुलाटी, मदनलाल, **हिन्दी कवि गुरु तेगबहादुर**, अम्बाला छावनीः दी इंडियन, पब्लिकेशन्स, 1968–पृष्ठ 94
19. वही०, पृष्ठ 95
20. स्काट, जे०पी०, **इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साईंसेज़**, खण्ड 14, दी मैकमिलन कम्पनी एण्ड दी फ्री प्रैस, 1968, पृष्ठ 350
21. वही०, पृष्ठ 343

व्यवहार से तात्पर्य उस व्यवहार से है, जो उसी वंश के अन्य प्राणी के द्वारा या तो सम्प्रेरित होता है या उसे प्रभावित करता है । इस प्रकार हर प्रकार के व्यवहार में कम या अधिक सामाजिकता अनिवार्य है तथा पूरी तरह से सामाजिकता विहीन व्यवहार की सामान्यतः कल्पना नहीं की जा सकती ।'[22] चूंकि किसी भी प्राणी के किसी भी व्यवहार को सामाजिकता–विहीन स्वीकार नहीं किया जा सकता और गुरु तेगबहादुर की (अथवा उनके वर्ग के विश्व के किसी भी भक्त–महात्मा की) वाणी में संसार तथा सांसारिक जीवन की अमान्यता, निषेध अथवा उपेक्षा का स्वर अनिवार्यतः प्रमुख रहा है, अतः यहां एक अन्य स्तर पर विचार अपेक्षित है ।

समाज दर्शन के अनुसार मानव की विभिन्न जीवन–दृष्टियां तथा उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक संस्थायें नित्य, शाश्वत, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर युग एवं समाज सापेक्ष होती हैं । विभिन्न युगों और समाजों में भिन्न हो जाना इनकी नियति भी है और बाध्यता भी । स्पैंग्लर के अनुसार कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं होता तथा विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है । प्रत्येक युग एवं युगीन समाज के शुभ–अशुभ, सत्य–असत्य, नीति–अनीति, औचित्य–अनौचित्य सम्बन्धी अपने–अपने मूल्य, मान आदि होते हैं । इन्हीं मूल्यों और प्रतिमानों के आधार पर ही किसी युग अथवा युगीन समाज का मूल्यांकन एवं विश्लेषण सम्भव है, संगत है तथा उचित है ।[23]

तो क्या संसार की प्रीति झूठी होने, दुनिया सपना मात्र होने तथा ईश्वर ही एकमात्र सत्य होने सम्बन्धी दर्शन गुरु तेगबहादुर के युग के समाज का मूल्य और प्रतिमान था । इसका उत्तर ...'हां' ... और ... 'न' ... दोनों रूपों में दिया जा सकता है । अपनी सुरक्षात्मक टिप्पणी में प्यारासिंह 'पदम' कहते हैं —

'............. इससे यह अभिप्राय नहीं कि वह (गुरु तेग बहादुर) पलायनवादी थे और इस संसार को मिथ्या अथवा असत्य कह कर योगियों की तरह त्याग का उपदेश दे रहे थे । मालूम होता है, उन्होंने अपने समय की दशा को अच्छी तरह जांच लिया था जिसमें गरीब जनता बुरी तरह पिस रही थी, मज़हब के नाम पर समय की सरकार जो कुछ कर रही थी वह अति भयंकर रूप धारण किए हुए था और विचारों की स्वतंत्रता नाम मात्र भी नहीं थी । एक भयभीत था, एक भयानक, एम मज़लूम था, एक ज़ालिम । इसमें निर्भय होने की शिक्षा देते हुए गुरु ने कहा कि निपुण पुरुष वही है जो दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर स्व–मानपूर्ण जीवन व्यतीत करे । .... जनसाधारण में कुर्बानी अथवा बलिदान के भाव पैदा करने हेतु आवश्यक था कि इस संसार का मोह छोड़ा जाए, इस शरीर को मिथ्या तथा आदर्शों को

---

22. सिल्लस, डेविड, एल०, **इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साईंसेज़**, 'सोशल बिहेवियर' पर टिप्पणी, पृष्ठ 342

23. वर्मा धीरेन्द्र तथा अन्य (सम्पा०) **हिन्दी साहित्य कोष**, भाग-I, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सं० 2020 वि०, पृष्ठ 884-85 (टिप्पणी : समाज शास्त्रीय सापेक्षवाद)

सर्वोपरि मान कर लोगों को संघर्ष के लिए सावधान किया जाए .... ।'[24] इस कथन को पूर्ण सत्य तो संभवतः न माना जाए, पर इसमें सत्यांश अवश्य है । पूर्ण सत्य न मानने के मार्ग में बाधक तत्व यह है कि केवल गुरु तेग बहादुर ने ही, जिन्हें परिस्थिति वश अपने संगठन सहित एक आक्रामक शक्ति के विरुद्ध सक्रिय होना पड़ा था, जीवन और जगत सम्बन्धी यह धारणा व्यक्त नहीं की । इस काल में भारत में ही नहीं, भारत से बाहर के भी, लगभग सभी सन्तों तथा भक्तों ने, जिनका कोई संगठन नहीं था, अपने एकान्त भक्त और सन्त के दृष्टिकोण से भी जगत तथा जागतिक क्रियाओं तथा विषयों के सम्बन्ध में लगभग इसी प्रकार की धारणा तथा आस्था व्यक्त की । इसमें हिन्दू–मुसलमान तथा इसाई, सम्बद्ध तथा नितान्त अकेले, आक्रान्त तथ शासकों द्वारा पूज्य सभी सन्तों ने लगभग इसी प्रकार के दृष्टि कोण का परिचय दिया ।

परन्तु ऐतिहासिक संदर्भ में गुरु तेग बहादुर अथवा मध्य युगीन किसी भी सन्त तथा लोकनेता की वाणी के पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) स्वर की सत्यता को दृढ़ समाजशास्त्रीय आधार पर सहज रूप में स्वीकार किया जा सकता है । ईसाइयत के मध्ययुगीन रूपान्तर के लौकिक प्रभाव का उल्लेख यहां उपादेय हो सकता है । .... ईसाइयत प्राचीन काल की यूनानी–रोमी परिशुद्धतावादी व्यक्तिनिष्ठ (एब्सोल्यूटिस्ट इंडिविजुएलिस्टिक) समाज व्यवस्थाओं में एक नए तत्व का समावेश करती है । सामाजिक संरचना में यह तीन विभिन्न तथा विविध रूपी पक्षों का विकास करती है और वे हैं (1) पराजागतिक, परावैश्विक अथवा विश्वअनुभवातीत (ट्रांसेंडेंटल) (2) विश्ववादी (यूनिवर्सेलिस्टिक) तथा (3) वैयक्तिक (इंडिविजुएलिस्टिक) । इसकी विश्ववादी दृष्टि रोमन वैयक्तिक न्याय तथा विश्व भर को समानता की दृष्टि से देखने की भावना का प्रतिरूप है । दूसरी ओर इसकी पराजागतिक दृष्टि ने जनता को ऐसे मूल्य प्रदान किए जो इसाई विश्वास के अनुसार निश्चित रूप में इस जगत और वैश्विक कार्य व्यवहार से श्रेष्ठ थे । आरम्भिक ईसाइयत ने प्रचलित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों को यथावत स्वीकार करने का प्रयास अवश्य किया पर मध्यकाल के लोकजागरण तथा रोमांसिक अभ्युदय के साथ क्रमशः बड़ी दृढ़ता के साथ यह प्रतिपादित करने का प्रयास अवश्य किया कि प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को प्रत्येक जागतिक एवं सांसारिक पदार्थ और प्रक्रिया से भिन्न एवं श्रेष्ठ स्तर पर स्वीकार किया जाना चाहिए । इस प्रकार इसने पूर्वयुगीन वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिनिष्ठता की भावनाओं को एक सुदृढ़ तथा गहरा पराजागतिक इन्यितीत (ट्रांसेडेंटल) आधार प्रदान किया । इससे पूर्वकाल की आदिम अथवा क्लासिकी व्यवस्थायें इस प्रकार की अवधारणायें किसी भी स्तर पर नहीं कर पाई थी । इस प्रकार मध्यकाल में ईसाइयत विशिष्ट आस्थाशील एवं नवजागृत लोक में अपने रहस्यवादी, त्यागवादी, संन्यासपूर्ण तथा पराजागतिक निवृत्तिमूलक

24. पद्म, प्यारा सिंह (सम्पा०) **वाणी गुरु तेग बहादुर,** पटियाला : भाषा विभाग, पंजाब, 1970 (दूसरा संस्करण), भूमिका भाग, पृष्ठ (ब्र)

दर्शन के माध्यम से तत्कालीन मतवादी अथवा राजनीतिक शासनों के विरुद्ध अवमानना, मूल्यहीनता तथा निर्भयता का भाव जगाने में सफल हुई ।[25]

उपर्युक्त वर्ग की प्रतिक्रिया किसी देश विशेष अथवा मत विशेष की विशिष्टता नहीं कही जा सकती । जब कभी भी लोक क्लासिकी परिशुद्धतावाद तथा सामाजिक अत्याग्रहों के विरुद्ध प्रतिकृत हुआ है तो इसी प्रकार की पराजागतिक धारणाओं के माध्यम से इहलोक और एहलौकिक तत्वों के प्रति हीनता तथा अवमानना की अभिव्यक्ति हुई है । क्लासिकी इस्लाम के विरुद्ध सूफी सन्तों की प्रतिक्रिया इसी वर्ग के अन्तर्गत परिगण्य है । यूरोप में ह्रासशील क्लासिकी मूल्यों के विरोध में फ्रांसी प्रावेंसलस, ड्रुइड पुराहितों और ट्राबोडोर गायकों की प्रतिक्रिया[26] भी इसी वर्ग की थी ।

2.4 भारत : लौकिक प्रतिक्रिया की परम्परा

भारत में तो इस क्लासिक–विरोधी लोक की प्रतिक्रिया की एक सुदीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य तथा चिन्तन परम्परा में उपलब्ध है ।

बौद्ध तथा जैन विचारधारा को इस प्रतिक्रिया के सुन्दर उदाहरण के रूप में स्वीकार करने में अब किसी को भी सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं होगी । पर इसके सूत्र और भी पीछे तथा अधिक स्पष्ट रूप में मिलने आरम्भ हो जाते हैं । आर्यों के भारत आगमन से पूर्व उत्तर–पश्चिमी भारत में सिन्धु घाटी सभ्यता की विद्यमानता अब ऐतिहासिक तथ्य है । इसी प्रकार विद्वानों के मतानुसार गंगा–यमुना के तटवर्ती प्रदेश में भी उसी काल में विकसित, विचारशील और समुन्नत सभ्यता विद्यमान रही है ।[27] गंगा–यमुना के उपजाऊ तथा शान्त प्रदेश में विचारशील, शान्त, जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाली व्यक्तिवादी सभ्यता का होना सर्वथा स्वाभाविक था । इस सभ्यता के मूल सिद्धांत आत्मवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसा, संन्यास, तपस्या, योग तथा मोक्ष आदि माने गए हैं ।[28]

जैकोबी इसे लोक धर्म नाम देते हैं । लेमन्न के अनुसार इसके उत्थापक परिव्राजक थे । गार्वे इसे ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों की विचार परम्परा मानते हैं । राइस डेविस इसे सुसंयोजित, तर्कपूर्ण घुमन्तुओं के प्रभाव का परिणाम मानते हैं । विंटरनित्स ने इसे संन्यास तथा तप से संबंधित धर्म और साहित्य कहा है । आदि नाथ नेमिनाथ उपाध्ये इसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसे मागधी धर्म कहते हैं ।[29] उपर्युक्त सब मत एक विशेष भू–भाग में एक

---

25. टालको, एम० पार्सन, एन **एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साईंसेज़**, खण्ड 13-14, दी मैकमिलन कम्पनी, 13वां, पुनर्मुद्रण, 1959, पृष्ठ 226

26. भारद्वाज, मैथिलीप्रसाद, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल सायंसेज़, 1971, पृष्ठ 27-30

27. उपाध्ये, ए०-एन, **बृहत् कथा कोश**, भूमिका, पृष्ठ 11, तथा विंटरनित्ज़ एम०, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 1

28. **प्रवचन सार**, (अंग्रेजी में, प्राक्कथन), बम्बई : 1935, पृष्ठ 12-13

29. उपाध्ये, ए०-एन, **बृहत्कथा कोश**, (भूमिका), पृष्ठ 12

विशेष प्रकार की ब्राह्मण आभिजात्यवादी परम्परा से भिन्न, लोकसंस्कृति तथा सभ्यता की विद्यमानता की परिकल्पना संसूचित करते हैं।

लेमन्न ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भारत में बहुत पहले अब्राह्मण परिव्राजक संन्यासियों का साहित्य विद्यमान रहा है जो अब भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया है और उसे हम विभिन्न उपलब्ध साहित्य अंशों में खोज सकते हैं। इसकी पुष्टि करते हुए विंटरनित्स का कथन है कि लेमन्न की धारणा से भी बहुत अधिक मात्रा में वह श्रामणिक अथवा परिव्राजक साहित्य हमें महाभारत के उपदेशात्मक अंशों, उपनिषदों तथा पुराणों में प्राप्त होता है। इसके अंश बुद्ध–पूर्व तथा बुद्ध–कालीन साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं।[30]

2.41 तात्विक भेद

ब्राह्मण धर्म–दर्शन का मूलाधार यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सामाजिक नीति–आचार है। वेदों का ज्ञान, देवताओं की स्तुति, अर्चना तथा यज्ञ एवं वर्ण व्यवस्था ब्राह्मण धर्म के मूल स्तम्भ हैं। तपस्या का स्थान भी है पर उसका उद्देश्य अतिप्राकृतिक शक्ति प्राप्त करना है जिससे इन्द्रासन भी डोल उठे। ऋषि की शाप–शक्ति, सूर्य को निगलने, समुद्र को पी डालने आदि के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। त्याग तथा दान का तात्पर्य है राजा और प्रजा द्वारा ब्राह्मण पूजा, सहस्रों गउओं का दान तथा ब्राह्मणों के हित में सर्वस्व त्याग की भावना।[31] संन्यास को भी स्थान दिया गया है पर यह प्रारम्भिक तीन आश्रमों में सम्पूर्ण जीवन–उपभोग के बाद वृद्धावस्था में और अधिक शक्ति–उपार्जन के लिए किया जाने वाला गृह–त्याग मात्र है।[32]

दूसरी ओर परिव्राजक जीवन-दर्शन ब्राह्मण मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है, (गुरु तेगबहादुर की 'वाणी' में समानान्तर विचारों के लिए देखें – पाद-टिप्पणी 33 से 39, 41, 42, 47)। आख्यान वेदों पर आश्रित न होकर लोक कथाओं और गाथाओं से सामग्री ग्रहण करते हैं। पात्र देवता-तुल्य ऋषि न होकर संसार-त्यागी, योगी और संन्यासी हैं। संसार दुःखों का घर

---

30. विण्टरनित्ज, एम०, **सम प्राबलम्स आफ इंडियन लिट्रेचर**, पृष्ठ 21
31. उपाध्ये ए०-एन, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 13
32. विंटरनित्ज, एम०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 23

माना जाता है ।[33] तृष्णा इसका मूल कारण है ।[34] संन्यास का उद्देश्य संसार-त्याग, आत्मोन्नति तथा अन्त में निर्वाण-प्राप्ति है ।[36] आत्मनिरोध और आत्मत्याग ही तपस्या है ।[37] संन्यासी तथा तपस्वी प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव से पूर्ण है । वह न तो किसी से भयभीत है, न शक्ति प्राप्त कर किसी को भयभीत ही करना चाहता है ।[38] यही मैत्री, प्रेम तथा अभय के भाव

समान व समानान्तर विचार के लिए गुरु तेगबहादुर की वाणी से तुलनीय एवं दृष्टव्य :

33. हरि बिनु तेरो को न सहाई !
काकी माता पिता सुत बनिता को काहु को भाई ।।
धनु धरनी अरु संपत्ति सगरी जो मानिओ अपनाई ।।
तन छुटै कछु संगि न चालै कहा ताहि लपटाई ।। 1 ।।
दीन दइयाल सदा दुःख भंजन ता सिउ रुचि न बढ़ाई ।।
नानक कहत जगत सभ मिथिआ जिउ सुपना रैनाई ।। 2 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **गुरु तेग बहादुर, जीवन, चिन्तन व कला**, जालन्धर : नव चिन्तन प्रकाशन, 1975, (राग सारंग) पृष्ठ 148

34. भूलिओ मनु माइआ उरझायो ।
जो जो करम कीओ लालच लगि, तिह तिह आपु बंधाइओ ।। 1 ।।
समझ न परी बिखै रस रचिओ, जसु हरि को बिसराइओ ।।
संगि सुआमि सो जानिओ नाहिन, बनु खोजन कउ धाइओ ।। 1 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, (राग जैतसरी) पृष्ठ 143

35. मान मोह दोनों कऊ परिहरि, गोबिन्द के गुन गावै ।
कहु नानक इह बिधि को प्रानी, जीवन मुकति कहावै ।। 2 ।। 2 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, (रागु बिलावलु) पृष्ठ 145

36. तजि अभिमानु सरनि संतन गहु, मुकति होहि छिन माही ।।
जन नानक भगवंत भजन बिनु, सुखु सुपनै भी नाही ।। 2 ।। 3 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत** (रागु सारंग) पृष्ठ 148

37. जिहि बिखिआ सगली तजी लीओ भेख बैराग ।।
कहु नानक सुन रे मना तिह नर माथै भाग ।। 17 ।।
जिहि माइया ममता तजी सभ ते भइओ उदास ।।
कहु नानक सुन रे मना तिहि घर-ब्रह्म निवासु ।। 18 ।।
पद्म गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, पृष्ठ 151

38. भय काहु कउ देत नहि नहि भै मानत आनि ।।
कहु नानक सुनि रे मना, गिआनी ताहि बखानि ।। 16 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, पृष्ठ 151

अहिंसा सिद्धान्त के आधार बनते हैं। जन्मान्तरवाद और कर्मसिद्धान्त [39] परवर्ती भारतीय जीवन-दर्शन को इस विचार परम्परा की मुख्य देन माने जा सकते हैं।[40] जीवन की क्षण-भंगुरता[41], वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु से आक्रान्त मानवता के लिए सत्कर्म, त्याग, तपस्या, भक्ति और प्राणीमात्र के प्रति प्रेम एवं मोक्ष अन्तिम लक्ष्य माने गए हैं।[42]

यदि आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व भारत में मागधी धर्मों की विद्यमानता का मत स्वीकार कर लिया जाए, तो नवीन परिस्थितियों में आर्यों को यहां पहले से विद्यमान सशक्त चिन्तन-परम्परा का सामना भी करना पड़ा होगा। अपने भूगोल से विच्छिन्न, केवल इतिहास पर आश्रित ब्राह्मण आर्य विचारधारा इस नवीन भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दोहरे आक्रमण को यदि देर तक सहन न कर सकी हो तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।[43]

2.42 विचार-सम्मेलन

यह परिकल्पना की जाती है कि ब्राह्मण काल के अन्त तक[44] ये दोनों धार्मिक तथा वैचारिक सरणियां परस्पर मिलनी आरम्भ हो चुकी थीं। उपनिषदों में इस सम्मेलन के प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं। यहां याज्ञवल्क्य आदि पहली बार आत्मविद्या का प्रचार करते हैं। दूसरी ओर यही परम्परा बाद में लोक को कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक परम्परा से मुक्ति दिला कर बौद्ध और जैन मतों के रूप में फूट निकलती है, जिन्हें वस्तुतः मागधी धर्म एवं विचार-परम्परा

---

39. जनम जनम भरमत फिरिओ, मिटिओ न जम को त्रासु ।।
कहु नानक हरि भज मना, निरभै पावहि वासु ।। 33 ।।
नर चाहत कछु अउर, अउरै की अउरै भई ।।
चितवत रहिओ ठगउर, नानक फासी गलि परो ।। 32 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व उद्धृत**, पृष्ठ 152

40. उपाध्ये, ए० एन०, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 12

41. वाणी में समानान्तर विचारों के लिए दृष्टव्य :
जिउ सुपना अरु पेखना ऐसे जग कउ जानि ।।
इन मै कछु साचो नहीं नानक बिनु भगवान ।। 23 ।।
जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिनसै नीत ।।
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत ।। 25 ।।
पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, पृष्ठ 151

42. पद्म, गुरचरन सिंह, **पूर्व-उद्धृत**, रागु बिलावलु–पृष्ठ 211, 212 ।।

43. बैकर, हावर्ड तथा अन्य, **सोशल थाट फ्राम लोर टू साईंस**, भाग–1, 2, 3, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ 104, 218, 416-417, 706, 723

44. मैक्समूलर पांचवीं शती ईसा पूर्व में वैदिक-ब्राह्मण काल की समाप्ति मानते हैं और प्रायः विद्वान् उनसे सहमत हैं।

के परवर्ती उत्तराधिकारी तथा बाद के अढ़ाई हजार वर्षों के भारतीय इतिहास में लोकधर्मों के पूर्वगामी कहा जा सकता है ।[45]

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में पहली बार कर्म-सिद्धान्त मिलता है, जबकि वेदों तथा आरम्भिक उपनिषदों में इसका अभाव है । यह उल्लेखनीय है कि यह पर सिद्धान्त क्षत्रिय राजा द्वारा ब्राह्मण को समझाया जाता है । बहुत बाद की रचना मैत्रायण्योपनिषद में भी मागधी धर्मों के मूल सिद्धान्त भारी मात्रा में उपलब्ध हैं ।[46] पिता-पुत्र संवाद जो सर्वप्रथम महाभारत के सभापर्व में तथा फिर मार्कण्डेय पुराण, बौद्ध जातक और जैन उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होता है, ब्राह्मण आश्रमवादी तथा मागधी त्यागवादी विचारधाराओं के संघर्ष का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है । पुत्र संसार को मृत्यु तथा नाश का कारण समझ कर त्याग देता है,[47] जबकि पिता उसे रोकता है और वेद-सम्मत वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार गृहस्थ पालन के पश्चात् वृद्धावस्था में ही संन्यास को उचित मानता है ।[48]

2.43 मूल उपस्थापक : अब्राह्मण

इस विचार धारा के प्रायः सभी उपस्थापक अब्राह्मण ही हैं ।[49] महाभारत में त्याग तथा संन्यास का उपदेश देने वाले प्रायः सभी अब्राह्मण हैं । विदुर इस वर्ग के व्यक्तियों में प्रमुख हैं । वह स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री की सन्तान थे ।[50] उनका विवाह भी पारसव कन्या से हुआ था जो स्वयं राजा तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई थी । महाभारत का 'विदुर-हितवाक्य' विदुर के उपदेशों से भरा पड़ा है, जिसमें त्यागवादी, संन्यास सम्बन्धी आचार का प्राधान्य है ।[51] 'स्त्रीपर्व' के 'धृतराष्ट्रशोकपनोदन' में पुत्रों के निधन के कारण शोक-संतप्त धृतराष्ट्र को विदुर संसार की अनित्यता, दुःखों तथा मृत्यु की शक्ति का उपदेश देकर[52] सान्त्वना देते हैं । यहां वह तालाब में झुकी डाली से लटके उस भयाक्रांत व्यक्ति की कहानी सुना कर लोभ तथा मोह की शक्ति तथा दुष्परिणामों को रेखांकित करते हैं, जिसके नीचे जल में मगरमच्छ, डाली पर सर्प तथा तालाब के किनारे सिंह खड़ा था । शाखा मूल को चूहा काट रहा था । मृत्यु मुख में होने पर भी उस व्यक्ति ने मधुमक्खियों के छत्ते से टपकती बूंदों को देख कर, आसन्न मृत्यु को भूल कर मधु का

45. प्रवचन सार (अंग्रेजी में), पूर्वोक्त, पृष्ठ 94-95
46. विण्टरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25
47. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य :–
    (क) गुरु नानक देव का सच्चा सौदा, तथा
    (ख) गुरु तेग बहादुर, पद्‌म, गुरचरन सिंह, पूर्व-उद्धृत, रागु सारंग (2 ।। 1 ।।), पृष्ठ 148
48. विण्टरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25
49. मध्यकालीन लोक जागरण के वाहक तथा रूढ़िवादिता के विरोधी सभी क्रान्तिकारी भक्त, गुरु तथा समाज सुधारक प्रायः अब्राह्मण वर्ग के ही हैं ।
50. शूद्रयोनावहं जातः – महाभारत, 5, 50–5
51. महाभारत, विदुर हितवाक्य, 5, 32–40
52. समानान्तर विचार के लिए दृष्टव्य :–
    पद्‌म, गुरचरन सिंह, पूर्व–उद्धृत (रागु सारंग–2 ।। 3 ।।), पृष्ठ 148

स्वाद लेना आरम्भ कर दिया था ।[53] महाभारत में अन्य कई स्थानों पर भी अब्राह्मण तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति संन्यास धर्म का उपदेश देते मिलते हैं । वनपर्व (207-216) में कौशिक ब्राह्मण को धर्मव्याध उपदेश देता है । वह स्वयं बधिक है और कौशिक को उसके पास भेजने वाली स्त्री भी (3,206-208) सामान्य गृहस्थ महिला है । शान्तिपर्व (251-10) में भी वेदाध्यायी अथवा यज्ञकर्त्ता व्यक्ति की अपेक्षा सर्वस्व-त्यागी तथा प्राणी मात्र के प्रति प्रेमभाव रखने वाला व्यक्ति ही वास्तविक ब्राह्मण कहा गया है ।[54] शान्तिपर्व का तुलाधारी तथा जाजली सम्वाद वैराग्य साहित्य का सुन्दर उदाहरण है, जिसमें निम्नवर्गीय तुलाधार एक ब्राह्मण को जिसका नाम जाजली था, मैत्री तथा अहिंसा का उपदेश देता है । अनुगीता (महाभारत–14,28-6) में अध्वर्यु तथा यति का सम्वाद मिलता है, जिसमें यति यज्ञकर्त्ता को बकरे की बलि देने से रोकता है और शास्त्रार्थ में उसे निरुत्तर कर देता है । अनुगीता (4,50,2) में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म तथा ज्ञान को सर्वोत्तम हित माना गया है । पशुबलि के प्रस्थापकों और प्रचारकों को नास्तिकों के समान नरकगामी माना गया है । जनक (14,32) बुद्ध के समान ही माया एवं ममत्व का विरोध करते हैं । शान्तिपर्व (12–178) में विदेहराज की यह उक्ति त्यागवादी विचारधारा में विशेष स्थान की अधिकारिणी है –

अनन्तवत मे वित्तं, यन मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दहति किंचन ।।

अनुगीता (14, 51, 26) में दो अक्षर 'मम' (ममता, मोह, आकर्षण, लालच, लोभादि) को मृत्यु तथा तीन अक्षर 'नमम' (त्याग, मोह-हीनता) को परब्रह्म कहा गया है । महाभारत के शान्तिपर्व तथा अन्य भागों के अधिसंख्यक उपदेशात्मक अंश पूरी तरह पाली त्रिपिटक के समान हैं, तथा कुछ अंश तो मूल रूप में ही बौद्ध ग्रन्थों में सम्मिलित कर लिए गए हैं । महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त ययाति की प्रसिद्ध कथा के द्वारा भी त्याग तथा संन्यास मत की ही प्रस्थापना की गई है ।

महाभारत तथा मुख्यतः शान्तिपर्व के मोक्षधर्म में ऐसी अनेक निजंधरी कथाएं तथा आचार सम्बन्धी उपदेश प्राप्त हैं जो मूलतः बौद्ध अथवा जैन, तथा परवर्ती लोकधर्मों तथा मध्यकालीन निर्गुण भक्तों की वाणियों के पूर्वकालीन संस्करण प्रतीत होते हैं । 'शान्तिपर्व' (143–149) में व्याध तथा पेंडुकी की कथा मूलतः जैन प्रतीत होती है । मुद्गल आख्यान (3, 260) भी इसी कोटि में आता है । मार्कण्डेय पुराण में राजा विपश्चित नरक-यातना से पीड़ित व्यक्तियों की शान्ति और सुख के लिए स्वर्ग जाने से इन्कार कर देते हैं । महाभारत में राजा शिवि (3–100, 197, 13–32) बाज से कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काट कर प्रस्तुत करता है ।

संन्यास एवं त्याग सम्बन्धी इन विचार अंशों का सम्बन्ध योग की एक प्राचीन प्रणाली से था जो आचार शास्त्र की एक विधि और मोक्ष-प्राप्ति का सक्रिय सिद्धान्त था । इन्हें सांख्य और

53. (क) महाभारत, स्त्रीपर्व, 2, 7
(ख) विण्टरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 30

54. मध्यकाल के सब भक्तों-सन्तों की वाणी इस तत्व के सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

बौद्ध-जैन उपदेशों के साथ सरलता से संयोजित किया जा सकता है। भले ही सांख्य तथा योग की सी स्वतंत्र परम्पराओं को बाद में परम्परावादी ब्राह्मण धर्म से समन्वित करने के प्रयास हुए हैं[55] परन्तु प्रस्तुत विवेचन से ब्राह्मण विचाराधारा के समानान्तर एक अन्य सशक्त चिन्तन-परम्परा की विद्यमानता का अवश्य निश्चय हो जाता है जो परवर्ती काल में बौद्ध-जैन, नाथ पन्थी, सिद्ध तथा मध्यकाल में निर्गुण भक्ति की विविध धाराओं के रूप में लोक के पुनर्जागरण का आधार बनीं।[56]

3. मध्यकालीन लोकजागरण, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा गुरु तेगबहादुर की वाणी

कबीर, गुरु नानकदेव तथा गुरु तेगबहादुर असंदिग्ध रूप में आभिजात्यवादी, परिशुद्धतावादी परम्परा के समानान्तर भारत में अतिप्राचीन काल से प्रवाहित होने वाली तथा विकास-चक्र में समय-समय पर उभरने वाली लोकधर्मों तथा लोक-आस्था की सरणी के महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन प्रस्फुटन माने जा सकते हैं। लोकधर्मों तथा लोकव्यवस्थाओं के इन मध्ययुगीन नेताओं के धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन एवं आचार में जो भेद लक्षित होता भी है, वह केवल देश-काल के भेद की सतही परिणति मात्र है। मूल आस्था लगभग सर्वत्र एक सी है तथा उसमें त्याग, दया, क्षमा, ममत्वहीनता, विश्व की नश्वरता, सच्चरित्रता तथा ईश्वरीय दयालुता के प्रति आस्था के तत्व समान हैं। इन सब धर्मों और विचार-परम्पराओं की पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) दृष्टि ने क्लासिकी आभिजात्यवादी व्यवस्थाओं के दमन से परिचित नवजागृत लोक को जो नवीन मूल्य प्रदान किए वे संभवतः इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। क्लासिकी विश्व के धन-सम्पत्ति जैसे भौतिक साधनों, परम्परित शक्तिकेन्द्रों तथा आभिजात्यवादी मूल्यों के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगा कर, इन्होंने एक झटके से लाखों-करोड़ों की संख्या में सर्वसामान्य लोक को मानसिक-वैचारिक दासता से मुक्त कर दिया। अपनी पराजागतिक (ट्रांसेंडेंटल) परिकल्पना में उन्हें ऐसे विश्वासों, मूल्यों और भविष्य का आश्वासन दिया जो सुनिश्चित जागतिक जीवन से बहुत महान, श्रेष्ठ और काम्य थे। यही लोकजागरण का निर्धारक तत्व है। यही तत्व कबीर, गुरु नानक देव, गुरु तेगबहादुर जैसे मध्यकालीन लोकनेताओं को केवल भाषा कवि अथवा धर्मगुरु की सीमा तक परिसीमित न करके सामाजिक संदर्भ, सामाजिक संगति, सामाजिक उपयोगिता तथा सामाजिक क्रान्तिकारिता की महनीय प्रतिबद्धताएं प्रदान करता है। इस नवजागरण में इनका त्याग, संन्यास अथवा विश्व की क्षणभंगुरता का स्वर इनके पलायन को सूचित नहीं करता। यह इनकी वैयक्तिक मोक्ष-कामना की स्वार्थवृत्ति को भी सूचित नहीं करता। यह आभिजात्यवादी सम्पन्नता, अर्थ की वरीयता और नकली मूल्यों के प्रति एक प्रकार की स्वाभिमानपूर्ण वितृष्णा, घृणा और अमान्यता को स्पष्ट करता है तथा अधिक स्वस्थ, निर्भयतापूर्ण और काम्य वैश्विक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन का आश्वासन देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुरु तेगबहादुर की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम उनके वैयक्तिक तथा मतवादी आयामों की अपेक्षा अधिक समाजोन्मुख, अधिक प्रतिबद्ध हैं तथा लोक के जागरण की अन्तरराष्ट्रीय (मध्यकालीन) धारा के अनुकूल होने के कारण अधिक व्यापक प्रभाव वहन करने में सक्षम हैं।

---

55. विण्टरनित्ज, एम०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 39-40
56. उपाध्ये, ए० एन०, पूर्वोक्त, (भूमिका), पृष्ठ 15

अध्याय 13

मध्यकालीन भारतीय साहित्य

प्रेमाख्यान–परम्परा

1. विषय–उपस्थापन

विश्व इतिहास में मध्यकाल का आरम्भ ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इस का प्रसार माना जाता है। भारत के सन्दर्भ में भी मध्यकाल का आरम्भ वर्धन साम्राज्य के पतन के साथ लगभग इसी काल में स्वीकार्य है। परन्तु यहां इसका फैलाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है।[1] क्लासिकी मज़हबों – हिन्दू, ईसाई और इस्लाम की छिन्न–भिन्नता मध्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। यही कारण है कि पिछली पीढ़ी के सभी पूर्वी और पश्चिमी विद्वान् मध्यकाल को पतनकाल, अंधकारकाल, अवनतिकाल और हीनता–काल से भी अभिहित करते रहे हैं। परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती–आभिजात्य (फ्यूडल–क्लासिकल) दृष्टि का रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है।[2] निरपेक्ष दृष्टि से इसे सामन्ती–क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है।[3] मध्यकाल यूरोप, अरब, ईरान और भारत की सामन्ती सभ्यताओं के लिए और क्लासिकी मज़हबों के लिए काफी परिवर्तन, अवमूल्यन (डिवैल्यूएशन) और विघटन का काल रहा है। धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता की रूढ़िगत मान्यताओं के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं। सामाजिक व्यवस्था और वर्ग भेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं। इसी परिवर्तन के क्रम में पश्चिमी यूरोप के ड्रुइड पुरोहित तथा ट्राबोडोर गायक, फ्रांस के प्रावेंसलस और फारसी और भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित काथारिस्ट सारे यूरोप को एक नया प्रेमवादी, रहस्यवादी, भावुक, आभिजात्यविरोधी और लोकाभिमुख जीवन–दर्शन देते हैं।[4] अरब और ईरान में भी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध सूफी विचार–दर्शन और जीवन–प्रक्रिया का विकास होता है।[5] भारत में भी मध्यकालीन लोकजागरण के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की

---

1. **हिन्दी साहित्यकोश**, भाग–1, वाराणसी : ज्ञानमण्डल, 2020, पृष्ठ 609–611
2. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन (लेख) **परिशोध** : चण्डीगढ़, पंजाब यूनिवर्सिटी, जनवरी, 1971, पृष्ठ 44–50
3. हर्बर्ट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर**, (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक), पृष्ठ 289
4. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन्स, 1972, पृष्ठ 29
5. **वही०**, पृष्ठ 30–31

रूढ़ मान्यताओं को बड़ा आघात प्राप्त होता है । हिन्दू धर्म की उच्च–वर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी उससे विमुख होकर बौद्ध, जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ–पन्थ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था ।[6] इस्लाम का अनुयायी लोक (फोक) तथा जनसामान्य भी मुसलमान शासकों और सामन्तों से उतना ही शोषित और दमित अनुभव कर रहा था । दोनों सम्प्रदायों का यह बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक परस्पर एकात्मकता अनुभव कर रहा था । आभिजात्यवादी कर्मकाण्डी मान्यताओं से लोक का विश्वास उठता है और लोक की इसी क्रान्ति में कबीर, गुरु नानकदेव, सन्त रविदास जैसे महान सन्तों और जायसी, कुतुबन, मंझन आदि सूफी प्रेमाख्यानकारों के माध्यम से लोक अपने नए व्यक्तित्व को पहचानता है ।[7] आभिजात्य धर्म, जीवन–परम्परा, नैतिक मान्यता, ईश्वर सम्बन्धी विश्वास आदि के प्रति ये अपने–अपने ढंग से अनास्था प्रकट कर लोक को नयी आस्था, नया व्यक्तित्व और समाज में नया स्थान और मूल्य प्रदान करते हैं । अभिजात की मानसिक दासता से मुक्त लोक अब अभिजात की धार्मिक और साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अपनी अनास्था प्रकट करता है । नवजागृत लोक जहां धर्म के स्तर पर परम्परित कर्मकाण्ड से मुक्त आत्मान्वेषण की नई सहज पद्धतियों को स्वीकार करता है वहां साहित्यिक स्तर पर भी अपने सहज भावावेश तथा अनुभूति को अपने सहज ग्राम्य गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि की अपनी सहज ग्राम्य, संस्कृत–विहीन लोकभाषाओं में अभिव्यक्ति देने के लिए मानसिक दृष्टि से मुक्त हो जाता है ।[8] मध्यकालीन जनजागरण के सन्दर्भ में प्रेमाख्यान परम्परा के विकास का तात्विक विवेचन इस शोध–पत्र का सन्दर्भ बिन्दु है ।

2. सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

मध्यकाल में एक जैन कवि बनारसी दास हुए हैं । आत्मस्वीकृति के स्वर में उन्होंने कहा है कि वह बड़े–बूढ़ों से छिप–छिपा कर मृगावती और मधुमालती आदि प्रेमाख्यान पढ़ा करते थे ।[9] बनारसी दास ने कह दिया – अनेक लोग यही करते होंगे पर कहने का साहस नहीं जुटा पाए होंगे । पंजाब के सब किस्सा लेखक इश्क को खुदा की जात कहते हैं । इश्क को ईश्वर की महान देन कहा गया है । इश्क करने वाले दैवी व्यक्ति मानें गए हैं, पर साथ ही इश्क को बहुत विकट, कठिन और असाध्य साधना भी कहा गया है ! मिर्जा-साहिबां के लेखक का कहना है....... 'इश्क न होए हाफिज़ा बाझों मौत मरे....।' मिर्जा-साहिबां के एक अन्य लेखक भगवानसिंह कहते हैं........ 'इश्क न देंदा लज्जतां बाझों मौत मरे ।' कबीर का भी यही मत है कि प्रेम में डूबने से ही पार उतरा जा सकता है । हीर सारे उत्तर–पश्चिमी भारत के हृदय का अमूल्य रत्न है । हीर के प्रेम की एकाग्रता सब के लिए काम्य है, प्रिय है, पर पहला

6. एस० के० डे, **एन्शेंट इंडियन इरोटिक्स एण्ड इरोटिक लिट्रेचर**, कलकत्ता, 1959, पृष्ठ 35
7. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन्स 1972, पृष्ठ 4–5
8. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन (लेख) **परिशोध–14**, चण्डीगढ़, पंजाब यूनिवर्सिटी, जनवरी 1971, पृष्ठ 45–46
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पटना, 1961, पृष्ठ 109

पंजाबी–किस्साकार करुणा–विगलित स्वर में यह क्यों कहता है..... 'आख दमोदर अक्खाँ डिट्ठी, जे सिर सलेटी दे आई......'। हाशम सस्सी और पुन्नू के प्रेम को 'कामल इश्क' कहते हैं।

उनके अनुसार प्रकृति तक प्रेमियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होती है। पुन्नू के सस्सी को छोड़ कर जाने वाले दिन को वह नरक से भी भयंकर और दाहक बताते हैं......

जिस दिन होत सस्सी छड टुरिया, आख दिखा दिन केहा।
दोज़ख इक पल कदे न होसी, तपिआ तिस दिन जेहा ।।

आशिकों की लोक और परलोक में लोकप्रियता के विषय में हाशम अपने एक अन्य किस्सा शीरीं–फरहाद में कहते हैं......

अवल आखर जाहर बातन, खेड इश्क दा ताज़ी।
भावें इश्क हकीकी होवे, भावें इश्क मजाजी ।।
बादशाहां दी मजलस अन्दर, बिच्च अमीर फकीरां।
हर थां ज़िकर उन्हा दा सुणिये, लिखिआ साफ जमीरां ।। 86 ।।

दूसरी ओर सोहणी–महीवाल के अन्य किस्साकार सदाराम के अनुसार महीवाल को सान्त्वना देती हुई सोहणी की उक्ति समाज के प्रति उसके हृदय की कटुता और कष्टों की उग्रता की ओर संकेत करती है। वह पिता को कसाई और मां को डायन कहती है। कवि प्रेम–व्यापार को सर्प के साथ हाथ लड़ाने के बराबर मानता है.......

यारी दा लगौणा है लड़ौणा हत्थ नाग ताईं।
मापेआं दा डर दुआ लोकीं पए कहन वे ।।
कहे सदाराम दुखी होइ कोई रोज़ कट।
बाप है कसाई, माई जाण पक्की डैण वे ।।

प्रश्न बहुत विचित्र है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जो पूरी तरह निषिद्ध, गर्हित, हीन, असामाजिक और अनैतिक माना जाता है वही साहित्य में सर्वोत्कृष्ट क्यों है ?[10] एक प्रश्न और भी है कि विश्व भर में केवल मध्यकाल में ही इस सामाजिक व्यभिचार या एडल्टरी[11] को मान्य, काम्य और ग्राह्य के रूप में समान तथा समानान्तर साहित्यिक अभिव्यक्ति और सामाजिक मान्यता क्यों प्राप्त हो सकी ? मानव समाज के विकास, मानसिक विधि–निषेध और विरेचन की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार उपयोगी होगा।

भोजन–तलाशना, भय और सेक्स, प्राणीमात्र की मुख्य और महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां हैं। मानव–समाज ने भोजन–प्राप्ति के सन्दर्भ में अपनी वन्यावस्था से लेकर आज के संश्लिष्ट भोजन–प्राप्ति, भोजन–तैयारी, वितरण और वाणिज्य के साधनों का विकास–प्रसार कर लिया है। इसी प्रकार भय–निवृत्ति की प्रवृत्ति वन्य कबीले, लघुराज्य, सामन्तशाही से लेकर राष्ट्रों के

10. आन्द्रे मोराय, **सैवन फेसेज आफ लव**, जैको, 1960, पृष्ठ 17
11. डेविस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, लन्दन, 1956, पृष्ठ 16

विकास, डण्डे–पत्थर से लेकर आज के अणु परमाणुओं की रचना तक में प्रेरक रही है। समाज–रचना में कुल, परिवार, गोत्र, राष्ट्रीयता तथा अन्य सम्बन्ध इसी के द्वारा प्रेरित हैं। मानसिक–आध्यात्मिक स्तर पर जादू–टोना, ओझा–पुरोहित, मृत–श्राद्ध, ग्रहपूजा से लेकर देवी–देवता, अवतार–पैगम्बर और यहां तक कि परमब्रह्म ईश्वर की परिकल्पना तथा सब धर्मसम्प्रदायों का विकास–प्रसार भय की प्रवृत्ति से मुक्ति के ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयास हैं। भोजन एवं भय सम्बन्धी इन प्रयासों को मानव अपना विकास मानता आया है और इनका खूब प्रचार भी होता है। परन्तु इनसे सम्बद्ध और किसी सीमा में अधिक महत्वपूर्ण यौन–प्रवृत्ति या सेक्स की न केवल उपेक्षा हुई है, बल्कि इसे नियंत्रित, दमित, कुंठित करने तथा सदा दबाने–ढकने अथवा अनेक प्रकार के वायवी–आध्यात्मिक अथवा विशुद्ध उपयोगितावादी सामाजिक नियमोपनियमों की जकड़न में बांधने के प्रयास होते रहे हैं। यौनाकर्षण सहज जैवी आवश्यकता है। इससे नवसृजन और प्रजासृष्टि की प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु मानव के सम्पूर्ण विकास–वृत्त में यौन को विशेष सामाजिक, नैतिक और धार्मिक नियमोपनियमों द्वारा नियंत्रित रूप में ही किसी तरह सहन भर किया जाता रहा है।[12] यहीं हम रोमांस भावना के मध्यकाल में विकास का सूत्र (फार्मूला) प्राप्त करते हैं। जिसकी अनिवार्यता के समक्ष शारीरिक, मानसिक और भावात्मक दृष्टि से व्यक्ति विवश हो परन्तु जिसकी प्राप्ति असम्भव, दुष्कर या नियन्त्रित हो वह मानसिक आकर्षण, भूख और स्वप्न–कामना तो जाग्रत करता ही है। वृत्ति के रूप में इसे 'रोमांस' का नाम दिया जा सकता है।[13]

यौन–नियंत्रण और रोमांस की वृत्ति के विकास के लिए मानव–समाज की आर्थिक–सामाजिक–नैतिक विकास–यात्रा का संक्षिप्त सर्वेक्षण उपयोगी होगा।

होमो–सेपियन अथवा होमो–इरेक्टस जाति के एक प्राणी के रूप में मानव अन्य पशु–वर्ग से क्रमशः अलग होता जाता है। प्रवृत्तिजन्य अनुभव व ज्ञान के साथ अर्जित ज्ञान की उपलब्धि, उसका नियमन और वंशानुक्रम में उसका वितरण इस प्राणी की विशेषता थी। अस्तित्व के संघर्ष में वह समूहों में, कबीलों में रहता है। धीरे–धीरे प्रकृति के सहज–सुलभ साधनों पर नए मानव–पशु के अधिकार का वृत्त बढ़ता जाता है।[14] विकास के अनेक चरणों में पशु–शिकार, पशु–पालन और फिर कृषि का विकास होता है। सम्पत्ति के विकास के साथ उत्तराधिकार का प्रश्न जुड़ता है। इसी आकांक्षा और दबाव में कबीले की सांझी सम्पत्ति के साथ–साथ कुछ–कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति का भी विकास होता है और इसे मान्यता मिलती है। अविविक्त सम्भोग अथवा पशुवत नर–नारी के यौन सम्बन्धों के इस काल में पिता की पहचान असम्भव होने के कारण सम्पत्ति का उत्तराधिकार मां, मां के बहन–भाइयों तथा फिर मासियों या बहनों की नारी–सन्तानों को प्राप्त होता है।[15] सहज पशु अवस्था में तो अपने भोजन तलाशने, सन्तान पालने और भय से बचने में नर और नारी वर्गीय घटकों में कोई भेद नहीं होता। सारा पशु समाज इसका उदाहरण है। पर प्रकृति के दोहन की संश्लिष्ट होती व्यवस्था में प्रकृति के

12. फ्लोयड डैल, **लव इन मशीन एज**, लन्दन, 1930, पृष्ठ 28

13. आन्द्रे मोराय, **सैवन फेसेज आफ लव**, एस्केप इन लव–मादाम बावेरी, जैको, 1960, पृष्ठ 158–161

14. हावर्ड बैकर तथा हैरी एल्मर बर्नीज, **सोशल थाट फ्राम लोर टू सांयस**, भाग–2, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ 724

15. **वही०**, पृष्ठ 755

साधनों पर अधिकार करने में मातृत्व का भार वहन करने वाली नारी की अपेक्षा नर अधिक सफल होता है । सम्पत्ति का स्वामित्व और अर्जन लगभग पूरी तरह उसी के हाथ में आ जाता है । पर कालान्तर में उस सम्पत्ति का बहन–भाइयों अथवा बहनों और मासियों की सन्तानों को उत्तराधिकार में प्राप्त होना उसे अवश्य अखरा होगा । इसी मानसिक – आर्थिक दबाव में अपनी सन्तानों की निश्चयात्मकता के लिए समाज या कबीले द्वारा स्वीकृत एकव्रती विवाह व परिवार का विकास होता है ।[16] विवाह की संस्था क्रमशः महत्व प्राप्त करती है । इसे विशेष नैतिक मर्यादा, धार्मिक स्वीकृति और सामाजिक वैधता प्राप्त होती है ।[17] सम्पत्ति के आदान–प्रदान और उत्तराधिकार का प्रश्न जुड़ा होने के कारण विवाह का निर्णय कुल, कबीले या परिवार की अधिकार–सीमा में स्वीकार होता है । विवाह की यह संस्था यौन–व्यवहार के नियंत्रण में उस सीमा तक पहुंच जाती है जहां सामन्ती युग की शिखरावस्था में यौन–निग्रह व यौन–नैतिकता के दूसरे ध्रुवान्त पर वेश्यावृत्ति, रखैल की परम्परा, बहुविवाह तथा ब्रह्मचर्य आदि की अप्राकृतिक परम्पराओं का विकास होता है ।[18] सामन्त वर्ग सामाजिक स्वीकृति और उच्छृखंल व्यवहार दोनों का सहारा ले सकता है जबकि लोक अथवा मध्यवर्ग यौन–नैतिकता के नियंत्रण में एक खास तरह की मानसिक भूख का शिकार हो जाता है ।[19] स्त्री को वस्तु के रूप में मानने की वृत्ति बढ़ती है और उसके व्यक्तित्व को प्रायः अमान्य कर दिया जाता है । अपनी दलित और दमित अवस्था में लोक की इस रोमांसिक भूख के लौकिक स्तर पर विद्यमान व अभिव्यक्त होने के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं, परन्तु सामंती नियंत्रण में नर–नारी यौन सम्बन्धों के क्षेत्र में सामन्ती नैतिकता या कामुकता और उच्छृंखलता ही प्रमुख बने रहते हैं । भारत, ईरान तथा यूरोप का सारा क्लासिकी साहित्य इसके प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

परन्तु मध्यकाल में स्थिति–परिवर्तन होता है । जैसा संकेत किया जा चुका है कि क्लासिकी मज़हबों – हिन्दू, इस्लाम और ईसाइयत की छिन्न–भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है । इस युग में सामन्ती–क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक की प्रबुद्ध–क्रान्ति, विद्रोह और स्वातंत्र्य–प्रयास के स्वर उभरते हैं । यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं और धर्मों के लिए समान रूप से यह काल पर्याप्त परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है । धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता के समक्ष अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं । सामाजिक व्यवस्था और वर्ग–भेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं । इसी परिवेश में उपर्युक्त सभी क्लासिकी समाजों में मध्यकालीन रोमांसों का आरम्भ होता है ।[20] परन्तु इसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह लक्षित होता है कि नर–नारी सम्बंधों के क्षेत्र में अब यह सामन्ती समाज की तरह अनैतिक वृत्ति न होकर विशेष आध्यात्मिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यों से समन्वित गुण के रूप में स्वीकृत होता है । अप्राप्य या दुष्प्राप्य के दैवीकरण की सहज मानवीय वृत्ति का यहां

---

16. उदाहरणार्थ – **महाभारत** – 1, 113, पाण्डु द्वारा उक्त श्वेतकेतु का नियम
17. पी० टामस, **इण्डियन वूमेन थ्रू द एजिज**, न्यूयार्क, 1964, पृष्ठ 48
18. **वही०**, पृष्ठ 71
19. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, लंदन, 1956, पृष्ठ 275–277
20. हर्बरट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर**, (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक), लंदन, 1950, पृष्ठ 284

सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है ।[21] इश्क को खुदा की जात, उसकी विशेष देन के रूप में स्वीकृति प्राप्त होती है । उसे ईश्वर या साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है । प्रेमी अब विजेता या कन्यावरण करने वाले सामन्त से हट कर सर्वस्व–त्यागी, आत्म–बलिदानी साधक बन जाता है । मध्यकालीन साहित्य तथा सामाजिक–संरचना की इस महान क्रान्तिकारी घटना का विवेचन भिन्न – प्रदेशीय सामाजिक – धार्मिक सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त होगा ।

3. रोमांस – देश काल का संदर्भ

3.1 यूरोप और रोमांस

यूरोप में भावुक प्रणय अथवा रोमांस बारहवीं शताब्दी में विकसित करने के योग्य भाव के रूप में स्वीकृत और मान्य होता है ।[22] इसी काल में 'कोर्टेज़िया या कोर्टली लव' का आरम्भ होता है । यह मुख्यतः ईसाइयत, उसकी दमित यौन–नैतिकता तथा विवाह–सिद्धांत की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित होता है ।[23] सामन्ती वर्ग की उच्छृंखलता, उद्दण्डता व अराजकता – पूर्ण व्यवहार भी इसके लिए प्रतिक्रियात्मक कारण प्रस्तुत करते हैं । सामन्ती समाज में केवल पाशविक कामना–पूर्ति, सन्तान–प्राप्ति तथा दहेज द्वारा सम्पत्ति हथियाना ही विवाह अथवा स्त्री–प्राप्ति का उद्देश्य रह गया था ।[24] पश्चिमी यूरोप के ड्रुइड पुरोहित स्त्री को ईश्वरीय तथा उससे सम्पर्क की भावना को प्रकाश–तृष्णा के रूप में प्रचारित करते हैं । कोर्टेज़िया एक प्रकार का यज्ञ है, जिसमें प्रेमिका के प्रति सम्पूर्ण आत्मदान का वचन ग्रहण किया जाता है ।[25] कोर्टेज़िया मिलन की अवहेलना करता है । आत्मनिग्रह तथा स्व–स्वीकृत विरह की यह भावना एक भावुक उन्माद व गहरे नशे का कारण बनती है[26] जो एक नई रहस्यात्मकता को जन्म देता है ।[27] परवर्ती ईसाइयत का रहस्यवादी एवं भावुकतापूर्ण स्वर इसी मध्यकालीन लोक के जागरण तथा कोर्टेज़िया का ही परिणाम है ।[28] इसके साथ ही साथ ईसाइयत की कट्टरता की विरोधी नास्तिक तथा काथारिस्ट धर्म परम्पराओं ने भी, जो फारसी तथा प्रकारान्तर से भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित थी, पश्चिमी यूरोप को अत्यधिक प्रभावित किया । काथारिस्टों का सर्वप्रथम प्रभाव फ्रांस के पश्चिमी भाग पर होता है और वहां के प्रावेंसलस, ड्रुइड पुरोहितों तथा ट्राबोडोर गायकों द्वारा रोमांस अथवा कोर्टेज़िया सारे यूरोप का नया प्रेमवादी, रहस्यवादी तथा भावुक दर्शन बन जाता है ।[29]

---

21. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 61, 62, 76
22. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 33
23. **वही०**, पृष्ठ 35
24. **वही०**, पृष्ठ 75
25. **वही०**, पृष्ठ 61, 62, 76
26. **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर**, पृष्ठ 278
27. सर जान वुडरौफ, **शक्ति एण्ड शाक्त**, पृष्ठ 1–2
28. सेम्पसन, **कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंग्लिश लिट्रेचर**, पृष्ठ 20
29. **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 78–83, 121

3.2 अरब तथा रोमांस

अरब में ट्राबोडोर गायकों के समानान्तर ही भावुक प्रणय का आरम्भ होता है । आरम्भिक क्लासिकी इस्लाम की समष्टि भावना, व्यक्ति–अवमानना एवं विवाह सम्बन्धों की पवित्रता वहां भी विशेष भावुक आकर्षण को जन्म देती है ।[30] इसका वृत्त लौकिक न हो कर आध्यात्मिक तथा धार्मिक स्वीकार होता है, पर सूफी प्रेम–साधना नर–नारी के सहज, मुक्त तथा सशक्त आकर्षण पर ही आधृत है । सहज जैवी लालसा भावात्मक धरातल पर आ जाती है और सामाजिक स्वीकृति के लिए उसे रहस्यवादी स्वरूप धारण करना पड़ता है । विधि–निषेध को ईमानदारी के स्तर पर स्वीकार करने वाला वर्ग जहां इसे प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करने के लिए आग्रहशील रहता है, वहां इसका लौकिक आकर्षण बृहत्तर लोक में इन रोमांसों के अत्यधिक प्रचलन, प्रसिद्धि व लोकप्रियता का कारण बनता है ।

3.3 भारत तथा रोमांस

मध्यदेश में स्त्रीवर्गीय घटकों को आरम्भिक तांत्रिक सम्प्रदाय अत्यधिक सम्मान व पूजा का स्थान दे ही चुके थे ।[31] प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य लौकिक प्रणयाकर्षण तथा संघर्ष-जन्य रोमांस के लिए आधार बना ही चुका था । दूसरी ओर अरब में तथा मुख्यतः फारस में सूफी नवजागरणवाद भावुक आकर्षण को ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बता चुका था । इन संश्लिष्ट प्रभावों में भारत का मुक्त लोक भी अब अपने भावों को अधिक भावुकता, रोमांसिकता के साथ तथा अभिजात–विरोधी सहज स्वर में अभिव्यक्ति देने में स्वतंत्र हो जाता है । इश्क हक़ीक़ी को पहले काम्य माना जाता है पर हक़ीक़ी का आधार मजाज़ी (लौकिक) ही बन सकता है । लौकिक प्रतीक एवं बिम्ब के बिना हक़ीक़ी का अस्तित्व भी संभव नहीं हो सकता ।[32] विशेष भक्तों ने जो भी कहा हो, उसे सुनने–पढ़ने वाले लोक को अपने हृदय की ध्वनि, अपनी दमित शृंगार व रोमांस भावना की धड़कन ही उसमें सुनाई देती है[33], और एक प्रबल धारा के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है सभी भारतीय भाषाओं की प्रेमाख्यानक धारा ।

4. रोमांस के नायक–नायिका

यहां हम देखते हैं कि कथा-नायकों व नायिकाओं का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही क्लासिकी हीरो–हीरोइनों से एकदम बदल जाता है । रांझा–हीर को चाहता है, तो हीर भी रांझे को चाहती है । रत्नसेन पद्मावती का प्रणयाकांक्षी है, तो वह भी समान स्तर पर ही उस पर जान देने को उद्यत है । यही स्थिति मिर्जा–साहिबां, सोहणी–महीवाल, चित्रावली–सुजान, मधुमालती–कुंवर, माधवानल–कामकंदला, सस्सी–पुन्नू, रोडा–जलाली आदि सहस्रों प्रेमी–प्रेमिकाओं की है । रत्नसेन राजा है, लेकिन पद्मावती के प्रणय में जोगी रूप में त्याग व तपस्या द्वारा ही उसकी प्राप्ति के लिए निकलता है । उसके साथ चलने वाले सहस्रों अन्य

---

30. विमल कुमार जैन, **सूफीमत और हिन्दी साहित्य**, पृष्ठ 6–7
31. **इंडियन वुमेन थ्रू द एजिज़**, पृष्ठ 10, 48
32. **मध्यकालीन धर्मसाधना**, पृष्ठ 225
33. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृष्ठ 11, 12, 27

राजकुमार भी जोगी वेश में हैं । उनकी स्थिति मानसिक-भावात्मक दृष्टिकोण से सामन्ती राजाओं के स्त्री–प्राप्ति के अभियानों से एकदम भिन्न है । रांझा घरबार छोड़ कर चाक बनता है । महीवाल अपनी सुख–सम्पदा व ऐश्वर्य त्याग कर पशुपाल व नौकर बनता है । सस्सी का प्रेमी अपना राजपाट छोड़ कर प्रेमिका का दीवाना बन जाता है । प्रेमिका–मिलन का प्रयास त्याग व तपस्या का है, दिल जला कर तथा शरीर का परित्याग करके भी प्रेम की लौ जलाने का है । अवरोध उनके प्रणय में वृद्धि का कारण बनते हैं । प्रेमिकाएं भी सामन्ती महलों में बन्द निष्क्रिय महिलाएं न होकर हर मूल्य पर इश्क का पालन करने वाली सक्रिय नायिकाएं हैं ।

अवरोध मुख्यतः समाज की ओर से होता है परन्तु आशिक सदा ईश्वर के दरबार में महान स्वीकार किए जाते हैं । सोहणी तथा महीवाल की मृत्यु पर स्वयं खिज्र उनके जनाज़े की अन्तिम क्रियाएं सम्पन्न करते हैं । हजरत मुहम्मद साहिब के चरणों में मक्का–शरीफ में उन्हें दफनाया जाता है । शंकर तथा अन्य देवता रत्नसेन की सहायतार्थ आते हैं । राजा विक्रमादित्य माधवानल व कामकंदला का सहयोगी बनता है । इन प्रेमाख्यानों की स्थिति विचित्र है । समाज उनके एकान्तिक प्रणय को व्यभिचार मानता है, और स्थिति आज भी प्रायः यही है, जबकि ईश्वरीय न्याय उनका सहयोगी माना गया है । आशिकों को खुदा के बन्दे, उसके कृपापात्र माना गया है । स्वयं साहित्यकार उसी समाज–व्यवस्था का अंग होते हुए भी, जिसमें प्रणय–व्यापार नीच, गर्हित और चरित्रहीनता माना जाता है, अपने नायक–नायिकाओं से केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करते, उनके गुण–गान व गौरव–वृद्धि में भी प्रवृत्त होते हैं । यही रोमांस की वास्तविकता है, तथा यह कहा जा सकता है कि प्रणय कामना के सहज सामाजिक अभिव्यक्ति न पा सकने के कारण, उपयुक्त समय पर, साहित्यिक-कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ये विरेचन का साधन बनते हैं, अर्थात् सामाजिक एडल्टरी ही वैयक्तिक पक्ष में श्रेष्ठ प्रेम अथवा इश्क का आधार बनती है ।[34]

अभिव्यक्ति पक्ष में भी रोमांस आभिजात्य साहित्यिक विधाओं व तत्वों का पालन नहीं करते । इनकी अपनी ही लोक–कथाओं व लोक–गाथाओं की नवीन परम्परा बनती है । यही कारण है कि किसी भी अभिजात साहित्य–परम्परा में प्रेमाख्यानों को किसी भी वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जाता । विशुद्ध कथा कहने तथा प्रेमकथा मात्र कहने को क्लासिकी वर्ग सहन ही नहीं कर सकता ।[35] इसी कारण आभिजात्य नाटकों, प्रबन्धकाव्यों आदि से नितांत भिन्न नवीन विधा के रूप में विश्वभर के नवजाग्रत लोक की लौकिक साहित्य विधा के रूप में यह नवीन साहित्यधारा अभिव्यक्ति प्राप्त करती है ।

5. पंजाबी किस्सा-काव्य – विशिष्टता

हिन्दी, पंजाबी, मराठी, बंगला आदि सब भारतीय भाषाओं में रोमांस–काव्य का अभ्युदय समान और समानान्तर परिस्थितियों में लगभग एक सी लोक–जागरण की राष्ट्रीय भूमि पर होता है । यूरोप, ईरान, अरब तथा भारत का यह रोमांसिक आन्दोलन अन्तरराष्ट्रीय

---

34. **पैशन एण्ड सोसायटी, पूर्वोक्त,** पृष्ठ 16

35. एच० जे० फ्रांसिस तथा जे० टामस (अनु०) **जातक टेल्स,** पृष्ठ 205

स्तर पर मानव की सांझी विशिष्ट–कालीन प्रतिक्रिया की परिणति है । फिर भी देश–भेद से इसमें कुछ भेद भी लक्षित होता है । हिन्दी, बंगला और मराठी आदि भाषाओं के प्रेमाख्यानक साहित्य में प्रणयारम्भ की परिस्थितियां, प्रेमियों की भावुक उत्कटता और मिलन की प्रबल कामना यूरोपीय, अरबी–फारसी और पंजाबी प्रेमाख्यानों के समान ही विद्यमान हैं । परन्तु हिन्दी आदि के प्रेमाख्यानों में मिलन–प्रयास और संघर्ष की परिस्थितियों में यथार्थ सामाजिक बाधाओं की अपेक्षा अलौकिक और अवास्तविक अवरोध प्रमुख हो जाते हैं । मिलन और मिलनान्तर परिस्थितियों में तो अधिसंख्यक हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि कथाओं में स्वतंत्र प्रणय को अभिजात सामाजिक विवाह और सामन्ती नर–नारी सम्बन्ध व्यवस्था के नीचे दबा दिया गया है ।[36] ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यदेश के विशिष्ट अभिजात–आदर्शात्मक वातावरण द्वारा जनजागरण की यथार्थ उत्कटता के तत्वों को मन्द तथा अवमिश्रित कर दिया गया । जायसी आदि कवियों में प्रणयारम्भ की उत्कटता होने पर भी अन्त में प्रणय का सामाजीकरण कर दिया गया है, जबकि असल में स्वतंत्र और उद्दाम प्रणय अपनी प्रकृति में ही असामाजिक होता है । पंजाबी में भी रहस्य, रोमांच तथा अलौकिक तत्वों से युक्त ऐसे रोमानी किस्सों की संख्या बहुत बड़ी है जिनका उत्कट प्रणयारम्भ भी नियंत्रित सामाजिक परम्परा में पर्यवसित हो जाता है । पर पंजाबी किस्साकारी में हीर–रांझा, सोहणी–महीवाल, सस्सी–पुन्नू, शीरीं–फरहाद, लैला–मजनू, रोडा–जलाली, मलकी–कीमा, मिर्जा–साहिबां आदि की ग्रामकथाओं के आधार पर रचित उत्कट भावुक–प्रणय के किस्से ही श्रेष्ठ और यथार्थ किस्साकारी के आदर्श स्वीकार किए जाते हैं । उन किस्सों में प्रणयारम्भ, प्रणय–विकास, संघर्ष और अन्त के तत्व नितान्त स्वाभाविक, प्रभावपूर्ण, लोकप्रिय और हृदय को छूने वाले बन पड़े हैं । स्वतंत्र प्रेम के रास्ते की वास्तविक रुकावटों और सामाजिक अवरोध को अमान्य करने वाले ये व्यक्तित्व अपने जीवनकाल में प्रकृत कष्ट सहन करते हैं, प्रेम के कारण सामाजिक दण्ड के भागी बनते हैं पर इसी के परिणाम–स्वरूप मरणोपरान्त लोकमन में प्रणयवीरों–कामिल आशिकों के रूप में गहरे पैठ जाते हैं । रोमांस की यही यथार्थता भी है ।[37]

पंजाबी किस्सा काव्य की इस विशिष्टता के लिए पंजाब का मध्यकालीन वातावरण विशेष रूप में उत्तरदायी प्रतीत होता है । पश्चिमोत्तरी सीमान्त का यह प्रहरी प्रदेश प्रागैतिहासिक काल से भारत प्रवेश करने वाले बाहरी आक्रमणकारियों का एकमात्र मार्ग रहा है । मध्यदेश के समान स्थिर सामाजिक संरचना के लिए उत्तरदायी वातावरण का यहां अभाव रहा है । स्थिर समाज में ज्ञान, संस्कृति, परिष्कृति, कलाभिरुचि आदि के लिए जहां उपयुक्त परिवेश उपलब्ध रहता है वहीं रूढ़ और ह्रासवादी परिस्थितियों के लिए भी अनुकूल अवसर रहते हैं । सीमान्त प्रदेश तथा प्रायः युद्ध–क्षेत्र बने रहने वाले भू–भागों की जनता प्रायः कठोर, सरल, भावुक, अपरिष्कृत पर साथ ही अपेक्षतया रूढ़िहीन और परम्परामु त भी होती है या परम्परामुक्त होने के लिए अधिक स्वतंत्र एवं नवीन परिवर्तनों की सहज कृति के लिए उद्यत

36. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त , पृष्ठ 299
37. वही०, पृष्ठ 300–301

रहती है । मध्यदेश के समान अभिजात सामंती समाज तथा नगर संस्कृति का मध्यकाल के पंजाब में अभाव रहा है ।[38]

हम यह तो कदापि नहीं कह सकते कि नर–नारी के स्वतंत्र उन्मुक्त सम्बन्धों के लिए पंजाब की समाज–व्यवस्था अधिक उदार रही है । इस पर भी अपने जीवन काल में कठोर सामाजिक दण्ड के भागी बनने वाले यथार्थ अथवा कल्पित प्रणयी–जनों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का भाव अनुभव करने वाली नई पीढ़ी के लिए सामन्ती आदर्शवाद का प्रत्यक्ष या परोक्ष अंकुश और आग्रह पंजाब में मध्यदेश की अपेक्षा अवश्य कम रहा है । इसीलिए उन प्रेमीजनों की वास्तविक या काल्पनिक कथा जब कही गई तो उसे समाज–स्वीकृत बनाने के प्रयास नहीं हुए । इश्क की निन्दा और इश्क की प्रशंसा, नारी–निन्दा और नारी के प्रेम की प्राप्ति के लिए प्राणों का उत्सर्ग, इश्क की घातकता और इश्क की अलौकिकता का बखान पंजाबी किस्साकारी में बहुत उभरे हुए लोक तत्व हैं । एक ओर ये सामाजिक यथार्थ का प्रकट कथन करते हैं, तो दूसरी ओर रोमांसिक काम्य भाव को अभिव्यक्ति देने में भी ये मुक्त हैं । पंजाबी का अन्य भारतीय भाषाओं के प्रेमाख्यानों से एकमात्र यही प्रमुख भेद है । अर्धकथानक के लेखक बनारसीदास जैन का कथन मध्यकाल में मध्यदेश की स्थिति का सुन्दर उदाहरण पेश करता है ।[39] वह बड़े बूढ़ों से छिप–छिपा कर, हाट–बाजार जाना छोड़ कर मधुमालती, मृगावती आदि प्रेमाख्यान पढ़ा करते थे । सब कुछ छोड़–छाड़ कर प्रेमाख्यानों के अध्ययन में जुटना मानव की उस सहज–स्वाभाविक भूख का सूचक है जो जीवन की निरोध तथा निषेध की परिस्थितियों में बढ़ती और भड़कती है । बड़े–बूढ़ों से छिप कर उन प्रेमाख्यानों का अध्ययन उन रचनाओं के बृहत्तर समाज में अमान्यता का प्रमाण है । बंगला और हिन्दी आदि के लोकचेतना-सम्पन्न लेखकों के समानान्तर अभिजात और सामन्ती मान्यताओं का अनुवर्ती सशक्त परम्परावादी वर्ग भी विद्यमान था । इसीलिए इन भाषाओं के प्रमुख प्रेमाख्यानों में उत्कट, स्वाभाविक और स्वतंत्र प्रणयारम्भ के बाद समाज–स्वीकृत विवाह के रूप में परिणति के द्वारा इन दोनों प्रभावों का समन्वय हो जाता है ।[40] पंजाबी लोकमन और पंजाबी साहित्य में हीर, सोहणी, सस्सी, साहिबां आदि न केवल लोक–प्रिय ही हैं, ये लोकमान्य व्यक्तित्व भी हैं । किस्सों का सामूहिक गान तथा सम्पूर्ण सामाजिक स्वीकृति एक तथ्य है । भले ही पंजाब का नवशिक्षित वर्ग ऐतिहासिक कारणों तथा आभिजात्य प्रभावों के कारण पंजाबी के छोटे–छोटे किस्सों को अपनाने, अपने साहित्यिक भण्डार का रत्न मानने में कुछ संकोच अनुभव करने लगा है, फिर भी छापाखाना आ जाने के बाद से हर वर्ष हजारों की संख्या में छोटे–छोटे किस्सों का छपना–बिकना और घर–घर में पहुँचना इनकी लोकप्रियता तथा लोकमान्यता का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है । पंजाब के समाज में लगभग वर्गहीन ग्राम्य तत्वों का पूर्ण प्रभुत्व तथा मध्यदेश में ग्राम्य वर्ग पर भी नगरीय आभिजात्य और रूढ़िवादी वर्ग का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव इस भेद के अन्य कारण माने जा सकते हैं ।

---

38. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ 301

39. हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पटना, 1961, पृष्ठ 109

40. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोद्धृत**, पृष्ठ 300–301

परिणति

प्रेमाख्यानों के विषय, धारणा, चेतना, शैली, कथारूढ़ि, लोकतत्व आदि अनेक पक्षों में से इस लेख को केवल मध्यकालीन लोकजागरण की आधार भूमि तक ही सीमित रखने का प्रयास किया गया। पर यह आधारभूमि भी कालान्तर में बदल कर रोमांसों के परिवर्तन, ह्रास और समाप्ति की स्वाभाविक ऐतिहासिक भूमिका बनाती है।

यह धारा भी देर तक अपनी शक्तिमत्ता स्थिर नहीं रख पाती। परिवार तथा समाज–व्यवस्था की संश्लिष्टता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आ पाता। नवजाग्रत लोक अपनी भावनाओं को इस रूप में अभिव्यक्त करता अवश्य है, पर सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता के प्रभाव के कारण अवचेतन में वह मर्यादावादी धर्मों तथा परिवार की मर्यादा के आग्रह से बच नहीं सकता। इससे प्रायः दो–अढ़ाई सौ वर्षों में ही इसकी उत्कटता व एकान्तिकता चुक जाती है। आख्यानों के नायक क्रमशः उत्कट प्रेमियों से सामन्ती नायकों में परिणत होने आरम्भ हो जाते हैं। विवाह अनिवार्य अन्तिम परिणति के रूप में मान्य हो जाता है और रोमांस घड़े–घड़ाए अभिजात प्रबन्ध–काव्यों की कोटि के निकट पहुंच जाते हैं।[41] रत्नसेन, रांझा, महीवाल व माधवानल का स्थान अब राजा इन्द्रसेन, ढोलबादशाह, राजा रूपचन्द व राजकुमार खुर्रम ले लेते हैं और पद्मावती, सोहणी आदि अब हंस दामिनी, इन्दरा शहजादी तथा कला काम में बदल जाती है, और इस प्रकार मध्यकाल का नवजाग्रत लोक एक बार फिर आभिजात्य नैतिकता, सामाजिक मूल्य तथा मर्यादा को स्वीकार करके उसी व्यवस्था में पर्यवसित हो जाता है। यूरोप में भी आर्थरयिन रोमांसों तक की विकास यात्रा के बाद 'त्रिस्तान व आइसियल्त' की सी सशक्त रोमांस–बैलेड्स का स्थान 'बैलेड्स आफ शिवालरी' ग्रहण कर लेती है।[42] नवजागरणकाल आने के साथ तथा क्लासिकी मूल्यों की पुनर्स्थापना के साथ मध्यकालीन रोमांस अपना समग्र स्रोत चुका कर इतिहास भर की बात बन कर रह जाते हैं।

परिणाम रूप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में नवजाग्रत लोक का निज व्यक्तित्व परिचय अपनी आन्तरिक भावना को अभिव्यक्त करने में स्वतंत्र, सबल व सफल होकर उपर्युक्त मध्यकालीन रोमांसों के लिए रचयिता, प्रशंसक व संरक्षक प्रदान करता है। परन्तु उस काल में भी रोमांसों की यथार्थता मानसिक–भावात्मक अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहती है। व्यावहारिक सामाजिक व्यवस्था का रूप वह कभी भी ग्रहण नहीं कर पाती। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान स्तांधल के शब्दों में – 'रोमांस सपना मात्र है और हर स्वप्नमुग्ध व्यक्ति की नियति विनाश होती है।' हम उस प्रकार के भावुक–एकान्तिक प्रणय की कामना कर सकते हैं, उसका स्वप्न देख सकते हैं पर उसे जीवन में व्यवहृत नहीं कर सकते। मानव अपने आर्थिक, सामाजिक विकास के जिस स्तर पर पहुंच चुका है, वहां इस दर्शन का क्रियान्वयन सामाजिक हित के विरोध में पड़ने से भारी मूल्य की मांग करता है। इस प्रकार इस प्रबल

---

41. विस्तृत जानकारी के लिए दृष्टव्य – 'मध्यकाल में रोमांसिक प्रेम का आधार', **परिशोध–7**, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में प्रकाशित लेखक का लेख।

42. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 188, 193, 211

कामना को जीवन में सार्थकता दे सकने की असमर्थता, विवाह की संस्था को तोड़ न सकने की मजबूरी, इस भावना के प्रति उतने ही प्रबल मानसिक आग्रह को जन्म देती है और यही है रोमांसों का आधार। पंजाबी की एक कहानी इस द्विविधा व द्वन्द्व को बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट करती है।

श्री कुलवन्तसिंह विरक की इस कहानी[43] में भारत दर्शन के उद्देश्य से आया एक यूरोपीय पर्यटक अपने एक पंजाबी मित्र के साथ लुधियाना की सड़कों पर घूम रहा है। वह पंजाबी युवक सड़क की दूसरी ओर सीधे–सादे खद्दर के कुरते–शलवार में, झोला बगल में लटकाए एक महिला को देख कर प्रणाम करके उसे रोकता है। तीनों चाय पीते हुए बातचीत करने के लक्ष्य से किसी रेस्तरां में जा बैठते हैं। वह युवक उस युवती से पूछता है कि नगर की सफल लेडी डाक्टर के रूप को, कार, बंगला, नागरिक सुविधाओं व सम्मान को छोड़ कर उसके गांव में जा बसने का आखिर क्या कारण है ? वह महिला डाक्टर उत्तर देती है कि यद्यपि उसकी बात को बड़बोलापन या डींग माना जाने का भय है फिर भी गांव में उसके जाने का लक्ष्य उसकी अपनी ग्रामीण बहनों के उद्धार व मुक्ति की कामना ही है। वह युवक कुछ आश्चर्य के साथ कहता है कि पंजाब की एक बेटी हीर थी। उसने अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्राण तक न्यौछावर कर दिए थे। चार–पांच सौ वर्षों से सारी जनता उसे अपने हृदय में स्थान दिए है, उसके प्रेम के सम्बन्ध में गीत, गाथाएं, किस्से व कहानियां दिन–रात लिखी व गाई जाती हैं। यदि हीर इतना सब होमे पर भी अपने प्रदेश की बहनों की मुक्ति का माध्यम नहीं बन सकी, तो दो–चार ग्रामों तक की सीमा तक ही रहने वाली एक महिला डाक्टर यह सब कैसे कर सकेगी। डाक्टर का उत्तर रोमांसों की यथार्थता को स्पष्ट करता है। वह कहती है कि हीर का त्याग प्रशंसनीय है, काम्य है। हम उसे प्यार कर सकते हैं, उसका स्वप्न देख सकते हैं, उसका गीत गा सकते हैं, पर सामान्य जैवी (बॉयलोजीकल) स्तर पर हम उसका मूल्य नहीं चुका सकते। हीर ने मृत्यु के वरण द्वारा वह मूल्य चुकाया था, जो मेरी ग्राम की बहनों के लिए व्यवहार्य नहीं हो सकता। परन्तु मेरे मार्ग से मुक्ति निश्चित है, चाहे कुछ देर में हो, जबकि मूल्य सरल व सम्भव है। ग्राम की अनपढ़, पीड़ित तथा परतन्त्र बहनें जब यह देखती हैं कि उनकी ही सी गांव की एक बहन या बेटी, केवल अपनी आधुनिक शिक्षा के कारण स्वच्छन्द गांव–गांव घूम-फिर सकती है, उसे सम्मान व मुक्ति दोनों प्राप्त हैं, तो निश्चित ही उनके मन के किसी कोने में स्वयं के लिए न भी हो, अपनी बहनों व बेटियों के लिए अवश्य इस मुक्ति का बीज जाग्रत होगा। और यदि जीवन में 20–30 महिलाओं के हृदय में भी वह यह भाव जगा सकी, तो हीर की अपेक्षा यह नारी-मुक्ति-अभियान अधिक सफल होगा। क्योंकि इसका मूल्य देय है, समाज–सम्मत है, जबकि हीर का केवल गीत ही गाया जा सकता है, स्वयं हीर बन कर मृत्यु–वरण अव्यवहार्य होगा। यही रोमांसों की यथार्थता है और यही अव्यवहार्यता उनका आधार है। सम्भाव्यता इस भाव के अन्त का कारण बनती है, जबकि सतत विरोध तथा अप्राप्ति इसे बनाए रखती है, और यह द्वैध किसी बिन्दु पर मिल सके यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।

---

43. कुलवन्तसिंह विरक, 'नमस्कार' (पंजाबी कहानी) व ट्रिब्यून, खण्ड 86, अंक 168, जून 19, 1966

अध्याय 14

मध्यकालीन लोकजागरण और रोमांस भावना

मध्यकाल में एक जैन कवि हुए हैं – बनारसीदास । उनकी यह आत्मस्वीकृति है कि बड़े-बूढ़ों से छिप-छिपा कर वह मृगावती और मधुमालती के प्रेमाख्यान पढ़ा करते थे ।[1] उन्होंने कह दिया, अनेक लोग यही करते होंगे, पर कहने का साहस नहीं जुटा पाए होंगे । पंजाब के सब किस्साकार इश्क को खुदा की ज़ात कहते हैं, इश्क को ईश्वर की महान देन मानते हैं । इश्क करने वाले दैवी व्यक्ति माने गए हैं । पर साथ ही इश्क को बहुत कठिन, विकट और असाध्य भी कहा गया है । मिर्जा साहिबां के लेखक का कहना है – 'इश्क न होए हाफिजा, बाझों मौत मरे ।' कबीर का भी यही मत है कि प्रेम में डूबने से ही पार उतरा जा सकता है । 'हीर' सारे उत्तर पश्चिमी भारत के हृदय का बहुमूल्य रत्न है । उसके प्रेम की एकाग्रता सब के लिए काम्य है, प्रिय है । पर पहला पंजाबी किस्साकार, करुणा भरे स्वर में यह क्यों कहता है – 'आख दमोदर अक्खां डिट्ठी, जे सिर सलेटी दे आई ?' प्रश्न विचित्र है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जो इश्क पूरी तरह निषिद्ध, गर्हित, हीन, असामाजिक और अनैतिक माना जाता है, वही साहित्य में सर्वोत्कृष्ट क्यों है ?[2] एक फ्रांसीसी समीक्षक का मत है कि अगर नर-नारी प्रेम, स्वतंत्र उद्दाम प्रणय अथवा इश्क को साहित्य में से निकाल दिया जाए, तो केवल पाँच प्रतिशत साहित्य ही शेष बचता है, और वह भी शायद मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जों में ही सुरक्षित रह सके । एक प्रश्न और भी है कि विश्व भर में केवल मध्यकाल में ही इस सामाजिक एडल्ट्री अथवा व्यभिचार[3] को मान्य, काम्य और ग्राह्य के रूप में समान एवं समानान्तर साहित्यिक अभिव्यक्ति और सामाजिक मान्यता क्यों प्राप्त हो सकी ? मानव समाज के विकास, मानसिक विधि-निषेध और विरेचन (कैथारसिस) की दृष्टि से यह प्रश्न ही हमारे इस विचार का विषय है ।

भोजन तलाशना, भय और यौन अथवा सैक्स प्राणीमात्र की तीन महत्त्वपूर्ण और मुख्य प्रवृत्तियां (इंस्टिंक्ट्स) हैं । सैक्स का आकर्षण सहज जैवी अनिवार्यता है । इससे सन्तान-उत्पत्ति और जाति-विकास की प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति होती है । पर मानव के सामाजिक विकास में जहां भोजन-तलाशना और भय की प्रवृत्तियों को सहज अभिव्यक्ति और मान्यता प्राप्त होती है, वहां सैक्स को विशेष सामाजिक, नैतिक और धार्मिक नियमोपनियमों द्वारा

---

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृष्ठ 109
2. आन्द्रे मोराय, **सैबन फेसिज आव लव**, (हाकोन एम० शिवेलियर द्वारा मूल, फ्रांसीसी से अनूदित) जैको, पृष्ठ 17
3. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, (फ्रांसीसी से अनूदित, बैल्जियन मोंटगोमरी द्वारा), पृष्ठ 16

नियंत्रित रूप में ही किसी तरह सहन भर किया जाता है।[4] जिसकी अनिवार्यता के सामने शारीरिक, मानसिक दृष्टि से आदमी मजबूर हो, परन्तु जिसकी प्राप्ति अप्राप्य या नियंत्रित हो, वह मानसिक आकर्षण और भूख पैदा करती है, और इसे ही वृत्तिरूप में रोमांस का नाम दिया जा सकता है।[5]

मानव का सामाजिक-आर्थिक विकास इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है। होमो सैपियन अथवा होमो इरेक्टस जाति के एक प्राणी के रूप में धीरे-धीरे मानव बाकी पशुओं से अलग हो गया। पशुओं की तरह के प्रवृत्तिजन्य ज्ञान (इंस्टिंक्टिव नॉलेज) के साथ-साथ अर्जित ज्ञान (ऐक्वायर्ड नॉलेज) की प्राप्ति और इस नए ज्ञान का आदान-प्रदान इस मानव पशु की खासियत थी। अस्तित्व के संघर्ष में वह कबीलों में झुण्डों के रूप में रहता था। प्रकृति के सहज-सुलभ साधनों पर उसके अधिकार का घेरा बढ़ता गया।[6] अपने विकास के अनेक चरणों में शिकार, पशुपालन और खेती का वह विकास करता है। सम्पत्ति के विकास के साथ उत्तराधिकार (इनहैरिटैंस) का सवाल उभरता गया। धीरे-धीरे कबीले की सांझी सम्पत्ति के साथ-साथ अलग निजी सम्पत्ति का भी विकास होता है। अविविक्त संभोग या पशुवत् फ्री सैक्स के इस युग में पिता की पहचान असम्भव होने के कारण जायदाद की विरासत माँ, बहन, मासी और उनकी नारी सन्तान को प्राप्त होती है।[7] प्रकृति के साधनों पर अधिकार करने में मातृत्व का भार वहन करने वाली नारी की अपेक्षा पुरुष अधिक सफल होता है। सम्पत्ति का अधिकार और दोहन लगभग उसी के हाथ में आ जाता है। पर हजारों सालों बाद इस जायदाद का बहनों, मासियों और उनकी सन्तानों को विरासत में दिया जाना पुरुष को अखरने लगता है। अपनी सन्तान की निश्चयात्मकता के लिए ही धीरे-धीरे समाज-स्वीकृत एक-पतिव्रती परिवार का विकास होता है।[8] क्रमशः विवाह की संस्था महत्त्व प्राप्त करती है। इसे विशेष नैतिक मर्यादा, धार्मिक स्वीकृति और सामाजिक वैधता (सोशल लैजिटिमेसी)[9] प्राप्त होती है। सम्पत्ति के आदान-प्रदान और उत्तराधिकार का सवाल जुड़ा होने की वजह से विवाह का फैसला कबीले, कुल और परिवार की अधिकार सीमा में स्वीकार होता है। विवाह की यह संस्था सैक्स के नियंत्रण में उस सीमा तक पहुंच जाती है जहां सामन्त युग की शिखरावस्था में यौन-निग्रह (सैक्सुअल सुपरैशन) और यौन-नैतिकता (सैक्सुअल मोरेलिटी) के दूसरे ध्रुवांत पर वेश्यावृत्ति, रखैल की परम्परा, बहुविवाह और ब्रह्मचर्य आदि की प्रकृति-विरोधी परम्पराओं का विकास होता है।[10] सामन्त वर्ग समाज-स्वीकृत विवाह, बहुविवाह और वेश्या व रखैल से उच्छृंखल सम्बन्ध दोनों का सहारा ले सकता है, जब कि लोक (फोक) और मध्यवर्ग यौन-नैतिकता

---

4. फ्लोयड डैल, **लव इन मशीन एज**, लंदन, 1930, पृष्ठ 28
5. आन्द्रे मोराय, **पूर्वोक्त**, (मादाम बावेरी), पृष्ठ 158–161
6. हावर्ड वैकर तथा हैरी एल्मर बार्नीज, **सोशल थॉट फ्राम लोर टू सांयंस**, खण्ड 2, पृष्ठ 714
7. **वही०**, पृष्ठ 755
8. उदाहरणार्थ – **महाभारत** 1,113, पाण्डु द्वारा कहा गया श्वेतकेतु का नियम
9. पी०, टामस, **इंडियन वुमेन थ्रू द एजिज़**, पृष्ठ 48
10. **वही०**, पृष्ठ 71

(सेक्सुअल मोरेलिटी) के शिकंजे में कसकर एक विशेष मानसिक भूख का शिकार हो जाता है ।[11] स्त्री को वस्तु मानने की प्रवृत्ति बढ़ती है और उसके व्यक्तित्व को प्रायः अमान्य कर दिया जाता है । अपनी दलित और दमित अवस्था में इस मानसिक भूख के लौकिक स्तर पर भले ही विद्यमान और अभिव्यक्त होने के कुछ प्रमाण मिलते हैं परन्तु सामन्ती नियंत्रण में सैक्स के क्षेत्र में सामन्ती नैतिकता या उच्छृंखलता ही प्रमुख बने रहते हैं ।

क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, इस्लाम और ईसाई) की छिन्न-भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है । मध्यकाल को पतन काल, अंधकारकाल, अवनतिकाल, हीनता का काल आदि भी कहा जाता है । परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती-आभिजात्य (फ्यूडल-क्लासिकल) दृष्टि तथा रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है । निरपेक्ष दृष्टि से इसे सामन्ती-क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है । यूरोप, अरब, ईरान और भारत की सामन्ती सभ्यताओं के लिए और क्लासिकी धर्मों के लिए यह काफी परिवर्तन, अवमूल्यन (डीवैलुएशन) और विघटन का काल रहा है । धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता के सामने अनेक प्रश्न-चिन्ह लगते हैं । सामाजिक व्यवस्था और वर्गभेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं । इसी परिवेश में ऊपर कहे गए सभी सामन्ती क्लासिकी समाजों में रोमांसों का आरम्भ होता है ।[12] परन्तु इसमें एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह लक्षित होता है कि नर-नारी सम्बन्धों के क्षेत्र में अब यह सामन्ती समाज की तरह अनैतिक (इम्मौरल) वृत्ति न होकर विशेष आध्यात्मिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यों से समन्वित गुण के रूप में स्वीकार होता है । अप्राप्य के दैवीकरण (डीईफिकेशन आफ द अनएचीवेबल) की सहज मानवीय वृत्ति का यहां सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है ।[13] इश्क को खुदा की ज़ात, उसकी विशेष देन के रूप में स्वीकृति प्राप्त होती है । स्त्री के व्यक्तित्व को स्वीकृति ही नहीं, महान स्वीकृति प्राप्त होती है । उसे ईश्वर और साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है । प्रेमी अब विजेता और कन्याहरण करने वाले सामन्त से हट कर सर्वस्व-त्यागी, आत्म-बलिदानी साधक बन जाता है । मध्यकालीन साहित्य की इस क्रान्तिकारी घटना का विवेचन अलग-अलग देशों के सामाजिक-धार्मिक सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त होगा ।

यूरोप तथा रोमांस

यूरोप में भावुक प्रणय अथवा रोमांस बारहवीं शताब्दी में विकसित करने के उपयुक्त भाव के रूप में स्वीकृत और मान्य होता है ।[14] उसी काल में कोर्टेजिया अथवा कोर्टली लव का आरम्भ होता है । यह मुख्यतः ईसाइयत, उसकी दमित यौन-नैतिकता (मारबिड सेक्सुअल मोरेलिटी) और विवाह परम्परा के दमन की प्रतिक्रिया या रिएक्शन के रूप में विकसित होता है ।[15] सामंती वर्ग की उच्छृंखलता, उद्दण्डता और अराजकतापूर्ण व्यवहार भी इसके लिए

11. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 276–277
12. हर्बर्ट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर** (क्लासिकल तथा रोमांटिक), पृष्ठ 289
13. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 61–62, 76
14. **वही०**, पृष्ठ 33
15. **वही०**, पृष्ठ 35

प्रतिक्रियात्मक कारण प्रस्तुत करते हैं । सामन्ती समाज में विवाह अथवा स्त्री-प्राप्ति का उद्देश्य केवल सैक्स की पाशविक भूख की शान्ति, सन्तान-प्राप्ति और दहेज द्वारा सम्पत्ति हथियाना ही रह गया था ।[16] इसके विरुद्ध पश्चिमी यूरोप के ड्रुइड पुरोहित स्त्री को ईश्वरीय और उससे सम्पर्क की भावना को प्रकाश-तृष्णा के रूप में प्रचारित करते हैं । कोर्टेजिया जैसे पवित्र यज्ञ का आरम्भ होता है, जिसमें प्रेमिका के प्रति सम्पूर्ण आत्मदान का वचन ग्रहण किया जाता है ।[17] कोर्टेजिया मिलन की अवहेलना करता है । आत्मनिग्रह और स्वयं स्वीकार की गई विरह की यह भावना एक भावुक उन्माद और गहरे नशे का कारण बनती है[18] जो एक नई रहस्यात्मकता (मिस्टिसिज्म) को जन्म देता है ।[19] बाद की ईसाइयत का रहस्यवादी और भावुकतापूर्ण स्वर लोक के इसी जागरण और कोर्टेजिया का परिणाम है ।[20] इसके साथ ही साथ ईसाइयत की कट्टरता की विरोधी नास्तिक तथा कथारिस्ट धर्मपरम्पराओं ने भी, जो फारसी तथा प्रकारान्तर से भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित थीं, पश्चिमी यूरोप को बहुत प्रभावित किया । कथारिस्टों का सर्वप्रथम प्रभाव फ्रांस के पश्चिमी भाग पर हुआ और वहां के प्रावेंसलस, ड्रुइड पुरोहितों तथा ट्राबोडोर गायकों द्वारा रोमांस अथवा कोर्टेजिया सारे यूरोप का नया प्रेमवादी, रहस्यवादी तथा भावुक दर्शन बन जाता है ।[21]

अरब तथा रोमांस

अरब में भी ट्राबोडोर गायकों के समानान्तर ही भावुक प्रणय का आरम्भ होता है । आरम्भिक इस्लाम की समष्टि भावना, व्यक्ति अवमानना और विवाह सम्बन्धों का आग्रह और पवित्रता वहां भी जन-सामान्य के मन् में भावुक आकर्षण को जन्म देती है ।[22] इसका वृत्त लौकिक या दुनियावी न होकर धार्मिक और आध्यात्मिक (मैटाफिजिकल) स्वीकार होता है । पर सूफी प्रेम-साधना नर-नारी के सहज, मुक्त और सशक्त आकर्षण पर ही आधृत है । सहज जैवी लालसा भावात्मक धरातल पर आ जाती है और सामाजिक स्वीकृति के लिए उसे रहस्यवादी स्वरूप धारण करना पड़ता है । विधि-निषेध को ईमानदारी के स्तर पर स्वीकार करने वाला वर्ग तो नर-नारी के इस प्रणयाकर्षण को आत्मा-परमात्मा के आकर्षण के प्रतीक रूप में ही ग्रहण करता है, परन्तु इसका लौकिक आकर्षण जन-सामान्य में इन रोमांसों के अत्यधिक प्रचलन, प्रसिद्धि और लोकप्रियता का कारण बनता है ।

भारत तथा रोमांस

भारत में वैदिक युग कर्मकाण्ड (रिचुअल) का तथा सामन्ती व्यवस्था की ओर बढ़ रही समाज-व्यवस्था का काल है । बाद का उपनिषदों का दर्शन और संस्कृत का साहित्य अभिजात

16. डेनिस डी॰ रोगिमोंट, पूर्वोक्त, पृ॰ 75
17. डेनिस डी॰ ऐगिमोंट पूर्वोक्त, पृष्ठ 61–62 तथा 76
18. हर्बर्ट ग्रियर्सन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 278
19. सर जान वुडरोफ, शक्ति एण्ड शाक्त, पृष्ठ 1–2
20. सेम्पसन, केम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंग्लिश लिट्रेचर, केम्ब्रिज, 1949
21. डेनिस डी॰ रोगिमोंट, पूर्वोक्त, पृष्ठ 78–83, 121
22. जैन, विमलकुमार, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 6–7

वर्ग की विशेष धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं का आधार ग्रहण करता है । संस्कृत में या तो आध्यात्मिकता या आभिजात्य उच्छृंखल वासना तथा भाषा-शैली अलंकरण के स्वर प्रमुख हैं । इसके विरुद्ध बौद्ध-जैन, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य का बहुत बड़ा भाग सहज रोमांस के तत्त्वों की विद्यमानता के प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[23] गुणाढ्य, सोमदेव आदि की कृतियां अभिजात अथवा उच्चवर्ग के विरुद्ध लोक की भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करतो हैं ।

हिन्दी और पंजाबी आदि भाषाओं की आरम्भिक कृतियों में भी धर्म-दर्शन, नैतिक मान्यताओं और सामन्ती वीर-भावना की प्रधानता है । रोमांस के हल्के संकेत मिलते अवश्य हैं पर उनका मुख्य स्वर गर्लहंटिंग या कन्या प्राप्ति का ही बना रहता है । आरम्भिक संघर्ष के बाद मुसलमानों के भारत में स्थिर हो जाने पर हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है । हिन्दू धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी उससे विमुख होकर बौद्ध-जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथपंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था ।[24] इस्लाम का अनुयायी लोक तथा जनसामान्य भी स्वयं को सामन्तों द्वारा उतना ही शोषित तथा दमित अनुभव कर रहा था । दोनों मज़हबों का यह बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक परस्पर निकटता और एकात्मकता अनुभव करता है । आभिजात्यवादी कर्मकाण्डी मान्यताओं से लोक का विश्वास उठता है और लोक की इसी क्रान्ति में कबीर जैसे मार्गदर्शक के माध्यम से लोक अपने नवीन व्यक्तित्व, अपनी नई खुदी की पहचान करता है । इसी परम्परा में गुरु नानकदेव, दादूदयाल, रविदास, सहजोबाई, दयाबाई, मलूकदास, धर्मदास, सुन्दरदास जैसे महान सन्तों और जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख उसमान जैसे महान सूफी कवियों का अवतरण होता है । अभिजात वर्ग के क्लासिकी धर्म, ईश्वर, नैतिक मान्यता और जीवन-परम्परा के प्रति ये अपने-अपने ढंग से अनास्था प्रकट करते हैं और इस प्रकार लोक को नई आस्था, नया विश्वास, नया व्यक्तित्व और समाज में नया स्थान और मूल्य प्रदान करते हैं ।

अभिजात वर्ग की मानसिक गुलामी से मुक्त लोक अब उसकी धार्मिक-साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अनास्था प्रकट करता है । इसीलिए ऊपर कहे गए सभी सन्तों, भक्तों और धर्म-गुरुओं द्वारा प्रचारित उपदेश अभिजात हिन्दू और मुसलमान दोनों के कर्मकाण्ड, कठोरता और नियंत्रण से मुक्त हैं । मानसिक दासता से मुक्त लोक अपने सहज अनुभव और सहज भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में भी मुक्त हो जाता है । वह अपने सहज ग्राम्य-गीतों, गाथाओं (बैलेड्स), कथनों और उक्तियों को अपनी ग्राम्य और संस्कृत-विहीन भाषा में अभिव्यक्ति देने के लिए मानसिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है ।

मध्यदेश में स्त्री-वर्गीय घटकों को आरम्भिक तांत्रिक सम्प्रदाय अत्यधिक सम्मान और पूजा का स्थान दे ही चुके थे ।[25] प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य लौकिक प्रणयाकर्षण और

---

23. पी०, टामस, पूर्वोक्त, पृष्ठ 10, 48, 83, 84
24. वही०, पृष्ठ 222–224
25. वही०, पृष्ठ 10, 48

संघर्ष-जन्य रोमांस के लिए आधार बना ही चुका था। दूसरी ओर अरब में और मुख्यतः फारस में सूफी नवजागरणवाद भावुक प्रेम और आकर्षण को ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र मार्ग बता चुका था। इन संश्लिष्ट प्रभावों में भारत का मुक्त (इमैनिसिपेटिड) लोक अपने भावों को अधिक भावुकता, रोमांसिकता के साथ तथा अभिजात-विरोधी सहज स्वर में अभिव्यक्ति देने में स्वतंत्र हो जाता है। इश्क हकीकी को पहले काम्य माना जाता है। पर हकीकी का आधार मजाज़ी अर्थात् लौकिक या शारीरिक इश्क ही बन सकता है। लौकिक बिम्ब और प्रतीक के बिना इश्क हकीकी का अस्तित्व भी सम्भव नहीं हो सकता।[26] विशेष भक्तों ने जो भी कहा है, उसे सुनने-पढ़ने वाले लोक को अपने हृदय की ध्वनि, अपनी दमित शृंगार की भूख, रोमांस भावना की धड़कन ही उसमें सुनाई देती है, और एक प्रबल धारा के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है, सभी भारतीय भाषाओं की प्रेमाख्यानक धारा।

रोमांस के नायक—नायिका

यहां हम देखते हैं कि कथा—नायकों और नायिकाओं का सारा व्यक्तित्व ही क्लासिकी हीरो—हीरोइनों से एकदम बदल जाता है। रांझा हीर को चाहता है तो हीर भी रांझे को चाहती है। रत्नसेन पद्मावती का प्रणयाकांक्षी है, तो वह भी समान स्तर पर ही उस पर जान देने को उद्यत है। यही स्थिति मिर्जा—साहिबां, सोहणी—महीवाल, चित्रावली—सुजान, मधुमालती—कुवंर, माधवानल—कामकंदला, सस्सी—पुन्नू, रोडा—जलाली आदि हजारों प्रेमी—प्रेमिकाओं की है। रत्नसेन राजा है लेकिन पद्मावती के प्रणय में वह योगी रूप में त्याग और तपस्या द्वारा ही उसकी प्राप्ति के लिए निकलता है। उसके साथ चलने वाले हजारों अन्य राजकुमार भी जोगी वेश में हैं। उनकी स्थिति, मानसिक-भावात्मक दृष्टिकोण सामन्ती राजाओं के स्त्री—प्राप्ति के अभियानों से एकदम भिन्न है। रांझा घर—बार छोड़ कर चाकर बनता है। महीवाल अपनी सुख—सम्पदा और ऐश्वर्य छोड़ कर पशु—पाल और नौकर बनता है। सस्सी का प्रेमी अपना राजपाट छोड़ कर प्रेमिका का दीवाना बन जाता है। प्रेमिका—मिलन का प्रयास त्याग और तपस्या का है, दिल जलाकर और शरीर का परित्याग करके भी प्रेम की लौ जलाने का है। अवरोध उनके प्रणय में वृद्धि का कारण बनते हैं। प्रेमिकायें भी सामन्ती महलों में पर्दे में बन्द निष्क्रिय महिलायें न हो कर हर मूल्य पर इश्क का पालन करने वाली सक्रिय नायिकाएं हैं।

रोमांसों की नैतिकता

अवरोध मुख्यतः समाज की ओर से होता है, परन्तु आशिक सदा ईश्वर के दरबार में महान स्वीकार किए जाते हैं। सोहणी और महीवाल की मृत्यु पर स्वयं ख्वाज़ा खिज्र उनके जनाज़े की अन्तिम क्रियाएं सम्पन्न करते हैं। हज़रत मुहम्मद साहिब के चरणों में मक्का शरीफ में उन्हें दफनाया जाता है। शंकर और अन्य देवता रत्नसेन की सहायता के लिए आते हैं। राजा विक्रमादित्य माधवानल और कामकन्दला का सहयोगी बनता है। इन प्रेमाख्यानों की स्थिति विचित्र है। समाज उनके एकान्तिक, एकनिष्ठ प्रणय को व्यभिचार (एडल्ट्री) मानता है

---

26. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, **मध्यकालीन धर्मसाधना**, पृष्ठ 225

और समाज में प्रेमी प्रेमिकाओं की स्थिति लगभग आज भी वही है, जबकि ईश्वरीय न्याय उनका सहयोगी माना गया है। आशिकों को खुदा के बन्दे, ईश्वर के कृपापात्र माना गया है। स्वयं किस्साकार और प्रेमाख्यानकार भी उसी समाज-व्यवस्था का अंग है जिसमें इश्क को नीचता, चरित्रहीनता और अनैतिक कर्म माना जाता है, परन्तु फिर भी वह रोमांसों के नायक–नायिकाओं से केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करता, उनके गुणगान और गौरव वृद्धि में भी प्रवृत्त होता है।[27] यही रोमांसों की वास्तविकता है और यह कहा जा सकता है कि इश्क और प्रणय कामना के सहज सामाजिक रूप में अभिव्यक्ति न पा सकने के कारण उपयुक्त समय पर साहित्यिक, कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ये रोमांस विरेचन (कैथारसिस) का साधन बनते हैं, अर्थात् सामाजिक एडल्ट्री ही वैयक्तिक पक्ष में श्रेष्ठ प्रेम अथवा इश्क का आधार बनती है।[28]

रोमांसों का अभिव्यक्ति शिल्प

अभिव्यक्ति पक्ष में भी रोमांस आभिजात्य साहित्यिक विधाओं और तत्वों का पालन नहीं करते। इनकी अपनी ही लोक कथाओं और लोक गाथाओं की नवीन परम्परा बनती है। यही कारण है कि किसी भी आभिजात्य साहित्य परम्परा में प्रेमाख्यानों को किसी भी कलावर्ग के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जाता। विशुद्ध कथा कहने और प्रेम की कथा कहने भर को क्लासिकी वर्ग कभी सहन ही नहीं कर सकता।[29] इसी कारण आभिजात्य नाटकों, प्रबन्ध–काव्यों आदि से एकदम अलग हट कर नई विधा के रूप में विश्व भर के नवजागृत लोक (इमैनिसिपेटिड फोक) की लौकिक साहित्य विधा के रूप में यह नवीन साहित्य धारा अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

रोमांसों का उत्तरार्ध

परन्तु यह धारा भी देर तक अपनी शक्तिमत्ता स्थिर नहीं रख सकी। विवाह, परिवार और समाज की संश्लिष्ट व्यवस्था में लोक का यह नव जागरण परिवर्तन नहीं ला सका। लोक ने अपनी दमित भावनाओं को इस रूप में अभिव्यक्ति अवश्य दी पर अर्थव्यवस्था और समाजव्यवस्था की अनिवार्यता के प्रभाव के कारण अवचेतन में वह भी मर्यादावादी धर्मों और परिवार की मर्यादा के आग्रह से बच नहीं सका। इसलिए लगभग दो–अढ़ाई सौ वर्षों में ही इसकी उत्कटता और एकान्तिकता समाप्त हो जाती है। आख्यानों के नायक अब भावुक, एकनिष्ठ और एकान्तिक आशिकों से सामन्ती नायकों में बदलने आरम्भ हो जाते हैं। विवाह की संस्था अनिवार्य अन्तिम परिणत्ति के रूप में मान्य हो जाती है[30] और रोमांस घड़े–घड़ाये अभिजात प्रबन्ध–काव्यों की कोटि के निकट पहुंच जाते हैं। रत्नसेन, रांझा, महीवाल और माधवानल का स्थान अब राजा इन्द्रसेन, ढोलबादशाह, राजा रूपचन्द और राजकुमार खुर्रम ले लेते हैं। हीर, पद्मावती, सोहणी आदि अब हंस दामिनी, इन्दरा शहजादी और कलाकाम में

---

27. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल, उपर्युक्त**, पृष्ठ 11, 12, 27
28. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 16
29. एच० जे० फ्रांसिज तथा जे० टामस (अनु०), **जातक टेल्स**, जैको, पृष्ठ 205
30. भारद्वाज, मैथिली प्रसाद, मध्यकाल में रोमांसिक प्रेम का आधार, (शोध पत्र), **परिशोध–7**, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

बदल जाती है, और इस प्रकार मध्यकाल का नवजागृत लोक एक बार फिर आभिजात्य नैतिकता, सामाजिक मूल्य और मर्यादा को स्वीकार करके उसी व्यवस्था में पर्यवस्त हो जाता है। यूरोप में भी आर्थरियन रोमांसों तक की विकास यात्रा के बाद त्रिस्तान और आइसियल्त की सी शक्तिशाली रोमांस–बैलेड का स्थान अब बैलेड्स आफ शिवालरी ग्रहण कर लेती है ।[31] नवजागरणकाल या आधुनिक रिनेसां आने के साथ और क्लासिकी मूल्यों की पुनर्स्थापना के साथ मध्यकालीन रोमांस अपना समग्र स्रोत चुका कर इतिहास भर की बात बन कर रह जाते हैं ।

परिणाम रूप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में नवजागृत लोक का अपने नए और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रथम परिचय उनकी आन्तरिक भावना को अभिव्यक्त करने में स्वतन्त्र, सबल और सफल होकर उपर्युक्त मध्यकालीन रोमांसों के लिए रचयिता, प्रशंसक और संरक्षक प्रदान करता है । परन्तु उस काल में भी रोमांसों की वास्तविकता मानसिक–भावात्मक अभिव्यक्ति और विरेचन या कैथारसिस तक ही सीमित रहती है । व्यावहारिक, सामाजिक व्यवस्था का रूप वह कभी भी ग्रहण नहीं कर पाती । प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान स्तान्धल के शब्दों में रोमांस एक सपना है और स्वप्नद्रष्टा के भाग्य में विनाश ही लिखा होता है । हम इस प्रकार के भावुक, एकान्तिक प्रणय की कामना कर सकते हैं, उसका स्वप्न देख सकते हैं पर उसे जीवन के व्यवहार में नहीं ला सकते । मानव अपने आर्थिक, सामाजिक विकास के जिस स्तर पर पहुंच चुका है वहां विवाह विरोधी, सन्तान की निश्चयात्मकता के विरोधी दर्शन का व्यवहार सामाजिक रचना के विरोध में पड़ने के कारण भारी मूल्य की मांग करता है । परन्तु साथ ही इस प्रकार की प्रबल जैवी और भावनात्मक कामना का दमन और जीवन में सार्थकता न दे सकने की मजबूरी तथा विवाह की सामाजिक संस्था को अमान्य कर सकने की असमर्थता, रोमांस भावना के प्रति उतने ही प्रबल मानसिक आकर्षण, आग्रह और भूख को जन्म देती है । यही रोमांसों का आधार है ।

पंजाबी की एक कहानी इस मानसिक और व्यावहारिक द्विविधा और द्वन्द्व को, प्रेय अर्थात् काम्य तथा श्रेय अथवा सामाजिक आदर्श के संघर्ष को सुन्दर ढंग से स्पष्ट करती है ।

श्री कुलवन्तसिंह विरक की इस कहानी[32] में भारत दर्शन के लिए आया एक यूरोपीय पर्यटक अपने एक पंजाबी मित्र के साथ लुधियाना की सड़कों पर घूम रहा है । वह पंजाबी युवक सड़क की दूसरी तरफ सीधे–सादे खद्दर के कुर्त्ते–सलवार में, झोला बगल में लटकाए, एक महिला को देख कर प्रणाम करके उसे रोकता है । तीनों चाय पीते हुए बातचीत करने के विचार से एक रेस्तरां में जा बैठते हैं । वह युवक उस युवती से पूछता है कि शहर की एक बहुत कामयाब लेडी डाक्टर के पद को, कार, बंगला, शहर की सुविधाओं और सम्मान को छोड़ कर उसके गांव में जा बसने का आखिर क्या कारण है ? वह महिला डाक्टर जवाब देती

31. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 188, 193, 211

32. कुलवन्तसिंह विरक, नमस्कार (पंजाबी कहानी का अंग्रेजी अनुवाद), **द ट्रिब्यून**, अंक 86, क्रम 168, जून 19, 1968

है कि भले ही उसकी बात को बड़बोलापन माना जाने का डर है फिर भी उसका गांव में जा कर बसने का कारण उसकी अपनी ग्रामीण बहनों की मुक्ति और उद्धार की कामना ही है। वह युवक कुछ हैरानी के साथ पूछता है कि पंजाब की एक बेटी हीर थी। उसने अपनी आज़ादी के लिए जान तक दे दी थी। चार–पांच सौ सालों से सारी पंजाबी जनता उसे दिल में प्रेम और सम्मान की जगह दिए है। उसके मुक्त प्रेम के सम्बन्ध में गीत, गाथाएं, किस्से और कहानियां दिन–रात लिखी और गाई जाती हैं। अगर इतना सब होने पर भी हीर अपने प्रदेश की बहनों की स्वतन्त्रता और मुक्ति का माध्यम नहीं हो सकी, तो दो-चार ग्रामों की सीमा तक काम करने वाली एक महिला डाक्टर यह सब कैसे कर सकेगी ? उस लेडी डाक्टर का जवाब रोमांसों की असलियत को स्पष्ट करता है। वह कहती है कि हीर का त्याग प्रशंसा योग्य है, काम्य है, दिल से चाहा जाता है। हम उससे प्यार करते हैं, उसका सपना देख सकते हैं, उसका गीत गाकर आंसू बहा सकते हैं। पर सामान्य जैवी स्तर पर वह मूल्य नहीं चुका सकते, जो शायद हीर ने चुकाया था या जैसा माना गया है। हीर ने मौत को चुन कर वह कीमत चुकाई थी जो अपनी मुक्ति के लिए मेरी गांव की बहनों के लिए व्यवहार योग्य नहीं हो सकता। परन्तु मेरे रास्ते से मुक्ति निश्चित है, क्योंकि यह रोमांसिक कल्पना न होकर व्यावहारिक है। चाहे इसमें देर लगे लेकिन यह मूल्य सरल भी है और सम्भव भी है। गांव की पीड़ित, परतन्त्र और अनपढ़ बहनें जब यह देखती हैं कि उनकी तरह की ही गांव की एक बहन या बेटी सिर्फ अपनी आधुनिक शिक्षा के कारण स्वच्छन्द गांव–गांव घूम-फिर सकती है, उसे सम्मान और मुक्ति दोनों प्राप्त हैं, तो निश्चय ही उनके मन के किसी कोने में, अगर अपने लिए न भी हो, तो भी अपनी बहनों और बेटियों के लिए जरूर इस इज्ज़त और आज़ादी का बीज जाग्रत होगा। यह याद रखने की बात है कि हीर जब मुक्ति की लड़ाई लड़ रही थी तो उसे सिर्फ बेइज्जती और यातना ही मिल रही थी और अब जब हम उसे सम्मान व प्यार देना चाहते हैं तो उसकी यह लड़ाई हार में बदल चुकी होती है। लेडी डाक्टर का कहना है कि अगर वह अपने सारे जीवन में 20/30 महिलाओं के दिल में भी यह भाव जगा सकी तो हीर की अपेक्षा उसका यह नारी–मुक्ति अभियान अधिक सफल होगा क्योंकि इसकी कीमत चुकायी जा सकती है, यह समाज सम्मत है। दूसरी ओर, हीर का केवल गीत ही गाया जा सकता है, स्वयं, हीर बन कर हर महिला द्वारा मृत्यु–वरण अव्यवहार्य होगा। यही रोमांसों की यथार्थता है और यही अव्यवहार्यता उनका आधार है। सम्भाव्यता रोमांस भाव के अन्त का कारण बनती है, जबकि लगातार विरोध और अप्राप्ति इसको बनाए रखने के कारण हैं। यह द्वैध किसी बिन्दु पर मिल सके, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

अध्याय 15

सूफी काव्य–धारा एवं प्रमुख कवि जायसी

इस विवेचन को दो भागों में विभाजित किया गया है, प्रथम (क) भाग में सूफी शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्यावहारिक अर्थ सम्बन्धी विचार के अनन्तर सूफी मत के उद्‌भव और विकास का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इस मत की प्रमुख प्रवृत्तियों, विशेषताओं और उपलब्धियों को भी रेखांकित करने का प्रयास हुआ है। दूसरे (ख) भाग में हिन्दी सूफी काव्यधारा सम्बन्धी संक्षिप्त परिचय के अनन्तर इस काव्यधारा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि मलिक मुहम्मद जायसी के व्यक्तित्व, कृतिब और महत्व पर प्रकाश डालने का उपक्रम हुआ है।

(क) सूफी काव्य–धारा

1. सूफी मत :– शास्त्रीय रूढ़िबद्ध इस्लाम में किंचित उदारतावादी, भावुक, प्रेमाश्रयी आन्दोलन को सूफीवाद अथवा सूफी मत कहा गया है। सूफी रहस्यवादी थे। वे ऐसे साधक, विरक्त, संसार–त्यागी तथा ईश्वर प्रेम में बेसुध रहने वाले थे कि कुरान तथा एकेश्वरवाद के प्रति आस्थाशील होने पर भी उन्हें अपनी नई प्रकार की व्याख्याओं, साधना और दृष्टि के कारण सनातन–पंथी इस्लाम का कड़ा विरोध एवं प्रहार सहन करने पड़े।

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। सामान्य मान्यता तो यही है कि आठवीं–नवीं शताब्दी ईस्वी में इस्लामी जगत में इस प्रकार के साधक हुए जो अपने बहिर्जगत से निरपेक्ष, शरीर–सज्जा के सम्बन्ध में उपेक्षा–पूर्ण, ऊन के सीधे–सादे लम्बे लबादे में घूमते–फिरते थे। 'सूफ' का तात्पर्य ऊन है, अतः ऊनी वस्त्र धारण करने वाले इन साधकों को सूफी कहा गया। सफा, अहल सुफ्फाह, सफ्फे अव्वल, सोफिस्ता आदि शब्दों के आधार पर भी सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संकेत दिए जाते हैं, जिनका तात्पर्य स्वच्छ, पवित्र, प्रथम अथवा अग्रिम पंक्ति में रहने वाला आदि है। परन्तु विद्वान प्रायः प्रथम अर्थ को मानने के प्रति अधिक आग्रहशील प्रतीत होते हैं।

सर्वप्रथम सूफी शब्द का प्रयोग अबू हाशिम सुफियान (मृत्यु 777 ई० के आसपास) के द्वारा हुआ बताया जाता है। लुई मासियो नामक विद्वान् अबू हाशिम के समकालीन जाबिर इब्न हैयान का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख करता है। अब्दक अल् सूफी, जिनकी मृत्यु सन् 825 ई० में हुई, ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। पहले विशेष व्यक्तियों के नामों के साथ सूफी शब्द जुड़ा मिलता रहा है, पर बाद में विस्तृत स्तर पर सब रहस्यवादी इस्लामी साधकों को इस वर्ग अथवा जातिबोधक शब्द के अन्तर्गत स्वीकार किया जाने लगा। आज तक सूफी शब्द का प्रचलन इसी रूप में उपलब्ध होता है।

अन्य धार्मिक एवं मतवादी सम्प्रदायों अथवा आन्दोलनों के समान सूफी मत में भी आत्मा, परमात्मा और इनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में गम्भीरता से विविध प्रकार से विचार हुआ है। सूफी कुरान शरीफ में पूर्ण आस्था रखते हैं। वे अन्य मुसलमानों के समान ईश्वर के एकान्तिक अस्तित्व अथवा एकेश्वरवाद के सम्बन्ध में आस्थाशील हैं। पर उनकी एतत्सम्बन्धी व्याख्या सनातनी इस्लाम से पूरी तरह मेल नहीं खाती। वे अन्य सनातनी मुसलमानों के समान अपने गुण, कर्म और अस्तित्व में ईश्वर को अद्वितीय और निरपेक्ष मानते हैं। पर जहां परम्परित इस्लाम में ईश्वर को सृष्टि की सब वस्तुओं से अलग, निरपेक्ष और भिन्न स्वीकार किया गया है, वहां सूफी सारे इन्द्रिय–गोचर जगत की हर वस्तु, हर स्थान व हर स्थिति में परमात्मा को विद्यमान स्वीकार करते हैं। इस दर्शन के अनुसार सारा विश्व ईश्वर में अन्तर्निहित और सारे विश्व में परमात्मा का सन्निवेश स्वीकार होता है, तथा इस एक सीधे से परिवर्तन के कारण, मित्र–अमित्र, आस्तिक–नास्तिक, विरोधी–सहयोगी, मुसलमान–गैर–मुसलमान, रूढ़ि–परम्परा और मुक्त रहस्य दृष्टि – इन सब के सम्बन्ध में सनातनी मुसलमानों और सूफियों में भारी भेद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से सूफी भारतीय अद्वैतवादी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों के अधिक नज़दीक पड़ते हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने तो सूफियों को भारतीय अद्वैतवादी चिन्तन तथा दर्शन से सीधे प्रभावित होने का मत भी प्रस्तुत किया है। सूफी ईश्वर को परम सत्य मानते हैं, परम कल्याणकारी मानते हैं, और परम सौन्दर्य सम्पन्न स्वीकार करते हैं। वजूदिया और शुहूदिया सूफी सिद्धान्त की दो प्रमुख शाखायें हैं। प्रथम सिद्धान्त के प्रवर्तक मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी थे, जिनके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है, सब कुछ वही है। सम्पूर्ण दृश्य जगत उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। जीव भी उसी की बाह्य अभिव्यक्ति है। मनुष्य परमात्मा का चेतन अंश तो है, पर वह अंश मात्र है, सम्पूर्ण नहीं, ईश्वर के समान समग्र सत्ता नहीं। अपनी सीमित ज्ञान–सीमा के कारण वह ईश्वरीय सत्य के अंश मात्र को ही अभिव्यक्ति दे सकता है। दूसरे सिद्धान्त के प्रवर्त्तक शेख करीमे जीली हैं। जीली के अनुसार परमात्मा और आत्मा की सत्ता अलग–अलग है। पर जीव की सत्ता शून्य के समान है और उसे अर्थपूर्ण एवं अस्तित्वशील होने के लिए परम सत्ता की अपेक्षा है। दृश्य जगत ईश्वर का गुण– प्रसार है। ये गुण अभिव्यक्त होने पर ईश्वरीय सत्ता के सभी रहस्यों को प्रकट करते हैं। ईश्वर आत्माभिव्यक्ति के लिए ही सृष्टि का आविर्भाव करता है। परमात्मा अनन्त सौंदर्य का अक्षय कोश है। यह जगत उसी सौन्दर्य को अंशतः प्रकट करता है। अतः सूफी दर्शन के केन्द्रीय विचार के अनुसार ईश्वरेच्छा को इस प्रकार व्यक्त किया गया है – 'मैं एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें, इसलिए मैंने सृष्टि की'। इससे ईश्वर, सृष्टि तथा आत्मा का सम्बन्ध–बोध काफी सुगम हो जाता है, और इससे यह जानने में भी सुविधा होती है कि सूफी सौन्दर्याकांक्षी, विश्व भर से प्रेम करने वाले, सहनशील, त्यागी, मस्त और पूरी तरह किसी भी तरह की कट्टरता से मुक्त क्यों हैं? सूफी सृष्टि को असत् के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली परमात्मा की छवि तथा मनुष्य को उस प्रतिच्छवि की आंख के समान मानते हैं। मनुष्य रूपी आंख की छोटी–सी पुतली में भी ईश्वर की सम्पूर्ण प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार यदि एक ओर मनुष्य प्रकृति के साथ पूरी तरह सम्बद्ध है और उसका अंग है तो दूसरी ओर वह परमात्मा को भी स्वयं में ग्रहण

किए हुए है । मनुष्य में सत् तत्व तथा असत् तत्व दोनों विद्यमान हैं । मनुष्य में जो श्रेष्ठ, मंगल तथा सत्य है, वही ईश्वरीय अंश है और यही वह बीज है जो सदा मनुष्य को अपने उद्गम–स्थल, अपने मूल उत्स पर लौट जाने के लिए सतत् प्रेरित करता रहता है । परन्तु इस इच्छित की प्राप्ति के मार्ग की बाधा है उसका असत् अंश, माया तथा मुख्यतः उसका अहम् । यही कारण है कि सूफी साधना में अहम् के नाश के लिए सूफी मार्ग के अनुसरण पर सर्वाधिक बल दिया गया है, जिससे आत्मा अपने मूल उत्स परमात्मा के साथ एकाकार हो सके ।

सूफी साधना का तात्पर्य है लगातार अहम् पर विजय प्राप्त करने के प्रयास में आध्यात्मिक जीवन जीना । इस साधना को एक यात्रा कहा गया है जिसके अनेक पड़ाव हैं । विभिन्न सूफी वर्गों व चिन्तन परम्पराओं के अनुसार ये पड़ाव तीन, चार, सात या बारह तक अहवाल अथवा मंजिलों के रूप में माने जाते हैं । पर इस तथ्य के विषय में ये सभी वर्ग एकमत हैं कि ईश्वर की कृपा होने पर साधक एक–एक मंजिल को पार करके अगले पड़ाव का मार्ग प्रशस्त करता जाता है । पहली मंजिल को पार किये बिना अगली मंजिल पर पहुंचना संभव नहीं है । पर ईश्वरेच्छा से परवर्ती मंजिलों के संकेत और अनुभव उसे पहले ही हो सकते हैं । इस सफर से सूफियों का तात्पर्य यह है कि ईश्वर एक–एक अज्ञात और अनाभिव्यक्त अवस्था में साधक के लिए व्यक्त होता जाता है और इस प्रकार पड़ाव–दर–पड़ाव पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा व्यक्तावस्था में आत्मा–परमात्मा का मिलन सम्भव होता है । परन्तु ईश्वर का अनुग्रह इसकी अनिवार्य शर्त है और इस अनुग्रह–प्राप्ति के लिए प्रेम ही एक मात्र साधन है ।

सूफियों के अनेक सम्प्रदाय, उप–सम्प्रदाय, शाखायें और उपशाखायें हैं । सूफी–मत सम्बन्धी सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ एवं अधिकारी विद्वान डा० रामपूजन तिवारी के मतानुसार प्रारम्भ में इन सम्प्रदायों को अत–तरीक (पथ अथवा पंथ) अथवा खानबाद (परिवार) कहा जाता था । ये स्थान–स्थान पर घूमते रहते थे । सुविख्यात साधक के साथ अन्य साधकों का दल रहता था और उस मुख्य साधक के नाम पर ही इस पथ अथवा परिवार का नामकरण हो जाता था । ईसा की सातवीं–आठवीं शताब्दी में सूफी सम्प्रदायों के गठन की अरब में यही प्रक्रिया प्रचलित थी । अन्य देशों में भी सूफी मत के प्रसार के साथ–साथ इसी परम्परा की आवृत्ति हुई । हर शाखा या वर्ग की अपनी कुछ विशिष्टतायें होती थीं जो उनकी साधना, उपदेश, मंत्र आदि के रूप में सुरक्षित तथा पीढ़ी–दर–पीढ़ी सम्प्रेषित–स्थानान्तरित होती थीं तथा इन्हें प्रायः गुप्त रखा जाता था और केवल पंथ में दीक्षित साधकों पर ही इन्हें व्यक्त किया जाता था ।

सभी सूफी सम्प्रदाय हजरत मुहम्मद साहिब को ही सूफी मत का भी इस्लाम के अन्तर्गत प्रवर्तक मानते हैं । इसके बाद वे चौथे खलीफ़ा हजरत अली को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार करते हैं । लगभग हर सूफी सम्प्रदाय हजरत अली के साथ अपने मत को सम्बद्ध मानता है । इसके बाद सब सम्प्रदाय चार पीरों से सम्प्रदायों का विकास स्वीकार करते हैं । एक मत के अनुसार ये पीर हजरत मुर्तजा अली, ख्वाजा हसन बसरी, ख्वाजा हबीब आजमी और अब्दुल वाहिद बिन जैद कूफी हैं । एक और मत के अनुसार ये चार पीर कामिल, हसन, हुसैन और हसन बसरी हैं । और भी विभिन्न सूचियां उपलब्ध हैं, पर हसन बसरी का नाम सब में समान रूप में स्वीकार्य है ।

2. भारत में सूफी सम्प्रदाय और सिद्धान्त

भारत में चिश्तिया, कादरिया, सुहरावर्दिया और नक्शबन्दिया चार सूफी सम्प्रदाय हैं, जिनमें पहले तीन का सम्बन्ध हसन अल बसरी से है और अन्तिम अबू बक्र से सम्बद्ध है। इनके सिद्धांतों और साधना पद्धतियों आदि में कुछ भेद अवश्य हैं, पर कोई भी साधक किसी भी सम्प्रदाय में शामिल हो सकता है। चिश्ती सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रचलित है, जिसके प्रवर्त्तक ख्वाजा इसहाक शामी चिश्ती अथवा उनके शिष्य ख्वाजा अबू अब्दाल चिश्ती माने जाते हैं। भारत में यह सम्प्रदाय ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के साथ प्रविष्ट हुआ, जो अफगानिस्तान में सन् 1142 ई० में पैदा हुए थे तथा सन् 1236 में अजमेर में जिनका निधन हुआ। अजमेर में चिश्ती की दरगाह की ज़ियारत में देश–विदेश से लाखों भक्त एकत्रित होते हैं। ख्वाजा बख्तियार काकी, बाबा फरीद अथवा पाक पत्तन के फरीदुद्दीन शकरगंज तथा निजामुद्दीन औलिया इस सम्प्रदाय के सुविख्यात सन्त, भक्त और कवि हुए हैं। संगीत का इस सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान है। कई–कई दिनों तक सूफियाना संगीत के कार्यक्रम चलते हैं और इसी में साधक वजद, हाल अथवा समाधि की स्थिति को प्राप्त होता है। एकांत में चालीस दिनों तक साधनारत रह कर साधक चिल्ले नामक साधना करता है। हज़रत अली को ईश्वर व हज़रत मुहम्मद साहिब के समकक्ष स्वीकार किया जाता है। निज़ामी और साबिरी उप-सम्प्रदाय इसी मुख्य सम्प्रदाय के अंग हैं।

कादिरी सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक फारस के अब्दुल कादिर अलजीलानी थे। इनका जन्म सन् 1078 ई० में और मृत्यु सन् 1136 ई० में हुई। भारतवर्ष में यह सम्प्रदाय तीन सौ वर्षों बाद मुहम्मद गौस के साथ आया। इनकी शिष्य परम्परा में मियां मीर भी हुए जो शाहजहां के पुत्र दारा शिकोह के आध्यात्मिक गुरु थे। बहलूल शाही, नवशाही, मुकीमशाही, कैसरशाही आदि इसी सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय हैं। नवशाही उपसम्प्रदाय के इलावा अन्य वर्गों में संगीत का प्रचलन नहीं है। ज़िक्र अथवा स्मरण के समय ईश्वर के विभिन्न नाम, पद्धति तथा प्रार्थना के प्रकारों आदि को इस सम्प्रदाय में स्पष्टता के साथ निर्धारित किया गया है। सुहरावर्दी सम्प्रदाय भी भारत में बहुत प्रचलित है। इसके प्रवर्तक मुलतान के वहाउद्दीन जकरिया थे। मूल प्रवर्तक के विषय में मतभेद हैं। शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी, शेख ज़ियाउद्दीन अथवा उनके पिता अबुल नजीब के नाम इस सन्दर्भ में लिए जाते हैं। समरुद्दीन, शेख अहमद माशूक, सैयद जलालुद्दीन, मखदूमे जहानिया आदि इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त हुए। जलाली, मखदूमी, मीरानशाही, दौलाशाही आदि इसके उप–सम्प्रदाय हैं। गुरु (मुर्शिद) का आदेश–पालन दीक्षा का प्रथम सोपान है। साधक को गुरु के आदेश पर पहले अपने सब छोटे–बड़े पापों का प्रायश्चित करना अनिवार्य होता है। इसके बाद कलमा पढ़ने तथा धर्म पर पूरी आस्था या ईमान लाने का आदेश दिया जाता है। धर्म पर दृढ़ आचरण अनिवार्य है, तभी मुरीदी या शिष्यत्व प्राप्ति होती है। रोज़ा–नमाज़ आदि परम्परित इस्लाम के कर्मकाण्डों को ये पूरी तरह मानते हैं। साधक के लिए ईश्वर को सदा स्मरण करते रहने तथा हर प्राणी को ईश्वर की महत्वपूर्ण सृष्टि के रूप में स्वीकार करने का आदेश दिया जाता है।

भारतीय सूफी अपने मार्ग की चार मंजिलें और चार अवस्थाएं स्वीकार करते हैं। पहली अवस्था में साधक अपनी प्रकृत अथवा आरम्भिक अवस्था में होता है। वह कुरान, हदीस के विधि–निषेधों के पालन तक ही सीमित रहता है। हिन्दू परम्परा के अनुसार इसे कर्मयोग तक सीमित अवस्था स्वीकार किया जा सकता है। इस अवस्था को 'नासूत' कहा जाता है। इस अवस्था के बाद दूसरी अवस्था अथवा मंजिल आती है, जिसे 'मलकूत' कहा जाता है। यह पवित्रता अथवा तरीकत की मंजिल है। इसमें साधक भौतिक जगत की नीचता, तुच्छता आदि से ऊपर उठ जाता है तथा पवित्र हो जाता है। वह देवदूतों अर्थात् फरिश्तों के गुण प्राप्त कर लेता है और आध्यात्मिक सफर में संलग्न हो जाता है। तीसरी अवस्था जबरूत है। इसे 'मारिफत' की मंजिल भी कहा जाता है। अब साधक की ईश्वर–मिलन के मार्ग की बाधाएं दूर हो जाती हैं और वह आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। अन्तिम मंजिल हकीकत की है, जिसका तात्पर्य है परम सत्य। अब साधक लाहूत की अवस्था प्राप्त कर लेता है। अब वह राग–द्वेष से ऊपर उठ जाता है। अब वह विशुद्ध ज्ञान का पात्र बन जाता है, उसे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। यह साधक के परमात्मा से एक हो जाने की अन्तिम परमावस्था है।

3. सूफी काव्य : मुख्य तत्व एवं विशेषताएं

सूफियों के अनुसार केवल प्रेम ही ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। परमात्मा अद्वितीय, विलक्षण सुन्दरता का आगार है, वह सर्वाधिक प्रिय पात्र है। आत्मा का लक्ष्य उसी की प्राप्ति है। आत्मा इस लक्ष्य–प्राप्ति के लिए सदा आतुर और व्याकुल रहती है। आत्मा और परमात्मा का यह प्रेम सम्बन्ध सूफी कवि को आत्म–विभोर किए रखता है। उसका काव्य वस्तुतः अपने इस प्रेमपात्र के प्रति प्रणय–निवेदन का ही उपक्रम है।

सूफी यह मानते हैं कि इस जगत में सम्बन्ध–बोध की शब्दावली निरर्थक है, पर वह इसके सिवा अन्य कोई मार्ग भी नहीं देख पाता। मजबूरी में उसे लौकिक प्रणय की शब्दावली का आश्रय लेना पड़ता है, परन्तु वह उसके विशिष्ट आध्यात्मिक, अलौकिक अर्थ ही ग्रहण करता है और सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है। ईरान के सूफी कवियों ने ईश्वर के प्रति अपने हृदय की आतुरता, बेकली, बेचैनी और उत्कटता को व्यक्त करने के लिए फारसी भाषा में लौकिक स्तर पर प्रचलित प्रणय की शब्दावली – साकी, जाम, मय अथवा शराब, आशिक, इश्क, माशूक, जुल्फ, गेसू आदि का सहारा लिया। इन कवियों ने विभिन्न काव्य-रूपों में अपने भावों को व्यक्त किया। रुबाई, ग़ज़ल, मसनवी आदि इनके प्रमुख काव्य–रूप रहे हैं। मसनवी सूफियों के लिए सर्वाधिक प्रिय काव्य-विधा रही है, जिनमें आख्यान शैली में वे परमात्मा तथा आत्मा के प्रेम को व्यक्त करते थे। पहले–पहल मसनवियों में आध्यात्मिक और धार्मिक विषयों का प्राधान्य रहा है, पर बाद में प्रेमाख्यान इनका मुख्य आधार बन गया, जबकि लौकिक कथा के आधार पर आध्यात्मिक आत्मा–परमात्मा का प्रेम ही इनका उपजीव्य रहा है। मसनवी एक सर्गबद्ध आख्यानमूलक रचना है। प्रथम सर्ग में परमात्मा का गुण–गान होता है। दूसरे सर्ग में इस्लाम के प्रवर्तक पैगम्बर हज़रत मुहम्मद साहिब की प्रशंसा व गुणानुवाद होता है। तीसरे सर्ग में मीराज तथा धर्म–सिद्धान्तों की चर्चा होती है। चौथे सर्ग में शाहे–वक्त अर्थात् उस समय

के देश के शासक का गुण–कथन होता है । वह किसी अन्य महान् व्यक्ति की प्रशंसा भी करता है, और उसे अपनी कृति समर्पित करता है । पांचवें सर्ग में वह अपने सहयोगी मित्र आदि का उल्लेख करता है, जिनसे उसे प्रेरणा प्राप्त हुई और विवेच्य मसनवी का सृजन सम्भव हुआ । यहां वह काव्यरचना का अपना लक्ष्य भी संकेतित करता है । मूल काव्य ग्रंथ इन आरम्भिक औपचारिक परम्पराओं के बाद ही आरम्भ होता है । कथा के बीच–बीच में विशेष भावों, मार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली गज़लें भी रहती हैं । प्रत्येक सर्ग के ऊपर फारसी गद्य में सर्ग के शीर्षक अथवा विषय की सूचना दी जाती है । हिन्दी के सूफी कवियों ने इन मसनवियों से कुछ प्रभाव तो अवश्य ग्रहण किया पर पूरी तरह उनका अनुकरण नहीं किया । उनमें रुबाई या गज़ल रचना का पूर्ण अभाव है, तथा ये प्रेमाख्यान भारतीय प्रेमाख्यानों की संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश से होकर आती परम्परा की ही अगली विकसित कड़ी के रूप में प्रणीत हुए हैं ।

(ख) भाग

1. भारतीय प्रेमाख्यान (सूफी)

हिन्दी में दोनों ही वर्गों के प्रेमाख्यान मिलते हैं – सूफी और असूफी । तात्विक दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है । लौकिक प्रेम की कथा दोनों का आधार है । अपभ्रंश से होकर आती प्रेमाख्यानों की परम्परा का दोनों ने समान रूप में आधार ग्रहण किया है । अवधी समान भाषा है और कथ्य, मुहावरा, कथानक–रूढ़ि आदि सब पूरी तरह एक ही स्रोत से ग्रहण किए हुए हैं । अन्तर केवल इतना है कि जहां असूफी, विशुद्ध प्रेमाख्यानों, का आधार लौकिक स्तर पर इश्क की प्रचलित कथाओं की लोकप्रिय स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति है, वहां सूफी परम्परा से सम्बद्ध कवि स्थान-स्थान पर लौकिक प्रणय सम्बन्धों एवं प्रणय क्रीड़ाओं में आध्यात्मिक संकेत भी देता चलता है । वह इश्क मजाज़ी (लौकिक) के माध्यम से इश्क हक़ीक़ी (आध्यात्मिक) का संकेत देता है ।

हिन्दी के बृहत्तर प्रेमाख्यानों के समान सूफी प्रेमाख्यानों का आधार भी विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोक–प्रणय की कहानियां हैं । ये कहानियां कहीं अर्ध–ऐतिहासिक हैं तो कहीं विशुद्ध कल्पित । सूफी साधना का आरम्भ और परिणति प्रेम के द्वारा ही होती है । इन कहानियों में इसी प्रेम के आरम्भ, विकास और परिणति को लोक–कथाओं के विकास–क्रम के संदर्भ में दिखाया गया है । मार्ग की विघ्न–बाधाएं प्रेमी को अपने प्रणय मार्ग पर अधिकाधिक प्रवृत्त करती हैं और बाधाओं की अधिकता ही उनके प्रणय की तीव्रता और मिलन की आतुरता का आधार बन कर इन कृतियों को अत्यधिक प्रभावपूर्ण बनाती हैं । भारतीय कथानक–रूढ़ियों का ही सामान्यतः प्रयोग हुआ है । कहीं–कहीं फारसी रूढ़ियां भी दृष्टव्य हैं । प्रणयारम्भ नायिका के प्रत्यक्ष–दर्शन, गुण–श्रवण, चित्रदर्शन अथवा स्वप्न–दर्शन के द्वारा होता है । नायिका का गुण– कथन पशु–पक्षी द्वारा हो सकता है, सखी–सहेली, मालिन, नाइन द्वारा, चित्रकार द्वारा अथवा ज्योतिषी द्वारा हो सकता है । यह सब भारतीय रूढ़ियां हैं । दैवी, अलौकिक सहायता अथवा बाधा प्रणय के विकास में सहयोगी होती है । जिन्न, भूत, अप्सरा, परी, लक्ष्मी, समुद्र, हनुमान, शिव, पार्वती, ख्वाजा खिज्र आदि अनेक ऐसे अलौकिक पात्र हैं, जो प्रणय विकास में

सहयोगी बनते हैं । वे प्रेमियों की परीक्षा भी लेते हैं और परीक्षा में सफल होने पर प्रेमी–जनों को सहयोग तथा सहायता भी प्रदान करते हैं । प्रेमिकायें प्रायः परमात्मा के प्रतीक रूप में चित्रित हुई हैं । प्रेमिकाओं का रूप–वर्णन इस प्रकार हुआ है मानों परम सौन्दर्य ईश्वर का साकार वर्णन हो रहा है । विश्व के सारे जागतिक सौन्दर्य को इन प्रेमिकाओं के विविध सौन्दर्य उपादानों से ग्रहण किया हुआ या उधार लिया हुआ बताया गया है । उदाहरणार्थ, जायसी ने अपने सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'पद्मावत' में पद्मावती का रूप–वर्णन करते हुए ऐसे संकेत दिए हैं मानों बिजली नें अपनी शुभ्रता व चमक पद्मावती के दांतों की चमक से प्राप्त की है । विश्व का सारा अन्धकार, सारी कालिमा पद्मावती के केंशों की कालिमा सें प्रसूत हुई है । इस प्रकार विश्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य पद्मावती से ही उद्भूत स्वीकार किया गया है । दूसरे शब्दों में, पद्मावती ईश्वर का रूप है, इसलिए विश्व के सारे व्यक्त रूप का आधार तथा स्रोत वही है, अर्थात् स्वयं स्रष्टा ईश्वर ही है । इस प्रकार पाठक को प्रेमिका के सौन्दर्य में उस परम–सत्ता का आभास देने का पूर्ण एवं सफल प्रयास किया जाता है । सूफी कवि आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति में लौकिक प्रेम को सहयोगी मानते हैं । सुप्रसिद्ध विद्वान एवं सूफी साहित्य के मर्मज्ञ डा० रामपूजन तिवारी प्रसिद्ध ईरानी सूफी कवि जामी की एक कविता के उद्धरण से इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं । जामी कहते हैं–

"....................इस संसार में तुम सैंकड़ों उपाय कर सकते हो, लेकिन एक मात्र प्रेम ही ऐसा है जो तुम्हारे अहम् से भी तुम्हारी रक्षा करेगा । सांसारिक प्रेम से भी तुम मुख मत मोड़ो, क्योंकि परम् सत्य तक पहुँचने में वह तुम्हारा सहायक सिद्ध हो सकता है ।"

भारत में प्रेमाख्यानों की परम्परा बहुत पुरानी है । संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में प्रेमाख्यान की सशक्त धारा प्रचलित रही है । हिन्दी में भी रत्नावली, पद्मावती, लीलावती, माधवानल–कामकंदला, सदावृक्ष–सारंगा, ढोला–मारू तथा हीर–रांझा आदि के विशुद्ध लौकिक प्रेमाख्यानों की शक्तिशाली परम्परा विद्यमान रही है । ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी से सूफी मत द्वारा प्रभावित कवि भी इन तथा इसी प्रकार की अन्य लोकप्रिय कथाओं को अपनी रचनाओं का आधार बनाते हैं । सूफी प्रतीकों का सहारा लेकर वे इनके माध्यम से अपने मत के प्रकटीकरण तथा परमात्मा सम्बन्धी आत्मा की उत्कट अभिलाषा, मिलनाकांक्षा और परम् मिलन के तत्वों को अभिव्यक्ति देते हैं ।

हिन्दी साहित्य में भक्ति काव्य को दो प्रमुख भागों में विद्वानों ने विभक्त किया है– निर्गुण शाखा तथा सगुण शाखा । निर्गुण शाखा की ही दो अवांतर उपशाखाओं में इन सूफी भक्त कवियों के काव्य को , जिन्होंने परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रेम को साधन माना था, प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया । इस शाखा के सब प्रमुख कवि सूफी साधक, मान्य भक्त और सन्त थे ।

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान धारा के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और ख्याति–प्राप्त कवि हुए हैं । पद्मावत इनका अत्यधिक प्रसिद्ध प्रेमाख्यान है । जायसी तथा उनके काव्य का किंचित विस्तार से विवेचन हम इसी खण्ड के अगले भाग में करने का प्रयास कर रहे हैं । मुल्ला दाऊद का 'चंदायन' सन् 1370 ई० में ही लिखा जा चुका था । परन्तु इस धारा के

प्रथम काव्य होने के सम्बन्ध में चंदायन के बारे में मतभेद हैं। चंदायन में लोरक अथवा नूरक तथा चंदा की प्रणय कथा को बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। परन्तु उसमें सूफी मत, सम्प्रदाय और सिद्धान्त सम्बन्धी संकेतों की खोज प्रायः असम्भव और जबरदस्ती प्रतीत होती है। अधिसंख्यक विद्वान ईस्वी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में रचित कुतुबन कवि की मृगावती को इस काव्यधारा की प्रथम कृति स्वीकार करते हैं। मंझन की मधुमालती (रचनाकाल सन् 1618 ई०), उसमान की चित्रावली (रचनाकाल 1616 ई०), जान कवि (ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी) की कनकावती, मधुकरमालती आदि 75 से अधिक कृतियां, कासिम शाह (ईस्वी सन् की अठारहवीं शताब्दी) की हंस–जवाहर तथा नूरमुहम्मद की इन्द्रावती तथा अनुराग बांसुरी (रचनाकाल 1744–1750 ई० के आस–पास) इस काव्य धारा की अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी से ही सूफी साधक भारत में आना आरम्भ कर चुके थे। 12वीं शताब्दी में विभिन्न सूफी सम्प्रदायों के भारत–प्रवेश के प्रमाण मिलते हैं। 13वीं–14वीं शताब्दी में ये सम्प्रदाय, इनके सिद्धांत, इनके साधकों की जीवन–प्रक्रिया, सहिष्णुता, प्रेम आदि गुण जनता की रुचि और श्रद्धा की वस्तु बन जाते हैं। उदार होने के अतिरिक्त इन साधकों के सम्बन्ध में अनेक करामातों और अलौकिक शक्तियों का भी प्रचार हुआ। इस कारण से इस काल में सूफी सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय हुए और इनका खूब ज़ोर रहा। अब तक सूफी विदेशी न रह कर पूरी तरह भारतीय जनता में घुल–मिल कर एक हो चुके थे, इसलिए मत के सिद्धान्तों के आयातित होने के बावजूद भी अपने कथन के आधार के रूप में भारत में ही, उन सब लोगों के बीच प्रचलित कहानियों को ही अपने काव्य का इनके द्वारा आधार बनाया जाना सहज–स्वाभाविक है। इनका उदार होना अवश्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है अन्यथा कटट्र पंथी इस्लाम के अनुयायी पूरी तरह भारतीय होने पर भी ऐसा अवसर होने पर अवश्य भारतीय हिन्दू घरों में हिन्दू पात्रों सम्बन्धी कथानकों को अपनी रचना का आधार बनाने में अवश्य परहेज करते। परन्तु एक ओर तो सूफी साधक धर्म की कटट्रता से मुक्त थे, फिर शताब्दियों से ये पूरी तरह भारतीय जीवन–धारा का अंग बन चुके थे और अन्ततः, वे जिन सिद्धान्तों पर आस्था रखते थे, उनके प्रचार के लिए विशाल भारतीय समाज में, जिनमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों शामिल थे, प्रचलित प्रेम–कथाओं से उत्कृष्ट आधार इनके लिए और क्या हो सकता था। जायसी के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत व्यक्त करते हुए जायसी के विशेषज्ञ विद्वान डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा था कि जायसी पूरी तरह भारतीय थे। भारतीय जीवन, भारतीय आस्था–विश्वास, भारतीय इतिहास में वे इतने ही गहरे रंगे थे, जितना कोई और हिन्दू अथवा मुसलमान भारतीय। यदि जायसी के पद्मावत के रामकथा सम्बन्धी उल्लेखों और प्रसंगों को इकट्ठा किया जाए तो वह अपने आप में एक छोटी रामायण बन जायेगी और इस रामायण में जीवन मूल्य, रामकथा की परम्परा, आस्था और कथा–वृत्त की दृष्टि से अंशमात्र भी अन्य हिन्दू रामायणों से भेद नहीं है। इससे एक तथ्य अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि सूफी कवि उतने ही भारतीय थे जितना कोई अन्य भारतीय। उनके सम्बन्ध में इस प्रकार का भ्रम पोषित करना स्वयं सूफी कवियों, हिन्दी साहित्य और भारतीय जनमानस के प्रति अन्याय होगा कि मानो वे सीधे अरब–फारस से आए थे, और किसी प्रकार के धर्म–प्रचार के आयोजन में

उन्होंने जानबूझ कर हिन्दू घरानों की लोकप्रिय कथाओं को अपनी कृतियों का आधार बनाया । ये कथायें बहुत आकर्षक, रोचक और हृदयग्राही हैं । इनके माध्यम से परोक्ष सत्ता और उसके प्रति आत्मा के प्रेम, आकर्षण और प्राप्ति के लिए साधना का भी संकेत मिलता है । अतः ये सामान्य लोक–कथाओं से बहुत अधिक महत्वपूर्ण, मान्य, पूज्य और ग्राह्य हो गई हैं । सूफियों के विभिन्न सम्प्रदाओं में इन प्रेमाख्यानों को गहरी धार्मिक आस्था के साथ स्वीकार किया गया है और धार्मिक ग्रन्थों के रूप में इनका कथा–वाचन और श्रवण होता रहा है ।

इन रचनाओं की भाषा सीधी–सादी और सरल अवधी भाषा है । संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रायः अभाव है । तद्भव शब्दों का बाहुल्य है और इस दृष्टि से अवधी में प्रचलित संस्कृत, अरबी और फारसी के तद्भव शब्द पूरी तरह घुले–मिले रूप में प्रयुक्त हुए हैं । अपभ्रंश में प्रचलित कड़वक–घत्ता शैली के ही दोहा–चौपाई रूप को इन रचनाओं में अपनाया गया है पर रचनाओं का ढाँचा फारसी मसनवियों के आधार पर ही गठित हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है, सूफी भारतीय परम्परा के योगियों और योगमार्ग की साधना परम्परा से भी गहराई से प्रभावित थे । विख्यात गोरख नाथ, गोपीनाथ, भर्तृहरि जैसे योगियों का उल्लेख इन कृतियों में बारम्बार हुआ है । लगभग सब कृतियों के नायक, नायिका का रूप–गुण सुनने के बाद योगी बन कर ही घर से निकलते हैं । योग–साधना के द्वारा ही वे सिद्धि प्राप्त करते हैं । सिद्ध–गुटिका, काथरी, झंझारी, सिंगी, हठयोग, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्म आदि योग–साधना सम्बन्धी शब्दावली का साधना की दृष्टि से भरपूर उपयोग हुआ है । इन सभी कृतियों की मूल लिपि फारसी ही रही है, जिस तथ्य को इनके मुसलमान लेखकों का फारसी लिपि से सहज परिचित होना स्पष्ट करता है । यहां यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पंजाबी भाषा में लिखे गए इसी प्रकार के प्रेमाख्यानक ग्रन्थ, जिन्हें पंजाबी में किस्सा–काव्य कहा जाता है, विषय की पूर्ण एकता होने पर भी हिन्दू लेखकों द्वारा देवनागरी लिपि में, सिक्ख लेखकों द्वारा गुरमुखी लिपि में तथा मुसलमान लेखकों द्वारा फारसी लिपि में लिखे गए हैं ।

2. मलिक मुहम्मद जायसी

ये हिन्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध सूफी कवि हुए हैं । इन्हें केवल जायसी नाम से ही स्मरण किया जाता है । अवध में स्थित जायस नगर के ये रहने वाले थे । अपनी कृति 'आखिरी कलाम' में इस सम्बन्ध में इनका आत्म कथन है :––

''जायस नगर मोर अस्थानू ।
नगर क नांव आदि उदयानू ।।

तहां देवस दस पहुने आइऊं,
भा वैराग बहुत सुख पाएऊं'' ।।

उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में जायस नामक नगर विद्यमान है जिसका पुराना नाम उद्यान नगर, या उजालिक नगर बताया जाता है । इसी के कंचाना खुर्द नामक मुहल्ले में जायसी का जन्मस्थान माना जाता है । कुछ लोग गाजीपुर को उनका जन्मस्थान बताते हैं और 'आखिरी कलाम' के 'तहां देवस दस पहुंने आएऊं' के तर्क द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि

ये बाद में जायस में आकर बसे तथा वहीं उन्हें वैराग्य प्राप्त हुआ। 'पहुने आएउँ' का यह अर्थ भी लिया जाता था कि जायस में उनकी ससुराल थी, जहां आकर वह बस गए थे। 'पद्मावत' में भी एक स्थान पर जायसी कहते हैं – 'जायस नगर धरम् अस्थानू तहवां यह कवि कीन्ह बखानूं'। इसे जायसी धर्मस्थान भी कहते हैं और यहीं अपनी सुप्रसिद्ध कृति पद्मावत की रचना होने का उल्लेख करते हैं।

जायसी अपने जन्म के सम्बन्ध में कोई आत्मकथन नहीं करते। केवल एक स्थान पर इतना कहा गया है ---

भा अवतार मोर नौ सदी,
तीस बरिस ऊपर कवि बदी ।।

नवीं सदी हिजरी का तात्पर्य यह होता है कि 801 व 900 हिजरी के मध्य, अर्थात् सन् 1398 ईस्वी और 1497 ईस्वी के बीच किसी समय उनका जन्म हुआ और तीस वर्ष की आयु से उन्होंने काव्य–रचना आरंम्भ की। 'पद्मावत' का रचनाकाल उन्होंने– 'सन् नौ से सैंतालीस अहै' अर्थात् हिजरी 947 तदनुसार 1540 ईस्वी बताया है। कुछ विद्वान फारसी लिपि में सैंतालीस को सत्ताईस के निकट का स्वीकार करके, सत्ताईस को शुद्ध मानकर 1520 ई० पद्मावत का रचनाकाल स्वीकार करते हैं। 'आखिरी कलाम' के संबंध में कवि का आत्मकथन है –

नौ से बरिस छत्तीस जो भए,
तब यह कविता आखर कहे ।।

इसके अनुसार 936 हिजरी अथवा 1529 ईस्वी में 'आखिरी कलाम' लिखा गया। 'पद्मावत' में जायसी ने शेरशाह सूरी को तथा 'आखिरी कलाम' में मुगल बादशाह बाबर को शाहे–वक्त के रूप में स्मरण किया है। शेरशाह का शासनकाल 1540–1545 ई० तथा बाबर का काल 1526–1530 ई० था। इससे जायसी के इनके समय में विद्यमान होने तथा काव्य–रचना में प्रवृत्त होने की सूचना मिलती है। 'अखरावट' की एक प्रति के आधार पर जायसी का जन्मकाल 1475 ई० के आसपास लाया जा सकता है। इसी प्रकार काज़ी सैयद हुसैन की डायरी के अनुसार 1502 ई० जायसी की मृत्यु तिथि का संकेत मिलता है। परन्तु सुदृढ़ प्रमाणों के अभाव में हम निश्चित रूप में इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं ले सकते। 15वीं–16वीं शताब्दी के बीच उनकी विद्यमानता अवश्य तथ्य के रूप में स्वीकार्य है।

जायसी के पारिवारिक इतिहास के विषय में कुछ निश्चित ज्ञात नहीं। कुछ लोग 'मलिक' के कारण उन्हें ईरान से आने वाले किसी जागीरदार अथवा जमींनदार परिवार से सम्बद्ध बताते हैं। उनके पिता का नाम मलिक राजे अशरफ बताया जाता है, और उन्हें भी छोटा–मोटा जमींनदार तथा कृषि को व्यवसाय के रूप में करने वाला बताया जाता है। स्वयं जायसी के कृषि करने के भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं। जायसी के मलिक कबीर नामक पुत्र होने का उल्लेख भी जायसी सम्बन्धी विद्वान सैयद आले ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के एक लेख में (वर्ष 45, पृष्ठ 49) में किया है। जायसी 'पद्मावत' में अपने चार यारों (मित्रों) का भावपूर्ण

उल्लेख करते हैं। यूसुफ मलिक पंडित और ज्ञानी थे, सालार और मियां सलोने अद्भुत वीर और योद्धा थे तथा शेख बहुत बड़े सिद्ध थे। ये चारों मित्र मानों एक प्राण थे और ईश्वर ने उन्हें एक–दूसरे की संगति के लिए ही बनाया था। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में भी कोई और सूचना उपलब्ध नहीं होती।

सैयद अशरफ को जायसी अपना गुरु बताते हैं। जायसी के अनुसार वे महान सन्त थे। सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती चांद के समान निष्कलंक थे, वे संसार के स्वामी थे, और जायसी स्वयं को उनके घर का सेवक कहते हैं। जहांगीर चिश्ती के वंश में शेख हाजी हुए और उसके बाद शेख कमाल हुए। परन्तु सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती की मृत्यु संभवतः सन् 1401 ई० में हो चुकी थी, अतः जायसी की उनके वंश के मुरीद, चेले या शिष्य होने की उक्ति से यही संकेत मिलता है कि वह उनकी गुरु–घर की परम्परा रही होगी, तथा जायसी का प्रत्यक्ष गुरु उनका कोई शिष्य–प्रशिष्य या वंशज रहा होगा, जो बहुत संभव है शेख मुबारक रहे हों।

अपने दीक्षा गुरु महदी या मोहदी के रूप में जायसी शेख बुरहान का उल्लेख करते हैं, जिनका स्थान कालपी था। गुरु बुरहान की पूर्ण गुरु परम्परा का उल्लेख करने के बाद जायसी कहते हैं कि उन गुरु की कृपा से मेरी वाणी खुल गई और मैं प्रेम का वर्णन करने योग्य हो गया। उन्हीं की कृपा से मैं परमात्मा को प्राप्त कर सकूंगा। एक अन्य स्थान पर भी जायसी ने कहा है कि उन्होंने मीठा गुरु महदी शेख, बुरहान नाम का पा लिया है। वे कालपी के निवासी हैं। उन्होंने गोसाईं (परमात्मा) के दर्शन पा लिए हैं। उन्हें नावेला सिद्ध अलहदाद गुरु ने पंथ दिखाया था। वे स्वयं सैयद मुहम्मद के शिष्य थे जिन्हें अमर ख्वाजा खिज्र से सहायता प्राप्त करने वाले दानियाल ने दीक्षित किया था। जायसी रचित 'चित्ररेखा', 'आखिरी कलाम' आदि से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

यह किंवदंती है कि सात वर्ष की आयु में चेचक के कारण जायसी की बांईं आँख तथा बायां कान बेकार हो गए थे और वे कुरूप हो गए थे। यह भी कहा जाता है कि शेरशाह प्रथम बार उन्हें इस कुरूप अवस्था में देख कर बहुत हंसा था। तब जायसी ने उनसे पूछा था कि मुझ (मिट्टी) पर हँस रहे हो या उस घड़ने वाले कुम्हार (परमात्मा) पर ? इससे शेरशाह बहुत लज्जित हुआ था और अन्ततः इन्हें बहुत आदर–मान दिया था। यह कहावत अकबर के दरबार से सम्बद्ध भी बताई जाती है। परन्तु अपने कुरूप होने और एक आँख–कान से हीन होने का उल्लेख तो स्वयं जायसी ने अनेक बार किया है। वे इस तथ्य को निर्व्याज भाव से कहते हैं, बल्कि इसमें एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास निहित है। वह स्वयं कहते हैं कि एक आँख वाला होने पर भी मुहम्मद कवि ने काव्य सुना है। कुरूप होने पर भी लोग उसका मुंह जोहते हैं। जब से परमात्मा दाहिने (दक्षिण) हो कर मिला है , तब से मैंने वाम देखना और सुनना (बुरा देखना–सुनना) बन्द कर दिया है। जब भी किसी ने इस कवि की बाहरी कुरूप अवस्था को देखा तो वह अवश्य हंसा है परन्तु जिसने इसका मीठा काव्य सुना, वह सिर धुन–धुन कर रोता रहा है। इनका स्वभाव विनम्र था, ये व्यवहार में साधु के समान थे तथा दानशीलता एवं एकान्तप्रियता इनके सहज गुण थे। लखनऊ के निकट अमेठी राज्य दरबार में इन्हें महान् सन्त के रूप में मान्यता प्राप्त थी। जीवन के अन्तिम दिनों में जायसी अमेठी के

निकट के मेंगर नाम के वन में रह कर तपस्या कियां करते थे। यह भी कहा जाता है कि शेर की ध्वनि के भ्रम में वहां ही किसी ने आवाज पर ही गोली चला दी थी, जिससे इनका देहान्त हो गया।

जायसी की रचनाओं के बारे में कुछ मतभेद विद्यमान हैं। पद्मावत उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है तथा मध्यकालीन हिन्दी के श्रेष्ठ रत्नों में से एक है। इस अकेले प्रेमाख्यान के कारण ही जायसी को महान् कवि तथा जीवन का श्रेष्ठ व्याख्याकार माना जा चुका है। 'अखरावट' तथा 'आखिरी कलाम' इनकी अन्य दो रचनायें हैं जिनके विषय में कोई सन्देह नहीं। ये सिद्धान्त–प्रतिपादन के ग्रन्थ हैं। इनकी 'चित्रावली' भी एक लघु आकार का प्रेमाख्यान है जिसमें चन्द्रपुर के राजा चन्द्रभानु की पुत्री चित्ररेखा और कन्नौज के राजा कल्याणसिंह के पुत्र प्रीतम कुंवर की कथा कही गई है। इसके अनुसार राजकुमार राजकुमारी के लिए पूर्व निर्धारित कुबड़े वर का रूप धारण करके उसे प्राप्त करने में सफल हो जाता है और भाग्य से अल्पायु होने पर भी वह दीर्घ आयु को प्राप्त करता है। 'अखरावट' में सूफी सिद्धान्त कहे गए हैं। 'आखिरी कलाम' में इस्लामी परम्परा के अनुसार सृष्टि के अन्त में होने वाले पुनरुत्थान अथवा नवसृजन का चित्रण हुआ है। इनके इलावा जायसी के नाम एक लम्बी ग्रन्थ-सूची जोड़ी जाती है। इनमें से कुछ ग्रन्थ अप्रकाशित रूप में प्राप्त हैं, तो कुछ की तो केवल सूचना मात्र ही उपलब्ध है। परन्तु किसी विशिष्ट प्रमाण के अभाव में इन सबं को जायसी की रचनायें मानना असंदिग्ध नहीं है। इनमें कुछ का अति साधारण स्तर भी इस दिशा में बाधक है। ये कृतियां हैं –– महरी बाईसी, चित्रावत, पोस्तीनामा या मोस्तीनामा, मसलानामा, मसंदा, कहरानामा, मुकहरानामा या मुखरानामा, मुहरानामा या होलीनामा, खुबीनामा, संकरानामा, चम्पावत, मटकावत, इतरावत, लखरावत, मुखरावत या सुखरावत, लहरावत, नैनावत, घनावत, परमार्थ जयजी तथा पुसीनामा। इनमें चित्रावत और पोस्तीनामा तो प्रकाशित भी हुए हैं। पर इस दीर्घ ग्रन्थ-सूची का कोई विशेष महत्व नहीं और अकेला 'पद्मावत' ही इस महाकवि की हिन्दी के लिए महान देन है।

पद्मावत

जायसी की सुप्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित रचना पद्मावत, पद्मावती और पदुमावती शीर्षक वाली प्रतियों के रूप में भी उपलब्ध हुई है। इस कृति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सूचना प्रसिद्ध फ्रांसी विद्वान तथा हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक गार्सी द तासी ने अपने इतिहास में दी थी। उन्होंने इसकी देवनागरी, फारसी और कैथी लिपियों में प्राप्त प्रतिलिपियों की सूचना व प्राप्ति-स्थान सम्बन्धी संकेत भी किए थे। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान लगातार पद्मावत की ओर बढ़ता गया और इसकी विषयगत, शैलीगत और विधागत विशेषताओं का उद्घाटन होता गया। इस शताब्दी के दूसरे दशक से इसके सम्पादन, प्रकाशन का कार्य आरम्भ हुआ और अब तक इसके अनेक अनुवाद सहित या अनुवाद रहित प्रकाशन निकल चुके हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त , आचार्य रामचन्द शुक्ल और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के पद्मावत के सम्पादन अत्यधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किए जाते हैं। पद्मावत के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा लिखे गए शोधपरक, समीक्षात्मक और परिचयात्मक ग्रन्थ तो अब तक

बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं । निःसन्देह अकेले पद्मावत के कारण जायसी हिन्दी के गिने–चुने श्रेष्ठ महाकवियों में परिगणित होते हैं । हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य–धारा के तो वे निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कवि हैं । पद्मावत के रचनाकाल के सम्बन्ध में 927,947,945,948 हिजरी मानने के विषय में मतभेद रहा है । परन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर शेरशाह सूरी को शाहेवक्त मानने के आधार पर 947 हिजरी तदनुसार सन् 1540 ई० बहुमान्य रचनाकाल है ।

'पद्मावत' बोलचाल की सामान्य अवधी की श्रेष्ठ रचना है । संस्कृत तत्सम् शब्दों का प्रायः अभाव है । तद्भव रूप में संस्कृत–फारसी के शब्द यथासमय प्रयुक्त हुए हैं । तत्कालीन ठेठ अवधी क्षेत्र में प्रचलित कहावतें, मुहावरे, लोकोक्तियां तथा सूक्तियां यथावसर पूरे मनोयोग से प्रयुक्त हुए हैं । रचना दोहे–चौपाई शैली में लिखी गई है जो जायसी से पूर्व भी पुरानी हिन्दी में आख्यानों की प्रचलित शैली रही है । मुल्लादाऊद अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'चंदायन' तथा कुतुबन 'मृगावती' की रचना इसी शैली में कर चुके थे । अपभ्रंश में इसी शैली का पूर्वरूप कड़वक और घत्ता शैली में चरितकाव्यों के लिए विस्तृत स्तर पर प्रयुक्त हो चुका था । सात अर्द्धालियों के बाद दोहे के प्रयोग द्वारा आख्यानमूलक कृतियों के लिए यह बहुत सशक्त और प्रभावपूर्ण शैली बन पड़ी है । सारी कृति 58 खण्डों में विभक्त है । आरम्भ के 24 खण्डों में परमात्मा की स्तुति, पैगम्बर स्मरण, चार मीत या खलीफाओं की प्रशंसा, तत्कालीन शासक की प्रशंसा, पीर एवं गुरु का अभिनन्दन तथा अपने चार मित्रों का उल्लेख हुआ है । पद्मावत के रचनाकाल का संकेत देकर कथा का सूत्ररूप में संकेत देने के बाद कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ संकेत देकर अपनी वृद्धावस्था की दयनीय अवस्था का चित्रण भी किया है ।

सिंहल के राजा गंधर्व सेन की सुन्दर पुत्री पद्मावती अपने तोते हीरामन से अपने यौवनागम तथा कामपीड़ित रहने की चर्चा करती है । तोता उसके लिए योग्य वर की तलाश का वचन देता है । दुष्ट व्यक्ति की शिकायत पर राजा तोते की हत्या का आदेश देता है । पद्मावती तब तो किसी प्रकार उसको बचा लेती है पर तोता स्वयं को अरक्षित समझ कर समय पाकर उड़ भागता है । तोता बहेलिये द्वारा पकड़ा जाता है और सिंहल आए चित्तौड़ के व्यापारियों के साथ आए एक ब्राह्मण द्वारा खरीद लिया जाता है । हीरामन परम विद्वान् था । वह वेद–शास्त्रों का ज्ञाता था । चित्तौड़ में उसकी प्रशंसा सुन कर वहां का युवक राजा रत्नसेन उसे खरीद लेता है । वह राजा का प्रिय बन जाता है । एक दिन राजा की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी नागमती तोते से अपने रूप–गुण के विषय में पूछती है । हीरामन पहले तो टालता है पर उसके आग्रह करने पर वह सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों के सौन्दर्य का उल्लेख करके पद्मावती की विशेष चर्चा करता है और नागमती को उसके समक्ष काली–अंधेरी रात के समान बताता है । नागमती क्रुद्ध भी होती है और आशंकित भी कि कहीं तोते से पद्मावती का रूप-गुण सुन कर राजा घरबार छोड़ कर सिंहल न चला जाए । वह धाय को उस दुष्ट तोते को मार डालने का आदेश देती है परन्तु राजा के भय से धाय उसे छिपा कर रख लेती है । राजा तोते के उड़ जाने या बिल्ली द्वारा खाए जाने के समाचार से बहुत नाराज हुआ । भयभीत दासी तोता लाकर दे देती है और राजा को यथा–स्थिति का ज्ञान होता है । राजा पद्मावती का रूप–गुण सुन कर बेसुध हो जाता है और सुध आने पर योगी बनकर घर से निकल पड़ता

है । तोता पहले उसे योग-मार्ग और प्रेम–मार्ग की कठिनाइयों की बात बता कर हतोत्साहित तथा विरत करने का प्रयास करता है , पर उसे दृढ़ देख कर उसका पथ–प्रदर्शक बनता है । सोलह हजार अन्य कुंवर भी राजा के साथ योगी होकर चले । मार्ग की भीषण बाधाओं और कष्टों के बाद वे सिंहल पहुंचे । सिंहल में शिव मन्दिर में वे डेरा डालते हैं । राजा तप करता है और पद्मावती का ध्यान करता है । तोता पद्मावती के पास जा कर अपनी व्यथा–कथा सुनाता है तथा राजा के आने की सूचना देता है । उसके रूप, गुण, कुल का परिचय देकर वह उसे उपयुक्त पात्र बताता है । पद्मावती अभिभूत होती है और पूजा के बहाने बसन्त पंचमी के दिन मंदिर में आने का आश्वासन देती है ।

यथावसर पद्मावती तो आई पर रत्नसेन उसके रूप को झेल न पाने से बेसुध हो गया । वह चन्दन से उसकी छाती पर लिख गई – हे योगी तूने भीख पाने लायक योग नहीं सीखा । जब फल–प्राप्ति का अवसर आया तो तू सो गया । सुध लौटने पर वह विरह में विलाप करने लगा । सारा ब्रह्माण्ड उतप्त हो गया । तीनों लोकों के उसकी विरहाग्नि में जल जाने की आशंका से रूप बदल कर शिव–पार्वती प्रकट होते हैं । पार्वती द्वारा ली गई परीक्षा में रत्नसेन सफल होता है । महादेव की सिद्धि–गुटिका के बल पर योगी सिंहल गढ़ पर आक्रमण करते हैं । परन्तु साथियों सहित रत्नसेन बन्दी बना लिया जाता है , और उसे सूली देने ले चलते हैं । पद्मावती भी जान हथेली पर लेकर बैठी है पर तभी शिव राजा को रत्नसेन की वास्तविकता बताते हैं और राजा को महाभारत मचने की चेतावनी देते हैं । राजा शिव के चरण पकड़ लेता है । रत्नसेन-पद्मावती का धूमधाम से विवाह सम्पन्न होता है । अन्य राजकुमार भी सिंहल की सुन्दरियों से विवाह–बद्ध होते हैं । सब सुख से रहने लगते हैं ।

उधर नागमति विरह से तड़प रही थी । एक पक्षी उसकी विरहावस्था का वर्णन रत्नसेन के पास आकर करता है । वह चित्तौड़ के लिए व्याकुल हो जाता है । राजा बहुत से धन–द्रव्य के साथ रत्नसेन–पद्मावती को विदा करता है । समुद्र भिखारी के रूप में उसके धन का चालीसवां भाग मांगता है पर गर्व में चूर रत्नसेन इसकी कोई परवाह नहीं करता । परिणाम स्वरूप उसके जहाज़ भटक जाते हैं । विभीषण का एक राक्षस उसे गलत रास्ते डाल भंवर की ओर ले जाता है । जहाज डूबने लगते हैं पर राजा को एक राजपक्षी उठा कर किसी द्वीप पर ले गया । पद्मावती एक अन्य द्वीप के तट पर लगती है और रत्नसेन के लिए विलाप करती है । रत्नसेन भी दूसरे स्थान पर विरह में तड़पता है । लक्ष्मी उसकी फिर परीक्षा लेती है, जिसमें वे सफल सिद्ध होते हैं । दोनों को लक्ष्मी के आग्रह पर समुद्र मिला देता है । कुछ दिन वहां अतिथि रूप में रह कर समुद्र से भी भेंट में बहुमूल्य वस्तुयें प्राप्त करके वे चित्तौड़ की ओर चलते हैं ।

रत्नसेन के दरबार में राघवचेतन नाम का विद्वान् परन्तु सिद्ध पंडित था । उसके वेद–विरुद्ध आचरण के कारण राजा उसे देश से निर्वासित कर देता है परन्तु पद्मावती उसे नाराज नहीं करना चाहती । वह महल के अलिंद से अपना स्वर्ण कंगन उसको देती है, पर वह अपने अपमान का बदला लेने दिल्ली पहुंचता है । दिल्ली में अलाऊद्दीन बादशाह को पद्मावती का रूप-गुण सुना कर वह पद्मावती प्राप्त करने को आक्रमण करने के लिए उकसाता है ।

बादशाह चित्तौड़ को घेर लेता है । आठ वर्षों के युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकलता । अलाऊद्दीन सन्धिपत्र भेजता है । राजा चित्तौड़ में उसका स्वागत करता है । भोज आदि के बाद जब राजा बादशाह को छोड़ने दुर्ग द्वार तक आता है तो उसे धोखे से बन्दी बना कर दिल्ली ले जाया जाता है । इसी अवसर पर कुंभलनेर का राजा देवपाल पद्मावती के पास अपनी दूती भेज कर तथा बादशाह अपनी एक वेश्या भेज कर पद्मावती को फुसलाना चाहते हैं पर दोनों प्रयास विफल होते हैं ।

गोरा–बादल की सहायता से पद्मावती रत्नसेन को मुक्त करवाने की योजना बनाती है । एक पालकी में एक लुहार बिठाया जाता है । अन्य सोलह हजार पालकियों में सशस्त्र सिपाही बैठते हैं । बादशाह को सन्देश भिजवाया जाता है कि पद्मावती अपनी सखियों सहित आ रही है, पर वह पहले राजा से मिल कर किले की कुंजियां राजा को सौंपने की अनुमति चाहती है । लुहार राजा के बन्धन काटता है । राजपूत योद्धा मार–काट करते चित्तौड़ की ओर बढ़ते हैं । गोरा शाही सेना को रोकता है और अनेक वीरों सहित वीरगति को प्राप्त होता है । बादल राजा को लिए चित्तौड़ पहुंचता है । पद्मावती उसके पहुंचते ही देवपाल की करतूत उसे सुनाती है । वह बिना रुके कुंभलनेर पर आक्रमण करता है । युद्ध में देवपाल की गर्दन काट दी जाती है पर वह भी सांग से रत्नसेन पर आक्रमण करता है जिससे उसके पेट में चोट लगती है । मार्ग में रत्नसेन मर जाता है । राजा के शव के साथ दोनों रानियां सती हो जाती हैं । तब तक अलाऊदीन् फिर चित्तौड़ को घेर लेता है । किले पर उसका अधिकार हो जाता है, लेकिन उसके हाथ में जौहर की राख के सिवा कुछ नहीं आता । वह बरबस कह उठता है —

छार उठाई लीन्हि एक मूंठी,
दीन्हि उड़ाई पिरिथमी झूठी ।।

कथा में बहुत से नाम ऐतिहासिक हैं । इसका सम्पूर्ण वृत्त तथा विकास पूर्णतः कल्पित, निजंधरी अथवा लोकतत्वों पर आधारित है । प्रायः सभी महत्वपूर्ण भारतीय कथानक-रूढ़ियों का भरपूर उपयोग हुआ है । भाषा, छन्द, कथा-विकास, मानवीय संबंध आदि सब दृष्टियों से भारतीय आख्यान-परम्परा का यह अविच्छिन्न अंग है । सूफीमत सम्बन्धी संकेत कहीं-कहीं प्रकारान्तर से उपलब्ध होते हैं ।

'पद्मावत' का उद्देश्य वस्तुतः प्रेमतत्व एवं विरह आदि भाव को सूफी मान्यता के अनुसार प्रतिपादित करना है । प्रेम का आदर्श बहुत महान् एवं काम्य है । लौकिक और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर यह बहुत प्रभावपूर्ण एवं आकर्षक हो गया है । राजा रत्नसेन के प्रयत्न एक साधक-योगी के प्रयासों के अनुरूप हैं । पद्मावती का आरम्भिक व्यवहार भी यत्र-तत्र प्रेम-पात्र परमेश्वर की ओर संकेत देता है, विशेष रूप में उसके सौन्दर्य वर्णन में तो परम-सत्ता का सौन्दर्यांकन ही कवि का प्रकट लक्ष्य प्रतीत होता है । प्रकृति-वर्णन भी रहस्यात्मक संकेतों से पूर्ण है ।

'पद्मावत' को एक सफल महाकाव्य भी स्वीकार किया जा सकता है । महाकाव्य के अन्य उपादानों के साथ-साथ इसमें गम्भीर भावों को सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । उदात्त

चरित्रों का इसमें विशद चित्रण हुआ है और आदर्श रचना की सम्पूर्ण सोद्देश्यता इसमें निहित है। कवि की निश्छल-भावुकता, सहृदयता और समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण पद्मावत स्थल-स्थल पर बहुत आकर्षक हो गया है। प्रतीकात्मकता इसे और भी अधिक गम्भीर और ग्राह्य बना देती है।

जायसी और उनके 'पद्मावत' के महत्त्व को इस एक तथ्य के आधार पर ही भली प्रकार समझा जा सकता है कि 'पद्मावत' के भिन्न-भिन्न भाषाओं में रूपान्तर अथवा पद्मावत से प्रभाव ग्रहण करके नवीन कृतियों की रचना की एक सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। फारसी में अब्दुरशकूर बज्मी, आकिल खां और रायगोविन्द मुंशी; पश्तो भाषा में इब्राहिम; उर्दू में गुलाम अली और वलीवेल्लोरी; बंगला में अलाओल और रंगलाल बंद्योपाध्याय इस दृष्टि से कुछ उल्लेख्य कवि हैं। हिन्दी के हेमरतन, लब्धोदय तथा जटमल नाहर भी पद्मावत से प्रभाव ग्रहण करके इसके अनेक तत्वों को अपनी कृतियों में सफलता पूर्वक प्रयुक्त करते हैं।

जायसी ने प्रेम की इस कहानी 'पद्मावत' को अपने रक्त की लेई से जोड़ा है। प्रगाढ़ प्रेम की यह कथा आंसुओं से भीगी हुई है। इस नश्वर जगत में केवल प्रेम ही अनश्वर है। अपने नश्वर व्यक्तित्व के स्मृतिचिन्ह रूप में जायसी अनश्वर प्रेम की यह कहानी छोड़ जाते हैं।

अध्याय 16

मलिक मुहम्मद जायसी : कुछ विचार-बिन्दु

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर एक नजर डालते ही जिन महान् प्रतिभाओं से साक्षात्कार होता है, मलिक मुहम्मद जायसी उनमें प्रमुख हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-धारा के निःसन्देह वे शीर्ष–व्यक्तित्व हैं। जायसी के काव्य की उत्कृष्टता, उनके व्यक्तित्व की गरिमा और कवि के ऐतिहासिक महत्त्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह न होने पर भी उनसे सम्बद्ध अनेक प्रश्न अब भी विद्वानों के विवेचन-विश्लेषण की अपेक्षा करते हैं। कुछ उलझे प्रश्नों को सुलझाने और धुंधले तथ्यों को प्रकाशित करने के प्रयास द्वारा ज्ञान-क्षितिज के प्रसार के सारस्वत कर्त्तव्य का पालन करने के लिए कुछ प्रश्नों को इस रूप में उठाया जा सकता है।

जायसी का काल

सबसे पहली समस्या तो जायसी के निश्चित काल निर्धारण की है। मानव को अपने इतिहास और भूगोल की अन्तःक्रिया की परिणति स्वीकार करने पर यह अनिवार्य हो जाता है कि किसी भी लेखक, विचारक, दार्शनिक सम्बन्धी विचार-विवेचन से पूर्व उसके सही काल का निर्धारण हो जाए। इसके अभाव में अनेक शंकाओं और आशंकाओं की संभावना अवश्यम्भावी है। वैसे तो हम यह मान कर चले हैं कि जायसी को हुए पांच सौ वर्ष हो चुके हैं। इस तर्क को हिन्दी के विद्वद्वर्ग ने, मुख्य साहित्यिक संस्थाओं ने तथा भारत सरकार ने भी स्वीकार किया है। इसी स्वीकृति के आधार पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से देश भर में वर्ष 1982 जायसी की पंचशती के रूप में मनाया गया। पर यह प्रश्न अभी भी विवेचन की अपेक्षा करता है कि जायसी का जन्म कब हुआ ?

जायसी की किसी भी रचना में उनकी निश्चित जन्मतिथि या वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता। 'आखिरी कलाम' (4) में वह कहते हैं — 'भा अवतार मोर नौ सदी।' इसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि 801 व 900 हिजरी या सन् 1398–1497 ई० के बीच उनका जन्म हुआ। 'पद्मावत' का रचनाकाल 947 हिजरी (या 927 हिजरी) भी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर स्वीकार्य है — ('सन् नौ से सैंतालीस अहे' — पद्मावत–24)। 'पद्मावत' के अन्तिम अंश (653) के आधार पर यह भी कहा जाता है कि उस समय तक जायसी काफी वृद्ध हो चुके थे। पर इसमें भी निश्चित काल-संकेत का अभाव है। 'आखिरी कलाम' के रचनाकाल के सम्बन्ध में वह कहते हैं – 'नौ से बरिस छत्तीस जो भए, तब यह कविता आखर कहे' ('आखिरी कलाम' – 13) अर्थात् 936 हिजरी या 1529 ई० में इस काव्य की रचना हुई। 'पद्मावत' (13–17) में जायसी शेरशाह सूरी, जिनका शासनकाल सन् 1540-45 ईस्वी था,

तथा 'आखिरी कलाम' (8) में मुगल बादशाह बाबर, जिनका काल सन् 1526-30 ई० था, शाहेवक्त के रूप में उल्लेख करते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि सन् 1526 से 1545 के मध्य जायसी काव्य-सृजन में प्रवृत्त थे। मनेरशरीफ, पटना – बिहार में प्राप्त 'अखरावट' नामक कृति भी जायसी द्वारा रचित मानी जाती है। इसका लिपिकाल 911 हि० अर्थात् 1505 ई० दिया गया है। प्रोफैसर सैयद हसन असकरी के अनुसार अगर इसे जायसी की पहली रचना माना जाए, तो जायसी के जन्मकाल का निर्णय सम्भव हो सकता है। सन् 911 हिजरी अर्थात् 1505 ई० में उपर्युक्त 30 वर्ष का समय घटा कर सन् 881 हिजरी अर्थात् सन् 1475 ई० के आसपास जायसी का जन्मकाल स्वीकार्य हो सकता है। 1482–1982 ई० का पंचशतीय तर्क सम्भवतः इसी प्रकार के संकेतों पर आधारित है। इसी प्रकार सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी द्वारा किन्हीं काज़ी सैयद हुसैन की नोटबुक में दी गयी 5 रज्जब, 949 हि० तदनुसार 1542 ई० को जायसी की मृत्यु-तिथि मानने का उल्लेख (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 45, पृ० 58) भी विद्वानों की शोध-दृष्टि की अपेक्षा करता है।

चित्ररेखा

'चित्ररेखा' के सम्बन्ध में विचार भी काम्य है। इसे जायसी की वृद्धावस्था की अन्तिम रचना माना गया है।[1] जायसी के मृत्युकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद होने पर भी उपलब्ध संकेतों के आधार पर उनकी मृत्यु 4 रज्जब 949 हिजरी, अर्थात् 1542 ईस्वी को हुई मानी जाती है।[2] इस प्रकार चित्ररेखा 1542 ई० के आसपास की रचना मानी जा सकती है। कथा का श्रोत भोजपुर जनपद में प्रचलित लोक कथा है,जो थोड़े–बहुत अन्तर के साथ आज भी अवध–भोजपुर के ग्रामीण किस्सा-गो लोगों से सुनी जा सकती है।[3] प्रेम और विरह की महत्ता का स्थान-स्थान पर गान होने[4] पर भी सारी रचना में यथार्थ प्रेम का कहीं भी विकास दिखायी नहीं देता। कुंवर और चित्ररेखा का विवाह एक संयोग मात्र है। आयु-वृद्धि का वरदान पाने पर कुंवर का आकर चित्ररेखा को बचा लेना प्राप्ति मात्र या अपने पाप के संभावित भय का परिणाम प्रतीत होता है। चित्ररेखा द्वारा चितारोहण का निर्णय भी प्रणयाकर्षण के कारण न होकर सामन्ती विवाह की शक्तिमत्ता तथा वैधव्य-भय का ही परिणाम है। नर-नारी सम्बन्धों की दृष्टि से भी यह सशक्त मध्यकालीन रोमांस रचना न होकर विशुद्ध सामन्ती 'कन्या-प्राप्ति' की रूढ़ि के आधार पर रचित काव्य प्रतीत होता है। जायसी जैसे सिद्ध कवि की यह रचना और वह भी अन्तिम रचना होना एक उकसाने वाला प्रश्न है।

---

1. मुहम्मद मलिक प्रेम मधु भौरा। नाउं बडेरा दरसन थोरा।
   जेंव-जेंव बूडा तेवं-तेवं नवा। खुदी कहै खयाल न कवा।।
   जायसी, चित्ररेखा, पृष्ठ 75

2. वही, पृष्ठ 28

3. वही, पृष्ठ 50-51

4. वही, पृष्ठ 113

प्रणय एवं विवाह

प्रेम और विवाह परस्पर विरोधी परम्परायें हैं। परिवार और समाज की परिनिष्ठित संस्थाओं की सुरक्षा की दृष्टि से क्लासिकी-आभिजात्य परम्परा ने मुक्त प्रणय और स्वतंत्र-चयन के तत्त्व को कभी स्वीकार नहीं किया। इसे व्यभिचार (एडल्टरी) मान कर सदा गर्हित और दण्डनीय माना जाता रहा है। परन्तु रोमांस-लेखक विवाह की संस्था को नकार कर प्रणय अथवा इश्क को खुदा की ज़ात स्वीकार करते रहे हैं। जायसी के काव्य में इन दोनों का समन्वय तो नहीं, समझौता, कुछ कमजोर समझौता, अवश्य दृष्टिगत होता है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमाख्यान, जायसी के पद्मावत (रचनाकाल 1547 ई०) की कथावस्तु में उत्पाद्य तथा अनुपाद्य सामग्री का सुन्दर मिश्रण हुआ है। कथावस्तु लोकप्रिय तत्त्वों के आधार पर उभारी गयी है और जायसी से पूर्व इसका लोकप्रिय प्रचलन असंदिग्ध है। 'पद्मावत' में स्वतंत्र प्रणय, प्रयास, संघर्ष और प्रिय-प्राप्ति आदि, प्रेमाख्यानों के सभी अनिवार्य सोपान अपने पुष्टतम रूपों में प्राप्त हैं। पद्मावती और रत्नसेन के प्रणय में गहरा भावात्मक आकर्षण विद्यमान है। स्वतंत्र-चयन और दोनों ओर का समान आकर्षण इसे उच्चस्तरीय प्रेमाख्यान बनाते हैं, पर कुछ तत्त्व इसमें नर-नारी सम्बन्धों की सामन्ती पुरुष-श्रेष्ठता के सूचक हैं। परम्परागत विवाह में प्राप्त पत्नी को छोड़ कर चयन-स्वातंत्र्य के आधार पर प्राप्त प्रणय-पात्र की ओर आकर्षण भावात्मक प्रणय का सबल पक्ष है, पर प्रेमिका की प्राप्ति के बाद लौटने पर दोनों को समस्तरीय मान कर व्यवहार, पारिवारिक आदर्श की दृष्टि से श्लाघनीय होने पर भी प्रणय की एकनिष्ठता के लिए अनुपयुक्त ही नहीं, विनाशकारी है। इसे भारतीय और अभारतीय कथा–रूढ़ियों का सम्मिलन कहा जा सकता है। नायिका के लिए नायक का भावुक–एकान्तिक प्रणय तथा कठोर साधना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार अभारतीय कथा-रूढ़ि है ('हिन्दी साहित्य' पृष्ठ 265), जबकि नायिका की प्राप्ति का सामान्य आकर्षण, मार्ग में अन्य नायिकाओं की प्राप्ति तथा अन्त में सब के साथ एकाधिक पत्नी वाले सामन्त का-सा व्यवहार भारतीय आख्यानों की सुलभ रूढ़ि है। यहां प्रश्न यह है कि यदि जायसी भारतीय रूढ़ि का अनुगमन कर रहे थे, तो पंजाबी के दामोदर, वारिस, हाफ़िज़ आदि इसी वर्ग के श्रेष्ठ लेखक विदेशी रूढ़ि का पूर्ण शक्तिमत्ता से पालन करके अपनी रचनाओं को अत्यधिक लोकप्रिय बनाने का उपक्रम क्यों कर रहे थे ? क्या पंजाबी लेखकों पर अभारतीय प्रभाव अतिरिक्त था, या जायसी भारतीय परम्परा में अधिक पगे थे ? या शायद यह सम्पूर्ण समीकरण ही अधिक गहरे समाजशास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा करता है ? 'पद्मावत' में नागमती-पद्मावती विवाद-खण्ड में दोनों का विवाद लड़ाई का रूप ले लेता है। सूचना प्राप्त करके रत्नसेन बाग में आता है। वह सोचता है –

दुओं सम साँवरि औ गौरी।
मरहिं तो कहं पावसि असि जोरी ।। 2 ।।

उन्हें वह सेवा का उनका यथार्थ कर्त्तव्य समझाते हुए कहता है –

जूझब छांडहु बूझहु दोऊ। सेव करहु सेवां कछु होऊ ।। 7 ।।
तुम्ह गंगा-यमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेवा करहु मिलि दूनहूं और मानहु सुख भोग ।। 36 ।।

पति की मृत्यु के बाद पत्नी का सती होना ह्रासशील हिन्दू परम्परा में बड़ी श्रद्धा, सम्मान और त्याग तथा पतिव्रत धर्म का सूचक माना जाता रहा है। इस दृष्टि के पीछे समाज-विकास की परम्परा का ऐतिहासिक ज्ञान न होकर विशिष्ट काल की श्रद्धा-भावना ही है। पर समाज-शास्त्रीय दृष्टि से इस परम्परा के पीछे सम्पत्ति का उत्तराधिकार और तज्जन्य नारी-हीनता और पुरुष-श्रेष्ठता के तत्त्व उत्तरदायी हैं। पुरुष की मृत्यु पर नारी अपने विशेष कर्त्तव्य का पालन करने पर श्रद्धा की पात्र मानी जाए, पर अत्यधिक प्रेम होने पर भी सामन्ती व्यवस्था में पुरुष का इसी कोटि का व्यवहार हीनता की दृष्टि से ही देखा जायेगा। यह जीवन-दृष्टि का भेद है, क्योंकि उस व्यवस्था में पुरुष को एक नहीं, अनेक पत्नियां प्राप्त हो सकती थीं, जबकि स्त्री के विधवा हो जाने के बाद वैधव्य और मरण के अतिरिक्त तीसरा कोई भी मार्ग समाज द्वारा बन्द था। इस दृष्टि से जायसी द्वारा पद्मावती और नागमती का रत्नसेन के शव के साथ सती होना दिखा कर उनकी महानता ही दिखाने का प्रयास है पर समाजशास्त्रीय गहराई से यह नर-नारी के सामन्ती, पुरुष-श्रेष्ठता पर आधारित सम्बन्धों का ही सूचक है और रोमांसों के यथार्थ प्रेरक तत्त्व तथा जायसी की आध्यात्मिक रूपक-योजना के सम्मुख ही एक बड़ा प्रश्न-चिन्ह बन कर खड़ा होता है।

पद्मावत : परम्परा और उद्देश्य

क्या जायसी सूफी प्रचारक थे ? कुछ इस प्रकार की परम्परा चल पड़ी है कि जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि कवियों के काव्यों का उद्देश्य सूफी-मत का प्रचार माना जाता रहा है। यह भी निर्दिष्ट किया जाता रहा है, मानों किसी योजनाबद्ध ढंग से हिन्दुओं के घरानों में प्रचलित कथाओं को हिन्दुओं की भाषा और छन्द-विधान में उन्हीं की परम्पराओं के आधार पर सूफी मत के प्रचार के लिए इन मुसलमान कवियों ने प्रयुक्त किया। हिन्दी भाषा तथा स्थानीय इतिहास, परम्परा और वातावरण का अपनाना उन कवियों की विशाल-हृदयता का परिचायक बताया गया। पर इससे जो ध्वनि निकलती है, वह यही है मानो ये कवि सीधे फारस-अरब से आए थे, और अपने मत के प्रचार के लिए अपनी अरबी-फारसी भाषा, सामी पुराण- परम्परा और वातावरण का सहारा न लेकर उन्होंने यह आयोजन किया। इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे मत व्यक्त होते रहे हैं कि विदेशी ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई मत के प्रचार के लिए रचित भारतीय भाषाओं की प्रचार पुस्तिकाओं और 'पद्मावत' आदि में साम्य सा प्रतीत होने लगता है। पर इस प्रकार की धारणा न केवल अपनी भाषा व साहित्य-परम्परा के प्रति अन्याय प्रतीत होता है अपितु अपने इन महान् भारतीयों और मेधावी कवियों के प्रति भी अपमान व अन्याय प्रकट करने के समतुल्य है।[5] यह मध्यकालीन अभिजात-विरोधी जन-जागरण और रोमांस भावना की अन्तरराष्ट्रीय वृत्ति के प्रति अपनी अज्ञता की भी अभिव्यक्ति है।[6] इस दृष्टि से पद्मावत की परम्परा सम्बन्धी किंचित विचार उपयोगी होगा। पद्मावत रचना के उद्देश्य के सम्बन्ध में जायसी कहते हैं —

---

5. वासुदेव शरण अग्रवाल, (सं०) पद्मावत, पृष्ठ 557
6. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पृष्ठ 23-33

आदि अन्त जस गाथा अहै ।
लिखी भाषा चौपाई कहै ।।

आदि से अन्त तक गाथा का सम्पूर्ण रूप पहले से प्रचलित था, कवि उसे भाषा (लोकभाषा अवधी) में तथा चौपाई छन्द में लिख कर कहता है । रत्नसेन और पद्मावती की एक संस्कृत कथा का उल्लेख डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ ने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' में किया है । पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती समय' में तथा पद्मावत की पूर्वार्द्ध की कथा में बहुत साम्य है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'रासो' और 'पद्मावत' की पद्मावती-कथा एक ही लोक प्रचलित आख्यान से कथातत्त्व ग्रहण करते हैं ।[7] कथानक-रूढ़ियों और कथा–विकास की दृष्टि से भी 'पद्मावत' अपभ्रंश से पुरानी हिन्दी तक की, लोकसाहित्य द्वारा प्रभावित विशुद्ध आख्यान-परम्परा में पड़ता है । एक सुन्दर कथा कहना जायसी का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है । डॉक्टर रवीन्द्र कुमार का मत है –

"....... पद्मावतकार ने किसी उपदेश या नीति शिक्षा के लिए अपनी कहानी नहीं लिखी, वरन् जहां कहीं जो उपदेशात्मक उक्तियां स्वाभाविक रूप से आ गयी थीं सो आ गयीं ।"[8] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है –

" .... जायसी का झुकाव सूफी मत की ओर था, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक भेद न माना जाने पर भी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की जाती है । इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में सारी कहानी को अन्योक्ति कह दिया है और बीच-बीच में भी उनका वर्णन अलौकिक पक्ष की ओर संकेत करता जान पड़ता है । इसी विशेषता के कारण कहीं-कहीं इनके प्रेम की गम्भीरता और व्यापकता अनंतता की ओर अग्रसर दिखायी पड़ती है ।"[9] अन्त में उनका कहना है – पद्मावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है । केवल बीच-बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है ।[10]

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जायसी उतने और वैसे ही भारतीय थे, जितने तुलसी अथवा सूरदास । यहीं के वातावरण में इनका जन्म और लालन-पालन हुआ था । यहां की मिट्टी, यहां की वायु और यहां के सामाजिक वातावरण का इन पर भी इतना ही गहरा प्रभाव था, जितना किसी अन्य भारतीय पर हो सकता है । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं –

"....... पद्मावत काव्य का अनुशीलन करते हुए जिस बात की गहरी छाप मन पर पड़ती है, वह यह कि इस कवि ने भारत भूमि की मिट्टी के साथ अपने को कितना मिला दिया था । जायसी सच्चे पृथिवी-पुत्र थे । वह भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी

7. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य**, पृष्ठ 261

8. रवीन्द्र कुमार, पद्मावत की कथा का लोकरूप (लेख), **आलोचना**, वर्ष 4, अंक 4, नवम्बर, 1955

9. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी, ग्रन्थावली, पृष्ठ 54-55

10. **वही**, पृष्ठ 54–55

कल्पना करना कठिन है । गांव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण-सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊंचा किया है । जनता की उक्तियां, भावनाएं और मान्यताएं मानों स्वयं छन्द में बँध कर उनके काव्य में गुँथ गई हैं ।''[11] जायसी के काल तक तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अस्तित्व में नहीं आया था, पर अवध के ग्रामों में प्रचलित राम कथा का ही पद्मावत में लगभग एक सौ बार जायसी ने उल्लेख किया है । डॉ० अग्रवाल का कथन है — ''इनके मिलाने से एक छोटी जायसी रामायण ही बन जाती है ।''[12] जायसी उच्च कोटि के विद्वान थे । वह बहुज्ञ थे, धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले साधक थे । वह अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे, अमेठी के राजघराने में उन का बड़ा सम्मान था । जनता में भी उनको विशेष महत्त्व प्राप्त था । इस कोटि के व्यक्ति की रचना का हल्के मनोरंजन तक सीमित रह जाना सम्भव नहीं था । 'पद्मावत' में सूफी साधना पद्धति के प्रभावस्वरूप प्रेम-मार्ग, प्रेम-साधना, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की स्थान-स्थान पर व्यंजना हुई है । आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी कवि का भाव वेदान्त के अद्वैतवाद पर आधारित है । साधना-मार्ग में प्रेम के तत्व के अतिरिक्त नाथ-पंथ के हठयोग का जायसी पर सर्वाधिक प्रभाव है । हठयोग की प्रक्रियाओं द्वारा शरीर के संस्थानों को जागृत करने की साधना का प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्णन कवि ने अनेक बार किया है । रत्नसेन और पद्मावती के विवाह-बाद के वार्तालाप में तो अनेकार्थ शैली में हठयोग-साधना का ही सांगोपांग वर्णन किया है । मध्यकाल में गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित समन्वयमूलक नाथपंथ ही अधिसंख्यक भारतीयों का मान्य धर्म रहा है । मध्य-देश के सीमान्त प्रदेशों में तो इसका प्रभाव सम्पूर्ण रहा ही है, ठेठ मध्य-देश में भी पौराणिक परम्परा के अभिजात हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वर्ग नाथ-सिद्ध परम्परा से शक्ति, प्रेरणा और चिन्तन-दर्शन ग्रहण करते रहे हैं । पौराणिक हिन्दुओं में भी परोक्षतः नाथ-पंथ का सैद्धान्तिक और साधनात्मक प्रभाव गहरायी तक छन कर पहुँच गया था । मध्यदेश में जायसी लोक के प्रतिनिधि थे और लोक के प्रिय मत-पंथ से स्वयं को निरपेक्ष रखना उनके लिए न संगत था न सम्भव ही । यदि प्रभाव का प्रतिमान नामकरण का आधार माना जाए तो जायसी को सूफी कवि न कह कर नाथ-कवि, हठयोगी-कवि आदि कहना अधिक उपयुक्त होगा ।[13] पद्मावत का मुख्य उद्देश्य एक मनोरंजक, लोकप्रिय कथा कहना रहा है पर सुधी और सुविज्ञ कवि अपने जीवन के विभिन्न सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक व्यवहार तथा मतवादी अनुभवों का सार भी अपने पाठकों को पग-पग पर भेंट करता गया है । यही कारण है कि 'पद्मावत' एक रोमानी कथा मात्र न रहकर एक धर्म-ग्रंथ, सामाजिक नैतिकता की संस्थापक रचना और व्यवहार-ज्ञान का विश्वकोश बन गया है । इसका साहित्यिक मूल्य तो प्रेमाख्यानक धारा में उच्चतम स्तर का है ही । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी कवियों की श्रेणी

---

11. वासुदेव शरण अग्रवाल, (सं०) पद्मावत, पृष्ठ 10-11

12. वही, पृष्ठ 10-11

13. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पृष्ठ 178-79

बांधने और छोटे-बड़े का भेद करने की नीति को 'भोण्डी बात' मानते हुए भी हिन्दी की प्रबन्ध रचनाओं में तुलसी के 'मानस' के बाद जायसी-काव्य की महानता को स्वीकार करते हैं।[14]

ये कुछ प्रश्न हो सकते हैं, जिन पर जायसी, सूफी काव्य और प्रेमाख्यानक काव्य-धारा के विशेषज्ञ विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता हैं।

14. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ 210

अध्याय 17

पंजाब का हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य

विषय कथन

पंजाब के सब किस्सा-लेखक इश्क को खुदा की ज़ात कहते हैं, इश्क को खुदा की महान देन मानते हैं। इश्क करने वाले दैवी व्यक्ति माने गए हैं पर साथ ही इश्क को बहुत विकट, कठिन और असाध्य साधना भी कहा गया है। प्रेमाख्यानों के सन्दर्भ में यह विचित्र प्रश्न है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जो पूरी तरह निषिद्ध, गर्हित, हीन, असामाजिक और अनैतिक माना जाता है, वही साहित्य में सर्वश्रेष्ठ क्यों है ?[1] एक प्रश्न और भी है कि विश्व भर में केवल मध्यकाल में ही इस सामाजिक एडल्टरी अथवा व्यभिचार[2] को मान्य, काम्य एवं ग्राह्य रूप में समान एवम् समानान्तर अभिव्यक्ति तथा सामाजिक मान्यता क्यों प्राप्त हो सकी ?

भोजन तलाशना, भय तथा सैक्स प्राणीमात्र की तीन महत्वपूर्ण और मुख्य प्रवृत्तियां हैं। यौनाकर्षण सहज जैवी अनिवार्यता है। इससे नवसृजन की प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति होती है, पर मानव समाज के विकास में जहां भोजन तलाशना तथा भय की प्रवृत्तियां सहज अभिव्यक्ति और मान्यता प्राप्त करती हैं वहां यौन को विशेष सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक नियमोपनियमों द्वारा नियन्त्रित रूप में ही किसी तरह सहन भर किया जाता है।[3] जिसकी अनिवार्यता के समक्ष शारीरिक-मानसिक दृष्टि से व्यक्ति विवश हो, परन्तु जिसकी प्राप्ति अप्राप्य अथवा नियन्त्रित•हो, वह मानसिक आकर्षण और बुभुक्षा जागृत करती ही है, जिसे वृत्ति रूप में रोमांस की संज्ञा दी जा सकती है।[4]

क्लासिकी धर्मों हिन्दू, ईसाई तथा इस्लाम – की विच्छिन्नता मध्यकाल की विशेषता है। इसे सामन्ती-क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक की प्रबुद्ध क्रान्ति, विद्रोह और स्वातन्त्र्य-प्रयास के रूप में देखा जा सकता है।[5] इसी परिवेश में उपर्युक्त सभी समाजों में मध्यकालीन रोमांसों का आरम्भ होता है।[6] परन्तु इसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह लक्षित होता है कि नर-नारी

---

1. आन्द्रे मोराय, **सैवन फेसिज आफ लव**, पृष्ठ 17
2. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 16
3. फ्लोयेड डेल, **लव इन मशीन एज**, पृष्ठ 28
4. आन्द्रे मोराय, **पूर्वोक्त**, ऐस्केप इन लव, मादाम बावेरी, पृष्ठ 158-161
5. विस्तार के लिए दृष्टव्य.... मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन (लेख), **परिशोध** -14, चण्डीगढ़, 1971, पृष्ठ 44-50
6. हर्बर्ट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर**, (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक), पृष्ठ 289

सम्बन्धों के क्षेत्र में अब यह सामन्ती समाज की तरह अनैतिक वृत्ति न होकर विशेष आध्यात्मिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यों से समन्वित गुण के रूप में स्वीकृत होता है । अप्राप्य के दैवीकरण की सहज मानवीय वृत्ति का यहां सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है ।[7] इश्क को खुदा की ज़ात, उसकी विशेष देन के रूप में स्वीकृति प्राप्त होती है । स्त्री के व्यक्तित्व को स्वीकृति ही नहीं, महान स्वीकृति प्राप्त होती है । उसे ईश्वर रूप में, साध्य रूप में स्वीकार किया जाता है । प्रेमी अब विजेता तथा कन्या-हरण करने वाले सामन्त से हट कर सर्वस्व-त्यागी, आत्मबलिदानी साधक बन जाता है । कथा-नायकों व नायिकाओं का समग्र व्यक्तित्व ही क्लासिकी हीरो-हीरोइनों से एकदम बदल जाता है । अवरोध मुख्यतः समाज की ओर से होता है, परन्तु आशिक सदा ईश्वर के दरबार में महान स्वीकार किए जाते हैं ।

इन प्रेमाख्यानों की स्थिति विचित्र है । समाज इनके एकान्तिक प्रणय को व्यभिचार (एडल्टरी) मानता है, और स्थिति आज भी प्रायः वही है, जबकि ईश्वरीय न्याय उनका सहयोगी माना गया है । आशिकों को खुदा के बन्दे, उसके कृपा-पात्र माना गया है । स्वयं साहित्यकार उसी समाज-व्यवस्था का अंग होते हुए भी, जिसमें प्रणय-व्यापार नीच, गर्हित और चरित्रहीनता माना जाता है, अपने नायक-नायिकाओं से केवल सहानुभूति ही नहीं करते, उनके गुणगान और गौरव-वृद्धि में भी प्रवृत्त होते हैं । यही रोमांसों की, प्रेमाख्यानों की, वास्तविकता है तथा यह कहा जा सकता है कि प्रणय-कामना के सहज सामाजिक अभिव्यक्ति न पा सकने के कारण, उपयुक्त समय पर, साहित्यिक-कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ये विरेचन का साधन बनते हैं, अर्थात् सामाजिक एडल्टरी ही वैयक्तिक पक्ष में श्रेष्ठ प्रेम अथवा इश्क का आधार बनती है ।[8]

अभिव्यक्ति पक्ष में भी रोमांस आभिजात्य साहित्यिक विधाओं और तत्वों का पालन नहीं करते । इनकी अपनी ही लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं की नवीन परम्परा बनती है । यही कारण है कि किसी भी अभिजात साहित्य-परम्परा में प्रेमाख्यानों को किसी भी वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जाता । विशुद्ध कथा कहने तथा प्रेमकथा मात्र कहने को क्लासिकी वर्ग कभी सहन नहीं कर सकता ।[9] इसी कारण आभिजात्य नाटकों, प्रबन्ध-काव्यों आदि से नितान्त भिन्न नवीन विधा के रूप में विश्व भर के नव-जागृत लोक की लौकिक साहित्य-विधा के रूप में यह नवीन साहित्य-धारा अभिव्यक्ति प्राप्त करती है ।

पंजाब में रचित हिन्दी प्रेमाख्यानों का इसी ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक सन्दर्भ में संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है ।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

मध्यकालीन पंजाब में हिन्दी का प्रचलन तीन प्रमुख कारणों से हुआ । सर्वप्रथम उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन इसके लिए उत्तरदायी रहा जिसका प्रभाव जम्मू से बंगाल, विदर्भ और हैदराबाद तक पर पड़ा और उससे हिन्दी भाषा का सन्त-भाषा रूप इस सारे भू-भाग में

---

7. हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृष्ठ 31, 32, 37
8. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 16
9. एच० जे० फ्रांसिस तथा जे० टामस, **जातक टेल्स**, पृष्ठ 205

साहित्य-सृजन के लिए स्वीकार्य हुआ । यही कारण है कि लगभग सारा आरम्भिक गुरमत साहित्य सन्त भाषा अथवा हिन्दी में ही रचित हुआ, जबकि लिपि अनिवार्य स्थानीय कारणों से गुरुमुखी ही प्रयुक्त हुई । वैष्णव मत का प्रचार पंजाब में साहित्य रचना के लिए हिन्दी की स्वीकृति का दूसरा मुख्य कारण था । मध्यकालीन वैष्णव भक्ति – राम एवं कृष्ण – की साहित्यिक अभिव्यक्ति का केन्द्र मुख्यतः ब्रज और अवध प्रदेश होने से अवधी तथा ब्रज में रचित वैष्णव भक्ति साहित्य का प्रभाव पंजाब के आस्तिक-जन पर होना स्वाभाविक था । तदनुरूप हिन्दी का प्रचलन और प्रसार इस क्षेत्र में सम्भव हुआ । तीसरा तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण फुल्कियां रियासतों – पटियाला, नाभा, जींद आदि के पंजाबी राजाओं की आस्था, विश्वास, साहित्यिक रुचि तथा विवाह सम्बन्धों आदि के सन्दर्भ में हिन्दी प्रदेश के साथ गहरे सम्बन्धों ने परम्पराओं और व्यक्तित्वों को परस्पर सम्बद्ध करने में खूब मदद की । धर्म के सन्दर्भ में ये सिक्ख राजा सम्पूर्ण हिन्दू परम्परा को अपनी दाय स्वीकार करते थे, अतः समय-समय पर मतवादी, धार्मिक, शृंगारी एवम् आख्यानक – हर प्रकार के साहित्य एवं अन्य वर्गों की कलाओं को मुक्त प्रशंसा व आश्रय प्रदान करते रहे । पंजाब में उपलब्ध सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य का एक बड़ा भाग यदि गुरु-परिवार और सिख धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध है, तो दूसरा उतना ही प्रभूत भाग फुल्कियां राज्यों के आश्रय में रहने वाले भक्ति, शृंगार, नीति तथा काव्यकला से सम्बद्ध कवियों-कलाकारों की देन है । पंजाब में रचित हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य भी मुख्यतः इसी दूसरे वर्ग से ही सम्बद्ध है ।

प्रमुख वर्गीकरण

चन्द्रकान्त बाली पंजाब में लिखित हिन्दी साहित्य के विविध-मुखी वर्गीकरण में आख्यानाधारित रचनाओं को निम्नलिखित रूप में परिगणित करते हैं :–

(क) सूफी काव्य-धारा[10]

1. सलोक .... बाबा फरीद
2. हीर-रांझा .... गुरदास गुणी 1842 संवत्
3. कथा काम रूप .... सभाचन्द्र सौंधी 1798 संवत्
4. सस्सी-पुन्नू .... अज्ञात (?)

(ख) लोक कथा

(अ) ऐतिहासिक लोक-कथा[11]

1. नलदमयन्ती .....रामचन्द 1700 संवत्
2. हीर-रांझा ...... गुरदास गुणी 1642 संवत्

(आ) कल्पित लोक-कथा

1. पख्यान चरित्र ... गुरु गोबिन्द सिंह 1745 संवत्
2. कथा काम रूप .... सभाचन्द्र सौंधी 1798 संवत्

---

10. चन्द्रकान्त बाली, **पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास,** (प्रथम खण्ड), दिल्ली : नेशनल, 1962, पृष्ठ 205
11. वही, पृष्ठ 20?

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त भी कुछ अन्य रचनाओं का विवरण अथवा उल्लेख प्राप्त हुआ है। कालक्रमानुसार रचनाओं और जहां सम्भव हुआ रचनाकारों का परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय

कथा काम रूप : (लेखक : सभाचन्द्र सौन्धी ... रचनाकाल : 1741 ईस्वी)

लेखक के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कुछ छिटपुट संकेत मात्र मिलते हैं। सभाचन्द्र सौंधी जालन्धर निवासी खत्री थे। जवानी में ही इन्होंने गृहत्याग कर दिया था। इनके गुरु का नाम बहलोन संकेतित है। सन्त-महात्माओं के संसर्ग में ये रहते थे, और सूफी मत के प्रति इनके अनुराग, आस्था और जानकारी के लिए यही सन्त-समागम आधार बना।

अठारहवीं शती ई० के मध्य भाग में 'कथा कामरूप' की रचना हुई, अतः लेखक का जन्म 1700 ई० के आसपास तथा मृत्यु 18वीं शती के तीसरे अथवा चौथे चरण में परिकल्पित हो सकती है।[12]

कामरूप की कथा का वृत्त तत्काल में सम्पूर्ण हिन्दी-पंजाबी क्षेत्र में सुपरिचित कहानी के आधार पर ही रचित हुआ है। 'कामरूप का किस्सा' शीर्षक एक हस्तलिखित प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में सुरक्षित है। लेखक, रचनाकाल और लिपिकाल सब अज्ञात है। आर्यभाषा पुस्तकालय में ही सन् 1914 ई० की छपी 'कुंवर काम रूप व कला काम' नामक रचना 821 – सं० 02 संख्यान्तर्गत विद्यमान है। दोनों की कथावस्तु एकदम समान है।[13] जान कवि ने भी (1622 ई०) इसी कथा को आधार बना कर 'कथा–कामलता' शीर्षक प्रेमाख्यान की रचना की थी। इस कथा का सम्पूर्ण विवरण तथा मूल 'हिन्दुस्तानी' संख्या 15, वर्ष 1945 में प्रकाशित हुआ था।[14] सभाचन्द्र सौन्धी की 'कथा काम रूप' का सम्पूर्ण ढांचा भी वही है।

पंजाबी भाषा में भी अहमदयार (1768-1845 ई०) इसी लोकप्रिय कहानी का आधार लेकर अपनी सुप्रसिद्ध किस्सा-रचना 'कामरूप' का प्रणयन कर चुके थे।[15] कथावृत्त, कथानक-रूढ़ियों आदि हर सन्दर्भ में उपर्युक्त सभी रचनाओं का आधार कोई सांझी मौखिक अथवा लिखित परम्परा रही है।

सत्यपाल गुप्त के अनुसार रचना फारसी मसनवी शैली के दोहे तथा चौपाइयों में हुई है।[16] परन्तु दोहे-चौपाई की वर्णनात्मक शैली में कथा कहना अपभ्रंश के चरितकाव्यों की ही परम्परा है जिसे कड़वक-घत्ता की परम्परा कहा जाता है। यही परम्परा बाद में सम्पूर्ण प्रेमाख्यान साहित्य तथा तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी प्रयुक्त हुई है। देवी-देवताओं की स्तुति के

---

12. सत्यपाल गुप्त, **पंजाब का हिन्दी साहित्य**, 1959, पृष्ठ 60
13. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली, 1971, पृष्ठ 113
14. कमल कुलश्रेष्ठ, जान कवि (लेख), **हिन्दुस्तानी**, वर्ष 15, सन् 1945
15. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 183 तथा 224
16. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 60

बाद कवि शाहेवक्त मुहम्मद शाह की प्रशंसा करता है तथा नादिरशाह की दिल्ली लूट का भी संकेत देता है । हिन्दी में इस रचना के मौलिक और प्रथम बार रचित होने का दावा करते हुए कवि कहता है :—

कथा जो जान लोग भरमायो । प्रेम रंग रस कासू न पायो ।
देखी होती फारसी माहीं । भाखा में देखो कहू नाहीं ।।

अवध के राजा गजपति का पुत्र राजकुमार कामरूप अपने पांच मित्रों सहित अपनी प्रेमिका कलाकाम को प्राप्त करने निकलता है । जहाज टूटने से मित्र बिछुड़ जाते हैं और राजकुमार एक द्वीप पर पहुंचता है । मदनपुर की शासिका इन्द्रवली कुमार पर आसक्त होती है । तारावती वहां से उसका अपहरण करती है, पर तारावती की सपत्नी चन्दावती के सत्प्रयास से वह मुक्त होता है । अनेक अवरोधों के बाद एक-एक करके मित्र सिंहल द्वीप पहुंचते हैं । विभिन्न लौकिक-अलौकिक कष्टों और संघर्षों के बाद नायक को प्रेमिका की प्राप्ति होती है । संघर्ष की परिस्थितियां यथार्थ सामाजिक अवरोध तथा पराप्राकृत रहस्य-रोमांच से पूर्ण हैं । कुंवर कामरूप तथा राजकुमारी कामलता और कुंवर के मित्र, मन्त्रीपुत्र मित्रचन्द और कामकला का प्रणय उत्कट भावुक कोटि का है ।

प्रेम और विरह के सम्बन्ध में कवि का कथन है –

विरह न मानों राम दुहाई । प्रेम विरह है अति दुखदायी ।
मैं सो सांची कोऊ न जाने । प्रेम कसू की कही न माने ।।
मैं जो बात बुध की कहू । प्रेम आय सुध-बुध तज रहूं ।
प्रेम कहानी कठिन कहानी । क्या करे कामकला अर रानी ।
प्रेम कला आगे सम कला । जैसे काम आगि जग जला ।
सभा चन्द जैसो अति सयानो । प्रेम कला के हाथ बिकानो ।
और कसू की क्या बखानूं । हों तो अपना आप न जानूं ।।

परम्परा के अनुसार प्रेम तथा विरह की पीड़ा का भरपूर चित्रण हुआ है । भाषा में अवधी तथा खड़ी बोली की झलक प्रकट है ।[17] चन्द्रकान्त बाली के अनुसार पंजाब की सूफी परम्परा में 'कथा कामरूप', जो लेखक की अनन्य रचना है, असंदिग्ध शब्दों में प्रथम पद के योग्य है । कारण, इससे पूर्व अंकित प्रेमाख्यान (हीर-रांझा, नलदमयन्ती एवं पख्यानचरित्र) रहस्यमय, विपक्ष-विहीन होने से 'प्रेमाख्यान' तो ठीक है, पर सूफी-काव्य नहीं है – यह निश्चित बात है । 'कथा कामरूप' के दो-दो अर्थ लगाए जा रहे हैं ।[18]

कथा में निम्नलिखित भारतीय तथा विदेशी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है :—

संतानविहीन राजा का सन्ताप, सन्तान-प्राप्ति के लिए व्रत, यज्ञ आदि, महात्मा के आशीर्वाद से पुत्र-जन्म, स्वप्नदर्शन से प्रणयारम्भ, सिंहल द्वीप, पोत-भंग, मित्रों का बिछुड़ना, दैत्य, शुकरूप में मानव का परिवर्तन, साधु वेश में स्वयंवर में वरण, नारी द्वीप आदि ।[19]

17. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 11
18. चन्द्रकान्त बाली, **पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास** (प्रथम खण्ड), दिल्ली : नेशनल, 1962, पृष्ठ 305
19. **वही०**, पृष्ठ 306

नलदमन : (सूरदास लखनवी : 1657 ई०)

सूरदास लखनवी, जैसा नाम से प्रकट है, लखनऊ के निवासी थे, पर पंजाब के साथ उनका सम्बन्ध इतना गहरा था कि यहां उनका उल्लेख प्रासंगिक होगा । सूरदास के पिता श्री गोवर्धन दास पंजाब के गुरदासपुर जिला के कलानौर नामक स्थान के निवासी थे । बाद में वे लखनऊ चले गए और यहीं सूरदास का जन्म हुआ । कवि को स्वदेश की बहुत याद आती थी । वह कहता है –

सूरदास निज नाऊं बताऊं, गोवरधनदास पिता कर नाऊं ।
कम्बू गोत माछिले तासू, कलानूर पुरखन कर बासू ।।
तात हमारो तहां सो आवा, पूरब दिशा कऊ छिन छावा ।
नगर लखनऊ बड़ा सो थानू, रुचिर ठौर बैकुण्ठ समानू ।।
मेरे जन्म यह ठा भयऊ, कलानूर कबहूं नहिं गयऊ ।
यद्यपि महौं अबहूं परदेसा, पै नित प्रति सुमिरौं सो देसा ।।
जैसे पंथी बसै सराई, मैं हूँ बिदेस रहौं तिन्ह नाई ।
आदि ठौर बिसरत मोहिं नाहीं, सोई सदा रहे मन माहीं[20] ।। 24 ।।

सूरदास लखनवी कृत 'नलदमन' की दो प्रतियां उपलब्ध हैं । जयपुर की प्रति का आरम्भ इस प्रकार हुआ है –

''स्वस्ति श्री सर्वज्ञाय नमः । अथ नलदमन सूरदास-कृतमारभयो ।''

सुमरुं आदि अनाद जु कोई । आदि अंति पुनि सकै कोई ।।

नागरी प्रचारिणी सभा की टायप प्रति किन्हीं बाबुल्ला सुपुत्र मुहम्मद ज़हीर की प्रति पर आधारित है । सम्भवतः इसीलिए इस प्रति का आरम्भ 'बिसमिल्लाह रहमानरहीम' से होता है । इसके बाद निर्गुण ईश्वर की वंदना हुई है ।[21] जयपुर की प्रति 374 वें पद पर समाप्त हो जाती है । सभा की प्रति इसके आगे 383 पद तक चलती है ।

अपनी भाषा पंजाबी में न लिख कर पूरबी भाषा में प्रेमाख्यान लिखने का कारण बताते हुए सूरदास कहते हैं –

उत भाखा महरम सब कोई, पढ़ें जो मतलब समझे सोई ।
तिस कारन यह प्रेम कहानी, पूरब दी भाखा विच आनी ।।
बाग बगीचा सो भला, जो सबही सांझा होइ ।
बानी तस भाखे भली, जिन्ह समझे सब कोई ।। 383 ।।

कवि को अपनी भाषा पंजाबी पर गर्व है और वह उसका नुक्ता-नुक्ता पहचानने का दावा करता है । वह कहता है कि मेरी भाषा में भी बहुत कविता और प्रेम-चर्चा हुई है । सम्भवतः उनका संकेत पंजाबी किस्सा–काव्य की ओर है ।

---

20. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 169

21. **वही०**, पृष्ठ 170

'नलदमन' सुविख्यात परम्परागत नल और दमयन्ती की कथा पर आधारित होने पर भी सूरदास द्वारा नवीन ढंग से कहा गया आख्यान है । रचनाशिल्प की दृष्टि से सूरदास जायसी, मंझन आदि की परम्परा का अनुसरण करते हैं । नलदमन की कथा परम्परागत है पर कवि का कथा कहने का ढंग जायसी, मंझन, उसमान आदि से विशेष रूप में प्रभावित प्रतीत होता है । कथा का आरम्भ निर्गुण ईश्वर की वंदना से होता है । लेखक अपना, अपने गुरु, अपने स्थान तथा समकालीन शासक का वर्णन विस्तार-पूर्वक विशिष्ट परम्परानुसार करता है । कथ्य तथा कथन दोनों दृष्टियों से भावात्मक प्रणय की यह सशक्त रचना है ।[22] श्री सत्यपाल गुप्त कहते हैं कि सूरजदास नामक कवि पंजाब के किसी नगर के निवासी थे । स्थिति शाहजहां के समय में निश्चित की जा सकती है । इनकी प्रसिद्ध रचना नल–दमयन्ती की कहानी है, जिसे सूफी सिद्धान्तों के अनुसार ढाल लिया गया है ।[23] संभवतः गुप्त जी का आशय यहां 'नलदमन' तथा उसके लेखक सूरदास लखनवी से है, क्योंकि नल–दमयन्ती के लेखक किसी अन्य सूरदास सम्बन्धी और कोई सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी है ।

कथा हीर–रांझनी की[24] (गुरदास गुणी–1706 ई०)

हीर और रांझे की कथा पंजाब का सर्वाधिक लोकप्रिय प्रेमाख्यान है । सबसे पहले इसे लिखित साहित्यिक रूप में पंजाबी के प्रथम किस्साकार दामोदर ने अकबर के राज्यकाल में प्रस्तुत किया । उसके बाद पंजाबी आख्यान साहित्य का हर छोटा-बड़ा लेखक इस कथा पर अपनी बुद्धि तथा लेखनी का प्रयोग करता रहा है । अब तक पंजाबी भाषा के 80 से भी अधिक लेखकों द्वारा हीर–रांझा के छोटे–बड़े किस्से रचित होने का अनुमान किया जाता है । हिन्दी में दोहा–चौपाई शैली में गुरदास गुणी द्वारा इस कथा की रचना होने से पूर्व दामोदर के अतिरिक्त अहमद तथा मुकबल के किस्से लोकप्रिय हो चुके थे और तब तक हीर साहित्य अपनी प्रसिद्धि की शीर्षावस्था में था ।[25]

कवि :– कवि के अनुसार यह कथा औरंगजेब के पचासवें वर्ष अर्थात 1706 ई० में लिखी गई ।[26] मौलाबख्श कुश्ता के अनुसार इसका रचनाकाल 1121 हिजरी[27] है । कवि के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है । वे सनखत्री के निवासी थे । अनुमान है कि 'हीर' लिखने की प्रेरणा उन्हें औरंगजेब से मिली ।[28]

रचना : दामोदर ने 1572 ई० में अपनी रचना समाप्त की ।[29] इससे पूर्व अपनी फुटकल रचनाओं में भाई गुरदास (1559–1637 ई०) तथा शाहहुसैन (1538–1599 ई०) हीर–रांझे

22. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 170
23. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 61
24. सत्येन्द्र तनेजा (सं०) **कथा हीर रांझनी की**, पटियाला : पंजाब भाषा विभाग, 1961
25. **वही०**, पृष्ठ 19
26. पातसाह के सन पचासे, इउ आयो हिरदे गुरदासे । **पूर्वोक्त**
27. मौलाबख्श कुश्ता, **पंजाब दे हीरे**, पृष्ठ 93
28. सत्येन्द्र तनेजा, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 19
29. सुरिन्द्र सिंह कोहली, **पंजाबी साहित्त दा इतिहास**, लुधियाना, 1955

का उल्लेख कर चुके थे ।[30] कहा जाता है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गंग भी हीर और काज़ी की वार्ता का रस कवित्तों में वर्णन कर चुके थे ।[31] इस प्रकार किस्सा रूप में इस कथा को सर्वप्रथम बांधने का श्रेय दामोदर को होने पर भी पंजाब का लोक इस कथा से पूर्व-परिचित रहा है । गुरदास गुणी भी इस कथा से अपरिचित नहीं होंगे, पर उनकी रचना का आधार दामोदर का किस्सा ही प्रतीत होता है । कथा दोहा–चौपाई शैली में कही गई है । चौपाइयों का क्रम निश्चित नहीं है । जहां एक घटना समाप्त होती है, वहां कवि एक दोहा कह कर वह प्रसंग समाप्त करता है और दूसरा विषय आरम्भ करता है । भाषा ब्रज है पर उसमें पंजाबी शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है । इसके साथ ही अवधी क्रियाओं का भी स्पर्श मिलता है । गुणी का आदर्श दामोदर की सुखान्त हीर रही है । इसके बाद तो अहमद, मुकबल, हामिद तथा वारिस आदि ने हीर को दुःखान्त रचना बना दिया । प्रणयारम्भ, प्रणय–विकास, मिलन–मार्ग की बाधाओं, संघर्ष की परिस्थितियों और मिलन के यथार्थ आयोजन की दृष्टि से इस कोटि की रचनायें हिन्दी साहित्य में कम ही प्राप्य हैं । अलौकिक तत्वों की विद्यमानता इसमें भी है, फिर भी सम्बन्धों की विशुद्ध भावात्मक भूमि इसे विशिष्ट रचना बना देती है । पद्मावत आदि रचनाओं के समान इसमें सामन्ती नायक का कन्या-प्राप्ति अथवा बहुविवाह का प्रयास लक्षित नहीं होता । विवाह को अनिवार्यता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है । नायिका का विवाह अन्यत्र होता है जबकि प्रणय-व्यापार पूर्व प्रेमी के साथ चलता रहता है । सामाजिक दृष्टि से इसे अनाचार भले ही कहा जाए, भावात्मक प्रणय की दृष्टि से यही यथार्थ स्थिति है । मिलन के अनन्तर भी सम्बन्धों का आधार सामन्ती समाज के समान स्वामी तथा पत्नी या दासी की कोटि का नहीं हो पाता ।[32] कलागत मूल्य की दृष्टि से अवश्य गुणी की यह रचना पद्मावत, मधुमालती, रसरतन आदि के स्तर तक नहीं पहुंच पाती, पर कथा–तत्व तथा प्रणयाकर्षण की दृष्टि से उपर्युक्त रचनाओं की अपेक्षा यह कथा अधिक यथार्थ, प्रभावशाली तथा जीवन्त रचना है ।[33]

माधवी बसन्त (चन्द्रशेखर वाजपेयी – 1798 ई० जन्म)

चन्द्रकान्त बाली के अनुसार चन्द्रशेखर वाजपेयी हंसराज गुरुबी के पौत्र थे, जो महाराजा कर्मसिंह के समय में पटियाला के दरबार में पधारे और महाराजा महेन्द्र सिंह के समय तक सम्मानित रहे ।[34] श्री सत्यपाल गुप्त का कथन है कि कवि का जन्म 1855 वि० में मोजमाबाद में हुआ तथा इन्होंने अपनी आयु का आधा भाग पटियाला में ही व्यतीत किया । इनके पूर्वज भी कवि थे । यह अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे । सर्वप्रथम सात वर्षों तक यह दरभंगा नरेश के आश्रय में रहे । वहां से यह जोधपुर और फिर छः वर्षों तक महराजा रणजीत सिंह के पास रहे । तदनन्तर पटियाला नरेश महाराजा कर्म सिंह के आश्रय में आए । ये पटियाला के राजकवि रूप में सम्मानित हुए, तथा महाराजा कर्मसिंह की मृत्यु के बाद महाराजा नरेन्द्र सिंह द्वारा भी

30. सुरिन्द्र सिंह कोहली, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 232
31. पियारा सिंह पद्म (स०) **कलीआं वाली हीर**, लुधियाना , 1951, पृष्ठ 20–24
32. सत्येन्द्र तनेजा, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 20–21
33. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 171–172
34. चन्द्रकान्त बाली, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 195

राजकवि रूप में मान्य रहे । इनके काल में इन्होंने सात ग्रंथों की रचना की । बाद में महाराजा महेन्द्र सिंह के काल में इन्होंने चार अन्य ग्रन्थ रचे ।[35]

यह कवि ज्योतिष, राजनीति, अलंकार, पुराण आदि विषयों का बहुत अच्छा जानकार था । 'हरिभक्ति–विलास' और 'वृन्दावन शतक' नामक इसकी दो पुस्तकें कृष्ण–भक्ति सम्बन्धी हैं । 'नख–शिख' और 'रसिक विनोद' 'रस' विषय से संबंधित हैं । 'विवेक–विलास' ज्ञानवर्धक ग्रन्थ है । 'गुरुभक्तिपंचाशिका' में सिख गुरु–महिमा का आख्यान हुआ है । 'देवी भागवत' दो भागों में रचित है एवं पौराणिक साहित्य पर आधारित है । 'ज्योतिष ताजिक' इनकी ज्योतिष सम्बन्धी रचना है, जबकि 'हम्मीरहठ' इनका वीरकाव्य है । वाजपेयी जी ने 'माधवी बसन्त' नामक एक-मात्र प्रेमाख्यान की रचना की है ।

माधवी बसन्त

परिकथा कोटि का मनोरंजक प्रेमाख्यान है । बसन्त इसका नायक है तथा माधवी नायिका । माधवी कामसुन्दरी नामक वेश्या की पुत्री है । बसन्त एक सुन्दर ब्राह्मण कुमार है । बसन्त काव्यकला, कामकला का मर्मज्ञ है । वह माधवी के नगर में आकर एक शिवालय में रहने लगता है । दासी मंजरी उसे वहां देखती है और माधवी से उसका रूप–गुण वर्णन करती है । माधवी स्वयं आती है और बसन्त पर आसक्त हो जाती है । पहले मिलन और फिंर विविध कारणों से वियोग होता है । अन्त में माधवी और बसन्त का विवाह हो जाता है ।

सत्यपाल गुप्त के अनुसार भारत भर में इस रचना की चार–पांच हस्तलिखित प्रतियां ज्ञात हैं । परन्तु पटियाला में श्री ओमप्रकाश आनन्द के पास सुरक्षित प्रति स्वयं कवि वाजपेयी के हाथों शुद्ध की गई है और सर्वाधिक प्रामाणिक रचना है ।[36]

माधवी बसन्त के कुछ काव्यांश इस प्रकार हैं :–

रही कमान भौंह कुटिलाई । तीछन ईछन देत दिखाई ।।
सबके सब गेह अधिकारी । सुख सों बसैं नगर नर–नारी ।।
गनिका एक बसै तहं ऐसी । सुर नर नाग नारि नहीं जैसी ।।
काम सुन्दरी ता को नाम । अति प्रवीन गुन जोवन धाम ।।
ताकी सुता माधवी नाम । प्रगटी रूप राशि गुन धाम ।।
नव नागरि गुन रूप उंजागरि । सकल कला कोविद रस सागरि ।।
ताको करै सकल जग सोभा । ताहि निहारि न को मन छोभा ।।

सत्यपाल गुप्त के अनुसार संवत् 1932 विक्रमी में (तदनुसार 1875 ई० में) कवि वाजपेयी की मृत्यु हुई ।[37]

---

35. सत्यपाल गुप्त, पूर्वोक्त, पृष्ठ 93
36. वही, पृष्ठ 94
37. सत्यपाल गुप्त, पूर्वोक्त, पृष्ठ 98

किस्सा रूप बसन्त, कथा नलदमयन्ती (बसन्त सिंह ऋतुराज, जन्म सन् 1823 ई०)

पटियाला रियासत के खेड़ी नामक ग्राम में बसन्त सिंह का जन्म सन् 1823 ई० में हुआ। इनके पिता का नाम गुलजार सिंह था। बाबा रामदास से इन्होंने विद्याध्ययन किया। उर्दू–फारसी के भी यह अच्छे जानकार थे। 1845 ई० में पटियाला–नरेश महाराजा नरेन्द्र सिंह द्वारा राज्य दरबार में इन्हें सम्मानित किया गया।[38]

इनकी रचनायें इस प्रकार हैं :–

बसन्त बहार, बसन्त विनोद (शेख सादी के फारसी ग्रन्थ गुलिस्तां–बोस्तां का छन्दोबद्ध अनुवाद), श्रीकृष्ण लीला, भीष्म पर्व (महाभारत), गुरुवंश तरु दर्पण, सिखावन राजनीति, बसन्त सतसई, कथा नलदमयन्ती, कथा जगदेव पंवार, तथा किस्सा रूप बसन्त। चाणक्य चन्द्रिका मुद्राराक्षस पर आधारित रचना है।[39]

किस्सा रूप बसन्त परम्परित कथा है, जिसे हिन्दी तथा पंजाबी दोनों भाषाओं में पंजाब के कई लेखकों ने अपनी रचनाओं का आधार बनाया। नलदमयन्ती की पुराण कथा को अपने प्रेमाख्यानों का आधार बनाने वाले लेखकों की संख्या तो दर्जनों में है। सूरदास लखनवी की रचना पर पीछे विचार हो ही चुका है।

ऋतुराज में कविजनोचित सदाशयता अधिक मात्रा में है। उसकी काव्यशैली बहुत मीठी तथा शैली अत्यन्त सरल–सुष्ठु है। बड़ी ऊंची उड़ान के फन्दे में न फंस कर सरल परन्तु प्रभावशाली अभिव्यक्ति के धनी ऋतुराज कवि मुख्यतः प्रकृति के अनन्य भक्त हैं। इनकी भाषा ब्रज और लिपि गुरुमुखी है।[40]

किस्सा हीर रांझा (वीरसिंह बल) : अनुश्रुति के अनुसार वीरसिंह बल मथुरा के ब्रह्मभाट ग्वाल कवि के अनन्य सखा थे। ग्वाल कवि लाहौर दरबार से हट कर नाभा दरबार में आए, तो वीरसिंह इनके सम्पर्क में आए। शमशेर सिंह 'अशोक' के अनुसार इनका जन्म अनुमानतः 1884 वि०, तदनुसार 1827 ई० में हुआ।[41] परन्तु जन्मतिथि के सम्बन्ध में यह मत कुछ भ्रामक प्रतीत होता है, क्योंकि अन्यत्र इनकी विभिन्न रचनाओं के रचनाकाल के साथ उसका तालमेल नहीं बैठता। उनकी निम्नलिखित रचनायें स्वीकार्य हैं :–

1. गुरु कीरत प्रकाश	:	1881 वि०
2. गुरु विलास	:	1884 वि०
3. वैराग्य शतक	:	1899 वि०
4. सुधासिन्धु रामायण	:	1909 वि०
5. किस्सा हीर रांझा	:	1910 वि०

---

38. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त.** पृष्ठ 100
39. चन्द्रकान्त बाली, **पूर्वोक्त,** पृष्ठ 346
40. **वही,** पृष्ठ 396
41. **वही,** पृष्ठ 387

1884 विक्रमी में जन्मे कवि से 1881 के आसपास काव्य–रचना की अपेक्षा नहीं की जा सकती । परन्तु यह महाराजा पटियाला नरेन्द्र सिंह के राज्यकाल में पटियाला में विद्यमान थे, विद्वानों का यह निश्चित मत है ।[42]

किस्सा हीर रांझा परम्परित कथा को प्रेमाख्यानों की सामान्य परम्परा के अनुसार प्रस्तावित करने का एक सहज प्रयास है ।

गुल सनोबर की कथा : (अनाथ कवि)

अनाथ कवि के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है । इनके जन्म–स्थान, जन्मतिथि तथा रचना–स्थान के सम्बन्ध में कुछ विश्वसनीय मालूम नहीं हो सका । इनकी दो रचनाओं का भी उल्लेख मात्र मिलता है, जो इस प्रकार हैं[43] –

1. गंगा पंचीसी : 1910 विक्रमी
2. गुल सनोबर की कथा : 1916 विक्रमी

गुल सनोबर की कथा फारसी स्रोत की कहानी का हिन्दी रूपान्तर प्रतीत होता है । यह परिकथा कोटि की सरल रचना रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है ।

कहानी रूप बसन्त की (नाहर सिंह पेशकार)

इस कवि के सम्बन्ध में केवल एक रचना की सूचना मात्र प्राप्त है । कहानी का नाम 'रूप बसन्त' है । 'रूप–बसन्त' पंजाबी की बहुत लोक–प्रिय प्रेमकथा रही है । नर–नारी सम्बन्धों के सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण रचना न होने पर भी कथा–तत्व की दृष्टि से यह पंजाबी की बहुत लोकप्रिय कथा रही है । शिवदयाल और दौलतराम के 'रूप बसन्त' की कथा पर आधारित पंजाबी किस्से पर्याप्त प्रसिद्ध रहे हैं ।[44] अनेक कबीसरों ने भी इस कथा को अपने छोटे और सस्ते किस्सों की विषय–सामग्री के रूप में ग्रहण किया ।

विफल–काम विमाता के कोप तथा षड्यन्त्र के कारण संगलदीप के राजकुमार रूप तथा बसन्त राज से निष्कासित होते हैं । वन में विधि के विधान से दोनों भाई भी विलग हो जाते हैं । रूप एक विशेष संयोगाधारित आयोजन के कारण मिस्र का राजा बनता है । बसन्त एक जहाज़ी बनिए के साथ रहता है तथा कामरूप की राजकुमारी से प्रणयबद्ध होकर विवाह करता है । राजकुमारी पर आसक्त बनिये द्वारा बसन्त समुद्र में धकेला जाता है । अन्त में मिस्र के एक माली–मालिन के जोड़े के सहयोग से पति–पत्नी और दोनों भाइयों का पुनर्मिलन होता है ।[45] बसन्त और कामरूप की राजकुमारी का सम्बन्ध प्रणयाश्रित स्वतन्त्र–चयन की अपेक्षा परम्परागत अनुबन्ध प्रतीत होता है । राजकुमारी का पिता इसी अवस्था में विवाह के लिए उद्यत होता है जब बसन्त के क्षत्रिय होने का उसे विश्वास हो जाता है । बसन्त मालिन को जहाज़ पर यह जानने के लिए भेजता है कि राजकुमारी अपने सत की रक्षा कर सकी है या

42. चन्द्रकान्त बाली, उपर्युक्त, पृष्ठ 388
43. सत्यपाल गुप्त, पूर्वोक्त, पृष्ठ 158
44. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त, पृष्ठ 217,218,222,224,225
45. शिवदयाल सूद होश्यारपुरी, किस्सा रूप बसन्त, (फारसी अक्षरों में), लाहौर

नहीं । इस प्रकार के आयोजन द्वारा कवि अपने नायक के माध्यम से समकालीन पुरुष–श्रेष्ठता का आग्रह प्रकट करता है ।[46] लोक–तत्वों की दृष्टि से यह अवश्य शक्तिशाली रचना है ।

सुमन विलास : (बंसी कवि – रचनाकाल : सन् 1865 ईस्वी)

हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास ग्रन्थ में इस कवि का नामोल्लेख नहीं हुआ है । इसकी एक रचना प्राप्त है जिसका नाम सुमन विलास है । यह रचना फारसी में रचित प्रेमकथा 'गुलबकावली' का रूपान्तर अथवा अनुकरण कही जा सकती है, जैसा कि रचना के इस उल्लेख से प्रकट है –

चितरंजन कृत पारसी, पूरन प्रेम प्रकास ।
भाषा कर शुभ नाम तिहिं, राख्यो सुमन विलास ।।
श्री भगवान मृगेश हित, नाम कमल पुरि माहि ।
रच्यो ग्रन्थ वंसी कवि, देख पारसि–बाहि ।।[47]

इस उल्लेख से यह भी प्रकट है कि कवि नाभा के महाराजा भगवान सिंह के आश्रय में रहता था और उन्हीं के लिए 'श्री भगवान मृगेश (सिंह) हित, नाम कमल पुरिमाहिं' उन्होंने यह रचना की । रचनाकाल के सम्बन्ध में कवि का आत्मकथन है :–

सम्वत अहि–रसना सुहग, खण्ड–मही सुविचार ।
भादों बदि दशमी बिखे, भयो ग्रन्थ अवतार ।।

कवि-वर्ष-गणना-पद्धति के अनुसार यह भादों बदी दशमी सम्वत 1922 विक्रमी बनता है ।[48] रचना के कुछ काव्यांश दृष्टव्य हैं –

भावत भौन भयंकर, भूषण दाहत है दिल दागत है ।
हार अंगार भये उर में, तरवार बयार सुलागत है ।।
वैरन सी सखियां अखियां, विष वानि विनोद न भावत है ।
सूझत आन नहीं तब ते, जब ते तुव नेह सुहावत है ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में विरह–भाव का अच्छा व्यंजक वर्णन हुआ है । सौन्दर्य–वर्णन की हर्षद स्थितियों का एक और काव्य–चित्र प्रस्तुत है –

प्रान प्यारो प्रीतम रची है वपु रति चारु ।
प्यारी के लजीहै नैन मन को हरत बात ।।
मंद मंद मेखला बजत निज कानन में ।
हंस के छोना चित गंठ सी परत जात ।।

भाषा प्रभावी और गम्भीर है । संस्कृत–फारसी का भी कवि ज्ञाता प्रतीत होता है । ब्रज की छाप सर्वत्र व्याप्त है । अलंकारों का भरपूर प्रयोग हुआ है । सत्यपाल गुप्त 1870–1880 के आस–पास कवि की मृत्यु का अनुमान करते हैं ।[49]

46. दौलतराम, **रूप बसन्त**, नई दिल्ली, 1961
47. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 61-62
48. **वही०**, पृष्ठ 62
49. सत्यपाल गुप्त, **पूर्वोक्त** , पृष्ठ 62

उपसंहार

प्रेरक तत्व

मध्यकालीन प्रेमाख्यानों तथा किस्सों को सूफीमत के प्रचारार्थ रचित फारसी मसनवी परम्परा का भारतीय संस्करण मानने की अशुद्ध धारणा देर तक प्रचलित रही है। इस दृष्टि से सूफीमत को प्रेरक कारणों में से एक मानने पर भी इन प्रेमाख्यानों को भारतीय आख्यान–मूलक साहित्य की युग–युगों से प्रवाहमान धारा का विशिष्टकालीन स्वरूप कहा जाना ही समीचीन प्रतीत होता है। ये मध्यकालीन जनजागरण की सामान्य साहित्यिक, सामाजिक आवश्यकता की ही पूर्ति के साधन रहे हैं। अपने आरम्भ, अन्त, आख्यान तत्व, कथानक–रूढ़ियों, उद्देश्यपरक आग्रह, स्त्री-प्राप्ति की रूढ़ि, विषय वर्णन और शैली तत्वों में छन्द–चयन, उपमान योजना आदि हर दृष्टि से ये रचनायें संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से होकर आती आख्यान–परम्परा का ही विशिष्टकालीन रूप हैं। इनमें अरबी–फारसी मूल की कुछ रचनाओं को छोड़ कर शेष सब रचनाओं के तात्विक विवेचन के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि नाथ–पंथ के हठयोग तथा सुरत–शब्द साधना तथा योग परम्परा के बाह्य उपादानों का इन रचनाओं पर अधिक प्रभाव रहा है। वास्तव में ये जाग्रत लोक की साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं, और इसी सन्दर्भ में इनका अध्ययन मूल्यांकन अपेक्षित है।[50]

आख्यान–तत्व

कथा–विकास, कथानक–रूढ़ियों तथा आख्यान सम्बन्धी अन्य मुख्य तत्वों के विवेचन के आधार पर हम सुगमता से यह निर्णय ले सकते हैं कि अपने देश–काल के प्रभावों को सम्यक समाहित करते हुए भी पंजाब में रचित हिन्दी प्रेमाख्यान भारतीय आख्यानों की सुदीर्घ परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। समकालीन परम्पराओं, विभिन्न मत–सम्प्रदायों तथा निकटवर्ती पड़ोसी देशों की साहित्यिक–सामाजिक परम्पराओं से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी इन कथाओं की आत्मा गहरी भारतीय आख्यान–परम्परा से सम्बद्ध रही है।[51] सीमान्त प्रदेश होने से पंजाब के कुछ आख्यानों पर विदेशी प्रभाव कुछ अधिक स्पष्ट है।

प्रणय तत्व

मध्यकालीन हिन्दी (तथा अन्य भाषाओं के भी) प्रेमाख्यानों में प्रणय–तत्व का विकास लोक की विशिष्ट प्रतिक्रिया से सम्बद्ध है। अभिजात सामन्ती विवाह–परम्परा तथा परिवार व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन ला पाने में अक्षम मध्यकालीन जाग्रत लोक उसके प्रति असन्तोष को मुक्त प्रणय की कथाओं के माध्यम से विरेचित करता है। इस प्रयास में उसे आंशिक सफलता प्राप्त होती है। प्रणय के आरम्भ की परिस्थितियां प्रकृत तथा अलौकिक तत्वों के सहयोग से उत्कट तथा भावुक कोटि की रचने का प्रयास होता है, पर अन्त में अधिसंख्यक

50. विस्तृत तात्विक विवेचन के लिए दृष्टव्य : मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**

51. विस्तृत तात्विक विवेचन के लिए दृष्टव्य :
मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 226–293

रचनाओं में बंधी–बंधाई विवाह परम्परा में इनका पर्यवसान होता है । नर-नारी के परस्पर आकर्षण को काम्य भाव माना गया है, तथा इसे ईश्वर की विशिष्ट देन माना गया है, पर साथ ही सामन्ती समाज–संरचना के प्रभाववश स्त्री–हीनता, स्त्री–निन्दा आदि के तत्वों से लेखक स्वयं को मुक्त नहीं कर पाए हैं । परिकथा की कोटि की रचनाओं का प्रणयारम्भ, प्रणय–विकास, संघर्ष तथा अन्त रूढ़िबद्ध तथा प्रायः अप्राकृत एवं असंभावित है । लोकतत्वों तथा रोमांसिक कल्पनाओं की उड़ान इनमें अधिक है । ग्राम–कथाओं पर आधारित प्रणयमूलक प्रेमाख्यानों में प्रणयारम्भ, संघर्ष तथा अन्त प्रकृत, भावुकतापूर्ण तथा छूने वाला है । पंजाब तथा हिन्दी प्रदेशों में रचित प्रेमाख्यानों में परिस्थितिगत तथा परिवेशगत भेद के कारण आभिजात्य और लोक के आग्रह का कुछ भेद होने पर भी मूल आत्मा में विशेष अन्तर नहीं है । आख्यान तत्वों की दृष्टि से ये सब भारतीय प्रेमाख्यान की सतत् प्रवाहमान परम्परा की महत्वपूर्ण समीपस्थ कड़ियां हैं । ग्राम प्रणय-कथाओं में प्रणय का आग्रह अधिक भावुक, उत्कट और यथार्थ है । प्रणय पक्ष में परिकथा कोटि की अधिसंख्यक रचनाओं में रहस्य-रोमांच के काल्पनिक तत्वों की भरमार है । [52]

---

52. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, पूर्वोक्त, पृष्ठ 294–322

अध्याय 18

पंजाबी किस्सा-काव्य : मध्यकालीन संवेदना का संदर्भ

1. विषय–उपस्थापन

दुनिया के इतिहास में मध्यकाल का प्रसार ईसा की सातवीं–आठवीं शती से सत्रहवीं शती के अन्त तक माना जाता है । भारत के संदर्भ में इसे उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लिया जा सकता है ।[1] क्लासिकी मज़हबों – हिन्दू, ईसाई और इस्लाम की छिन्नभिन्नता मध्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है । यही कारण है कि पिछली पीढ़ी के सभी पूर्वी और पश्चिमी विद्वान मध्यकाल को पतनकाल, अंधकारकाल, गिरावट और हीनता का काल भी कहते रहे हैं । परन्तु इस नामकरण के पीछे सामन्ती–आभिजात्य (फ्यूडल–क्लासिकल) दृष्टि का रंगीन चश्मा ही मुख्य कारण रहा है ।[2] इसे सामन्ती क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है ।[3] मध्यकाल यूरोप, अरब, ईरान और भारत की सामन्ती सभ्यताओं के लिए और क्लासिकी मज़हबों के लिए काफी परिवर्तन, अवमूल्यन (डिवैलुएशन) और विघटन का काल रहा है । धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता की जड़ और रूढ़ मान्यताओं के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं । सामाजिक ढाँचे और वर्गभेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं । इसी परिवर्तन के क्रम में पश्चिमी यूरोप के ड्रुइड पुरोहित तथा ट्राबोडोर गायक, फ्रांस के प्रावेंसलस और फारसी तथा भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित काथारिस्ट सारे यूरोप को एक नया प्रेमवादी, रहस्यवादी, भावुक, क्लासिक–विरोधी और लोकाभिमुख जीवन–दर्शन देते हैं ।[4] अरब और ईरान में भी, इस्लाम की कट्टरता के खिलाफ सूफी विचार–दर्शन और जीवन–प्रक्रिया का विकास होता है।[5]

भारत में भी मध्यकालीन लोकजागरण के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है । वैदिक धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता और शोषण से निराश लोक इससे पहले भी विमुख होकर बौद्ध, जैन, सिद्ध, तांत्रिक और गोरखनाथ के नाथ-पंथ आदि मतों की ओर उन्मुख हो चुका था ।[6] इस्लाम का

---

1. **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग-1, वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 2020, पृ० 609-611
2. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, ''मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन'' (लेख) **परिशोध-7**, चण्डीगढ़, पंजाब विश्वविद्यालय, जनवरी, 1971, पृ० 44-50
3. हर्बर्ट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आफ इंग्लिश लिट्रेचर** (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक), पृ० 289
4. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन्स, 1972, पृ० 29
5. **वही०**, पृ० 30-31
6. एस०के०डे० **एन्शेंट इण्डियन इरोटिक्स एण्ड इरोटिक लिट्रेचर**, कलकत्ता, 1959, पृ० 35

अनुयायी लोक (फोक) तथा जनसामान्य भी मुसलमान शासकों और सामन्तों से उतना ही शोषित और दमित अनुभव कर रहा था । दोनों सम्प्रदायों का यह बहुसंख्यक और निम्नवर्गीय लोक परस्पर एकात्मकता अनुभव कर रहा था । क्लासिकी कर्मकाण्डी मान्यताओं से लोक का विश्वास उठता है, और लोक की इसी क्रान्ति में कबीर, गुरुनानक देव, सन्त रविदास जैसे महान् सन्तों और जायसी, कुतुबन, फरीद, बुल्लेशाह और मंझन आदि सूफी साधकों के माध्यम से लोक अपने नये व्यक्तित्व को पहचानता है ।[7] आभिजात्य धर्म, जीवन–परम्परा, नैतिक मान्यता, ईश्वर संबंधी विश्वास आदि के प्रति ये अपने–अपने ढंग से अनास्था प्रकट कर लोक को नयी आस्था, नया व्यक्तित्व और समाज में नया स्थान और मूल्य प्रदान करते हैं । अभिजात वर्ग की मानसिक दासता से मुक्त लोक अब अभिजात वर्ग की धार्मिक और साहित्यिक विधाओं के प्रति भी अपनी अनास्था प्रकट करता है । नया जाग्रत लोक जहां धर्म के स्तर पर परम्परित कर्मकाण्ड से मुक्त, आत्म–खोज की नई पद्धति को स्वीकार करता है, वहां साहित्यिक स्तर पर भी अपने सहज भावावेश तथा अनुभूति को अपने सहज ग्राम्य गीतों, गाथाओं, कथनों, उक्तियों आदि की अपनी सहज ग्राम्य, संस्कृत–विहीन लोकभाषाओं में अभिव्यक्ति देने के लिए मानसिक दृष्टि से मुक्त हो जाता है ।[8] मध्यकालीन जनजागरण के संदर्भ में पंजाबी किस्सा काव्य पर विचार इस शोध–पत्र का संदर्भ–बिन्दु है ।

2. सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

मध्यकाल में एक जैन कवि बनारसी दास हुए हैं । इकबालिया स्वर में उन्होंने कहा है कि ''वह बड़े–बूढ़ों से छिप–छिपाकर मृगावती और मधुमालती आदि प्रेमाख्यान पढ़ा करते थे ।''[9] बनारसी ने कह दिया – बहुत से लोग यही करते होंगे, पर कहने का साहस नहीं जुटा पाए होंगे । पंजाब के सब किस्सा–लेखक इश्क को खुदा की ज़ात कहते हैं । इश्क को ईश्वर की महान देन कहा गया है । इश्क करने वाले दैवी व्यक्ति माने गए हैं, पर साथ ही इश्क को बहुत विकट, कठिन और असाध्य साधना भी कहा गया है । 'मिर्ज़ा साहिबां' के लेखक का कहना है – ''इश्क न होए हाफिज़ा बाझों मौत मरे ।'' मिर्ज़ा–साहिबां के ही एक अन्य लेखक भगवान सिंह कहते हैं – ''इश्क न देंदा लज्ज़तां बाझों मौत मरे ।'' कबीर का भी यही मत है कि प्रेम में डूबने से ही पार उतरा जा सकता है । ''हीर'' सारे उत्तर–पश्चिमी भारत के हृदय का अमूल्य रत्न है । हीर के प्रेम की एकाग्रता सबके लिए काम्य है, प्रिय है, पर पहला पंजाबी किस्साकार भाव–विभोर स्वर में यह क्यों कहता है – ''आख दमोदर अक्खां डिट्ठी, जे सिर सलेटी दे आई ।'' हाशम सस्सी और पुन्नू के प्रेम को ''कामल इश्क'' कहते हैं । उनके अनुसार प्रकृति तक प्रेमियों के प्रति हमदर्दी से भरी होती है । पुन्नू के सस्सी को छोड़कर जाने वाले दिन को वह नरक से भी भयंकर और दाहक बताते हैं :–

---

7 मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस : पूर्वोक्त**, पृ० 30-31

8. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, ''मध्यकालीन रोमांस : लोक का मुखर विरेचन'' (लेख) **परिशोध–14**, चण्डीगढ़, पंजाब यूनिवर्सिटी, जनवरी 1971, पृ० 45-46

9. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, 1961, पृ. 109

जिस दिन होत सस्सी छड टुरिया, आख दिखा दिन केहा ।
दोज़ख इक पल कदे न होसी, तपिआ तिस दिन जेहा ।।

आशिकों की लोक और परलोक में हरमन प्यारा होने के विषय मे हाशम अपने एक अन्य किस्सा शीरीं–फरहाद में कहते हैं :–

अवल आखर ज़ाहर बातन, खेड इश्क दी ताज़ी ।
भावें इश्क हकीकी होवे, भावें इश्क मजाज़ी ।।
बादशाहां दी मजलस अन्दर, बिच्च अमीर फकीरां ।
हर थां ज़िकर उन्हां दा सुणिये, लिखिआ साफ ज़मीरां ।। 86 ।।

दूसरी ओर ''सोहणी–महीवाल'' के अन्य किस्साकार सदाराम के अनुसार महीवाल को हौसला देती हुई सोहणी की उक्ति समाज के प्रति उसके हृदय की कटुता और कष्टों की उग्रता की ओर संकेत करती है । वह पिता को कसाई और मां को डायन कहती है । कवि इश्क को सर्प से हाथ लड़ाने के बराबर मानता है :–

यारी दा लगौणा ही लड़ौणा हत्थ नाग ताईं ।
मापेआं दा डर दूआ लोकी पए कहन वे ।।
कहे सदाराम दुखी होई कोई रोज़ कट ।
बाप है कसाई, माई जाण दूजी डैण वे ।।

प्रश्न बहुत विचित्र है कि सामान्य सामाजिक जीवन में जो पूरी तरह निषिद्ध, गर्हित, हीन, असामाजिक और अनैतिक माना जाता है, वही साहित्य में सर्वोत्कृष्ट क्यों है ?[10] एक प्रश्न और भी है कि विश्व भर में केवल मध्यकाल में ही इस सामाजिक व्यभिचार या ''एडल्टरी''[11] को मान्य, काम्य और ग्राह्य के रूप में समान तथा समानान्तर साहित्यिक अभिव्यक्ति और सामाजिक मान्यता क्यों प्राप्त हो सकी ? मानव समाज के विकास, मानसिक विधि–निषेध और विरेचन की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार उपयोगी होगा ।

भोजन–तलाशना, भय और सैक्स प्राणीमात्र की मुख्य और महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां हैं । मानव समाज ने भोजन–प्राप्ति के संदर्भ में अपनी जंगली अवस्था से लेकर आज के संश्लिष्ट भोजन–तैयारी, वितरण और वाणिज्य के साधनों का विकास–प्रसार कर लिया है । इसी प्रकार भय–निवृत्ति की प्रवृत्ति भी जंगली कबीले, छोटे राज्य, सामन्तशाही से लेकर राष्ट्रों के विकास और डण्डे–पत्थर के हथियारों से लेकर आज के अणु–परमाणुओं की रचना तक में प्रेरक रही है । समाज–रचना के कुल, परिवार, गोत्र, राष्ट्रीयता व अन्य संबंध भी इसी भय और आत्मरक्षा के द्वारा प्रेरित हैं । मानसिक-आध्यात्मिक स्तर पर जादू–टोना, ओझा–पुरोहित, मृत–श्राद्ध, ग्रहपूजा से लेकर देवी–देवता, अवतार–पैगम्बर और यहां तक कि परब्रह्म ईश्वर की परिकल्पना व सब धर्मसम्प्रदायों का विकास भी भय से मुक्ति के ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयास हैं । भोजन एवं भय संबंधी इन प्रयासों को मानव अपना विकास मानता आया है और

10. आन्द्रे मोराय, ''सैवन फेसेज आव लव'', जैको, 1960, पृ० 17
11. डेनिस, डी० रोगिमोंट, ''पैशन एण्ड सोसायटी'', लंदन, 1956, पृ० 16

इनका खूब प्रचार भी होता है । लेकिन इन्हीं से जुड़ी और किसी हद तक ज्यादा महत्वपूर्ण यौन–प्रवृत्ति या सैक्स की न केवल उपेक्षा हुई है, बल्कि इसे नियंत्रित, दमित, कुण्ठित करने और सदा दबाने–ढकने या कई तरह के वायवी–आध्यात्मिक या उपयोगितावादी सामाजिक नियमोपनियमों की जकड़न में बांधने के प्रयास होते रहे हैं । काम या सैक्स सहज जैवी आवश्यकता है । इससे नए सृजन और सन्तान की प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति होती है । पर मानवता के पूरे विकास में सैक्स को विशेष सामाजिक, नैतिक और धार्मिक नियमोपनियमों द्वारा नियंत्रित रूप में ही किसी तरह सहन भर किया जाता रहा है ।[12] यहीं हम रोमांस भावना के मध्यकाल में विकास का सूत्र (फार्मूला) प्राप्त करते हैं जो इस तरह है – ''जिसकी अनिवार्यता के सामने शारीरिक–मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से इनसान विवश हो, पर जिसकी प्राप्ति असंभव, दुष्कर या नियंत्रित हो वह आकर्षण, भूख और स्वप्न–कामना तो जाग्रत करता ही है । वृत्ति के रूप में इसे ''रोमांस'' का नाम दिया जा सकता है ।''[13]

सैक्स या यौन के नियंत्रण और रोमांस की वृत्ति के विकास के लिए मानव समाज की आर्थिक–सामाजिक–नैतिक विकास–यात्रा का संक्षिप्त सर्वेक्षण उपयोगी होगा ।

होमो–सेपियन अथवा होमो–इरेक्टस जाति के एक प्राणी के रूप में मानव अन्य पशु–वर्ग से क्रमशः अलग हो जाता है । प्रवृत्तिजन्य अनुभव व ज्ञान के साथ अर्जित-ज्ञान की उपलब्धि, उसका नियमन और वंशानुक्रम में उसका वितरण इस प्राणी की विशेषता थी । अस्तित्व रक्षा के लिए वह समूहों में, कबीलों में रहता है । धीरे–धीरे प्रकृति के सहज–सुलभ साधनों पर नए मानव–पशु का अधिकार वृत्त बढ़ता जाता है ।[14] विकास के अनेक चरणों में पशु–शिकार, पशुपालन और फिर कृषि का विकास होता है । सम्पत्ति के विकास के साथ उत्तराधिकार का प्रश्न जुड़ा है । इसी आकांक्षा और दबाव में कबीले की सांझी सम्पत्ति के साथ–साथ कुछ–कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति का भी विकास होता है और इसे मान्यता मिलती है । पशुवत नर–नारी के सैक्स संबंधों के इस मुक्त काल में पिता की पहचान असंभव होने के कारण सम्पत्ति का उत्तराधिकार मां, मां के बहन–भाइयों तथा फिर मासियों या बहनों की नारी–सन्तानों को प्राप्त होता है ।[15] सहज पशु अवस्था में अपने भोजन तलाशने, सन्तान पालने और भय से बचने में तो पशुओं की तरह नर और नारी में कोई भेद नहीं होता पर प्रकृति के साधनों पर अधिकार के कठिन–कठोर, होड़ से पूर्ण संघर्ष में मातृत्व और शिशु–पालन का भार वहन करने वाली नारी की अपेक्षा नर अधिक सफल होता है । सम्पत्ति का स्वामित्व और अर्जन लगभग पूरी तरह उसी के हाथ में आ जाता है । पर देर बाद उस सम्पत्ति का बहन–भाइयों या बहनों और मासियों की सन्तानों को उत्तराधिकार में प्राप्त होना उसे अवश्य अखरा होगा । इसी मानसिक–आर्थिक दबाव में अपनी सन्तान की निश्चयात्मकता के लिए समाज या कबीले द्वारा

---

12. फ्लोयड डैल, **लव इन मशीन एज**, लंदन, 1930, पृ० 28
13. आन्द्रे मोराय, **सैवन फेसेज आव लव**, ''एस्केप इन लव – मादाम बावेरी'', जैको, 1960, पृ० 158-161
14. हावर्ड बेकर तथा हैरी एल्मर बार्नीज, **सोशल थॉट फ्राम लोर टू सांयस**, भाग-2, न्यूयार्क, 1960, पृ० 724
15. **वही**, पृ० 755

स्वीकृत एकव्रती विवाह व परिवार का विकास होता है ।[16] धीरे–धीरे विवाह की संस्था महत्त्व प्राप्त करती है । इसे विशेष नैतिक मर्यादा, धार्मिक स्वीकृति और सामाजिक वैधता प्राप्त होती है ।[17] सम्पत्ति के आदान–प्रदान और उत्तराधिकार का प्रश्न जुड़ा होने के कारण विवाह का निर्णय कुल, कबीले या परिवार की अधिकार–सीमा में स्वीकार होता है । विवाह की यह संस्था सैक्स पर नियंत्रण की उस सीमा तक पहुंच जाती है जहां सामन्ती युग की शिखरावस्था में यौन–दमन व यौन–नैतिकता के दूसरे ध्रुवान्त पर वेश्यावृत्ति, रखैल की परम्परा, बहुविवाह तथा ब्रह्मचर्य आदि की अप्राकृतिक परम्पराओं का विकास होता है ।[18] सामंत वर्ग सामाजिक स्वीकृति और उच्छृंखल व्यवहार दोनों का सहारा ले सकता है, जबकि लोक अथवा जनसामान्य यौन–नैतिकता के नियंत्रण में एक खास तरह की मानसिक भूख का शिकार हो जाता है ।[19] स्त्री को वस्तु के रूप में मानने की वृत्ति बढ़ती है और उसके व्यक्तित्व को प्रायः अमान्य कर दिया जाता है । अपनी दलित और दमित अवस्था में लोक की इस रोमांसिक भूख के लौकिक स्तर पर विद्यमान व अभिव्यक्त होने के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं, परन्तु सामन्ती नियंत्रण में नर–नारी यौन संबंधों के क्षेत्र में सामन्ती नैतिकता या कामुकता और लम्पटता ही प्रमुख बने रहते हैं । भारत, ईरान तथा यूरोप के सारे क्लासिकी साहित्य में इसके प्रमाण प्रस्तुत होते हैं ।

पर मध्यकाल में हालत बदलती है । क्लासिकी मज़हबों की छिन्न–भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है । इस युग में सामंती–क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक की प्रबुद्ध–क्रांति, विद्रोह और स्वातंत्र्य-प्रयास के स्वर उभरते हैं । यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं और धर्मों के लिए समान रूप से यह युग काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है । धर्म, मत और सामाजिक नैतिकता के सामने अनेक प्रश्नचिन्ह लगते हैं । सामाजिक व्यवस्था और वर्ग-भेद के प्रति विद्रोह के स्वर उठते हैं । इसी परिवेश में उपर्युक्त सभी क्लासिकी समाजों में मध्यकालीन रोमांसों का आरम्भ होता है ।[20] इसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह दिखाई देता है कि नर–नारी संबंधों में अब यह सामन्ती समाज की तरह अनैतिक वृत्ति न होकर विशेष आध्यात्मिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यों से समन्वित गुण के रूप में स्वीकृत होता है । न मिलने वाले या कठिनाई से मिलने वाले के दैवीकरण की सहज मानवीय वृत्ति का यहां सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है ।[21] इश्क को खुदा की ज़ात, उसकी विशेष देन के रूप में स्वीकृति प्राप्त होती है । इसे ईश्वर या साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है । प्रेमी अब विजेता या कन्याहरण करने वाले सामन्त से हटकर सर्वस्व–त्यागी, आत्मबलिदानी साधक बन जाता है । मध्यकालीन साहित्य तथा सामाजिक–संरचना की इस महान् क्रांतिकारी घटना का विवेचन भिन्न-देशीय सामाजिक–धार्मिक–संदर्भ में अधिक उपयुक्त होगा ।

---

16. उदाहरणार्थ–महाभारत–1, 113, पाण्डु द्वारा उक्त श्वेतकेतु का नियम
17. पी० टामस, **इण्डियन वुमेन थ्रू द एजिज़**, न्यूयार्क, 1964, पृ० 48
18. **वही**, पृ० 71
19. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, लंदन, 1956, पृ० 275-276
20. हर्बर्ट ग्रियर्सन, **द बैकग्राउंड आव इंग्लिश लिट्रेचर** (क्लासिकल एण्ड रोमांटिक)
21. डेनिस डी० रोगिमोंट, **''पैशन एण्ड सोसायटी''**, पूर्वोक्त, पृ० 61-62, 76

3. रोमांस – देश–काल संदर्भ

3.1 यूरोप और रोमांस

यूरोप में प्रणय अथवा रोमांस बारहवीं शताब्दी में विकसित करने के योग्य वृत्ति के रूप में स्वीकृत और मान्य होता है ।[22] इसी काल में कोर्टेज़िया या ''कोर्टली लव'' का आरम्भ होता है । यह मुख्यतः ईसाइयत, उसकी दमित यौन–नैतिकता तथा विवाह–सिद्धांत की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित होता है ।[23] सामन्ती वर्ग की उच्छृंखलता, उद्दण्डता व अराजकतापूर्ण व्यवहार भी इसके लिए प्रतिक्रियात्मक कारण पेश करते हैं । सामन्ती समाज में केवल पाशविक कन्या–प्राप्ति तथा दहेज द्वारा सम्पत्ति हथियाना ही विवाह अथवा स्त्री–प्राप्ति का उद्देश्य रह गया था ।[24] पश्चिमी यूरोप के ड्रुइड पुरोहित स्त्री को ईश्वरीय तथा उससे सम्पर्क की भावना को प्रकाश–तृष्णा के रूप में प्रचारित करते हैं । कोर्टेज़िया एक प्रकार का यज्ञ है, जिसमें प्रेमिका के प्रति संपूर्ण आत्मदान का वचन ग्रहण किया जाता है ।[25] कोर्टेज़िया मिलन की अवहेलना करता है । आत्मनिग्रह तथा स्वस्वीकृत विरह की यह भावना एक भावुक उन्माद व गहरे नशे का कारण बनती है[26] जो एक नई रहस्यात्मकता को जन्म देती है ।[27] बाद की ईसाइयत का रहस्यवादी और भावुकता पूर्ण स्वर इसी मध्यकालीन लोक के जागरण और कोर्टेज़िया का ही परिणाम है ।[28] इसके साथ ही साथ ईसाइयत की कट्टरता की विरोधी नास्तिक व काथारिस्ट धर्म परम्पराओं ने भी, जो फारसी तथा प्रकारान्तर से भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित थीं, पश्चिमी यूरोप को अत्यधिक प्रभावित किया । काथारिस्टों का सर्व–प्रथम प्रभाव फ्रांस के पश्चिमी भाग पर होता है और वहां के प्रावेंसल, ड्रुइड पुरोहितों और ट्राबोडोर गायकों द्वारा रोमांस अथवा ''कोर्टेज़िया'' सारे यूरोप का नया प्रेमवादी, रहस्यवादी और भावुक दर्शन बन जाता है ।[29]

3.2 अरब तथा रोमांस

अरब में भी ट्राबोडोर गायकों के समानान्तर ही भावुक प्रेम या इश्क का आरम्भ होता है । क्लासिकी इस्लाम की समष्टि भावना, व्यक्ति-अवमानना और विवाह संबंधों की पवित्रता वहां भी विशेष भावुक आकर्षण को जन्म देती है ।[30] इसे लौकिक न होकर आध्यात्मिक तथा धार्मिक रूप में स्वीकार किया जाता है । पर सूफी प्रेम-साधना, नर-नारी के सहज, मुक्त तथा सशक्त

---

22. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृ० 33
23. **वही**, पृ० 35
24. **वही**, पृ० 75
25. **वही**, पृ० 61-62, 76
26. **द बैकग्राउंड आव इंग्लिश लिट्रेचर**, पृ० 278
27. सर जॉन वुडरौफ, **शक्ति एण्ड शाक्त**, पृ० 1-2
28. सैम्पसन, **कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इंग्लिश लिट्रेचर**, पृ० 20
29. **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृ० 78-83, 121
30. **सूफीमत और हिन्दी साहित्य**, विमल कुमार जैन, पृ० 6-7

आकर्षण पर ही आधृत है । सहज जैवी लालसा भावात्मक धरातल पर आ जाती है और सामाजिक स्वीकृति के लिए उसे रहस्यवादी स्वरूप धारण करना पड़ता है । विधि निषेध को ईमानदारी के स्तर पर स्वीकार करने वाला वर्ग जहां इसे प्रतीक रूप में मानने का आग्रह करता है वहां इसका आकर्षण लोक में इन रोमांसों की बहुत अधिक प्रसिद्धि व लोकप्रियता का कारण बनता है ।

3.3 भारत और रोमांस

भारत में भी मध्यदेश में स्त्री वर्गीय घटकों को आरम्भिक तांत्रिक सम्प्रदाय अत्यधिक सम्मान व पूजा का स्थान दे ही चुके थे ।[31] प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य लौकिक प्रणयाकर्षण तथा संघर्ष-जन्य रोमांस के लिए आधार बना ही चुका था । दूसरी ओर अरब में तथा मुख्यतः फारस में सूफी नवजागरणवाद भावुक आकर्षण (इश्क) को ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बता चुका था । इन संश्लिष्ट प्रभावों में भारत का मुक्त लोक भी अब अपने भावों को अधिक भावुकता और रोमांसिकता के साथ तथा उच्च-वर्ग विरोधी सहज स्वर में अभिव्यक्ति देने में स्वतंत्र हो जाता है । इश्क हकीकी को पहले काम्य माना जाता है पर लौकिक प्रतीक और बिम्ब के बिना हकीकी का अस्तित्व भी संभव नहीं हो सकता ।[32] विशेष भक्तों ने जो भी कहा हो, उसे सुनने-पढ़ने वाले लोक को अपने हृदय की ध्वनि, अपनी दमित शृंगार व रोमांस भावों की धड़कन ही उसमें सुनाई देती है[33] और एक प्रबल धारा के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है सभी भारतीय भाषाओं की प्रेमाख्यान या रोमानी किस्सा-काव्य धारा ।

4. रोमांस के नायक-नायिका

यहां हम देखते हैं कि कथा-नायकों व नायिकाओं का व्यक्तित्व ही क्लासिकी हीरो-हीरोइनों से एकदम बदल जाता है । रांझा हीर को चाहता है तो हीर भी रांझे को चाहती है । यही स्थिति मिर्ज़ा-साहिबां, सोहणी-महीवाल, मधुमालती-कुंवर, माधवानल-कामकंदला, सस्सी-पुन्नू, रोडा-जलाली आदि सहस्रों प्रेमी-प्रेमिकाओं की है । रत्नसेन राजा है, लेकिन पदमावती के प्रणय में वह जोगी रूप में त्याग व तपस्या द्वारा ही उसकी प्राप्ति के लिए निकलता है । उसके साथ चलने वाले सहस्रों अन्य राजकुमार भी जोगी वेश में हैं । उनकी स्थिति, मानसिक – भावात्मक दृष्टिकोण सामन्ती राजाओं के स्त्री-प्राप्ति के अभियानों से एकदम भिन्न है । रांझा घरबार छोड़कर चाक बनता है । महीवाल अपनी सुख–संपदा व ऐश्वर्य त्याग कर पशुपाल व नौकर बनता है । सस्सी का प्रेमी अपना राजपाट छोड़कर प्रेमिका का दीवाना बन जाता है । प्रेमिका-मिलन का प्रयास त्याग व तपस्या का है, दिल जलाकर तथा शरीर का परित्याग करके भी प्रेम की लौ जलाने का है । बाधाएं उनके इश्क में वृद्धि का कारण बनती हैं । प्रेमिकाएं भी सामन्ती महलों में बन्द निष्क्रिय महिलाएं न होकर हर मूल्य पर इश्क का पालन करने वाली सक्रिय नायिकाएं हैं ।

---

31. इण्डियन, वुमेन थ्रू द एजिज, पृ० 10, 48
32. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० 225
33. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० 11, 12, 27

बाधाएं मुख्यतः समाज की ओर से होती हैं, परन्तु आशिक सदा ईश्वर के दरबार में महान स्वीकार किए जाते हैं। सोहणी तथा महीवाल की मृत्यु पर स्वयं खिज्र उनके जनाज़े की अन्तिम क्रियाएं सम्पन्न करते हैं। हज़रत मुहम्मद साहिब के चरणों में मक्का-शरीफ में उन्हें दफनाया जाता है। राजा विक्रमादित्य माधवानल व कामकंदला का सहयोगी बनता है। इन प्रेमाख्यानों की स्थिति विचित्र है। समाज उनके इश्क को व्यभिचार मानता है, और स्थिति आज भी प्रायः यही है, जबकि ईश्वरीय न्याय उनका सहयोगी माना गया है। आशिकों को खुदा के बन्दे, उसके कृपापात्र माना गया है। स्वयं किस्साकार उसी समाज व्यवस्था का अंग होते हुए भी, जिसमें इश्क को चरित्रहीनता माना जाता है, अपने नायक-नायिकाओं से केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करते, उनके गुण-गान व गौरव वृद्धि में भी प्रवृत्त होते हैं। यही रोमांसों की वास्तविकता है, तथा यह कहा जा सकता है कि मुक्त प्रेम की भावना के सहज सामाजिक अभिव्यक्ति न पा सकने के कारण, सही वक्त पर साहित्यिक–कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ये रोमांस विरेचन का साधन बनते हैं। सामाजिक एडल्टरी ही वैयक्तिक पक्ष में श्रेष्ठ प्रेम अथवा इश्क का आधार बनती है।[34]

अभिव्यक्ति पक्ष में भी किस्सा अथवा रोमांस आभिजात्य साहित्यिक विधाओं व तत्वों का पालन नहीं करते। इनकी अपनी ही लोककथाओं व लोकगाथाओं की नवीन परम्परा बनती है। यही कारण है कि किसी भी अभिजात साहित्य-परम्परा में किस्सा या आख्यान को किसी भी वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जाता। विशुद्ध कथा कहने व प्रेमकथा मात्र कहने को क्लासिकी वर्ग कभी सहन नहीं कर सकता।[35] इसी कारण क्लासिकी नाटकों, प्रबन्धकाव्यों आदि से एकदम अलग, विश्वभर के नवजागृत लोक की लौकिक साहित्य विधा के रूप में, किस्सा के रूप में नई साहित्यधारा अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

5. पंजाबी किस्सा-काव्य–विशिष्टता

हिन्दी, पंजाबी, मराठी, **बंगला** आदि सब भारतीय भाषाओं में किस्सा या रोमांस काव्य का अभ्युदय समान और समानान्तर परिस्थितियों में लगभग एक सी लोक-जागरण की राष्ट्रीय भूमि पर होता है। यूरोप, ईरान, अरब तथा भारत का यह रोमांसिक आंदोलन अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मानव की सांझी विशिष्टकालीन प्रतिक्रिया की परिणति है। फिर भी देश-भेद से इसमें कुछ भेद भी लक्षित होता है। हिन्दी, बंगला और मराठी आदि भाषाओं के आख्यान साहित्य में इश्क के आरम्भ की परिस्थितियां, प्रेमियों की भावुक उत्कटता और मिलन की प्रबल कामना यूरोपीय, अरबी, फारसी और पंजाबी प्रेमाख्यानों के समान ही विद्यमान है। परन्तु हिन्दी आदि के प्रेमाख्यानों में मिलन-प्रयास और संघर्ष की परिस्थितियों में यथार्थ सामाजिक बाधाओं की अपेक्षा आलौकिक और अवास्तविक अवरोध प्रमुख हो जाते हैं। मिलन और मिलन के बाद की परिस्थितियों में तो हिन्दी, मंराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि की ज्यादातर कथाओं में स्वतंत्र इश्क को अभिजात सामाजिक विवाह और सामन्ती नर-नारी संबंध व्यवस्था के नीचे दबा दिया

---

34. **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृ० 16

35. एच० जे० फ्रांसिस तथा जे० टॉमस (अनु०) **जातक टेल्स**, पृ० 205

गया है ।[36] ऐसा मालूम होता है कि मध्यदेश के अभिजात-आदर्शात्मक वातावरण द्वारा लोक जागरण के यथार्थ उत्कटता के तत्वों को मन्द कर दिया गया । जायसी आदि कवियों में इश्क के आरम्भ की उत्कटता होने पर भी अन्त में उसका सामाजिकरण कर दिया गया है, जबकि असल में स्वतंत्र और उद्दाम इश्क अपनी प्रकृति में ही असामाजिक या समाजविरोधी होता है । पंजाबी में भी रहस्य, रोमांच तथा अलौकिक तत्वों से युक्त ऐसे रोमानी किस्सों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें इश्क की तीखी शुरुआत बाद में बंधी-बंधाई सामाजिक परम्परा में बदल जाती है । पर, पंजाबी किस्साकारी में हीर-रांझा, सोहणी-महीवाल, सस्सी-पुन्नू, शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूं, रोडा-जलाली, मलकी-कीमा, मिर्ज़ा-साहिबां, आदि की ग्रामकथाओं के आधार पर रचित प्रबल इश्क के किस्से ही श्रेष्ठ और यथार्थ किस्साकारी के आदर्श स्वीकार किए जाते हैं । उन किस्सों में इश्क का आरम्भ, विकास, संघर्ष और अन्त के तत्व नितान्त स्वाभविक, प्रभावपूर्ण, लोकप्रिय और हृदय को छूने वाले हैं । स्वतंत्र प्रेम के रास्ते की वास्तविक रुकावटों और सामाजिक अवरोध को अमान्य करने वाले ये व्यक्तित्व अपने जीवनकाल में प्रकृत कष्ट सहन करते हैं, प्रेम के कारण सामाजिक दण्ड के भागी बनते हैं, पर इसीलिए मौत के बाद लोकमत में प्रेम-वीरों या कामिल-आशिकों के रूप में गहरे पैठ जाते हैं । रोमांस का यही यथार्थ भी है ।[37]

पंजाबी किस्साकाव्य की इस खूबी के लिए पंजाब का मध्यकालीन वातावरण विशेष रूप में जिम्मेदार मालूम होता है । पश्चिमोत्तरी सीमान्त का यह प्रहरी प्रदेश प्रागैतिहासिक काल से भारत प्रवेश करने वाले बाहरी आक्रमणकारियों का एकमात्र मार्ग रहा है । मध्यदेश के समान स्थिर सामाजिक संरचना के लिए उत्तरदायी वातावरण का यहां अभाव रहा है । स्थिर समाज में ज्ञान, संस्कृति, परिष्कृति, कलाभिरुचि आदि के लिए जहां उपयुक्त परिवेश उपलब्ध रहता है वहीं रूढ़, जड़ और ह्रासवादी परिस्थितियों के लिए भी अनुकूल अवसर रहते हैं । सीमान्त प्रदेश तथा प्रायः युद्ध–क्षेत्र बने रहने वाले भूभागों की जनता प्रायः कठोर, सरल, भावुक, अपरिष्कृत पर साथ ही अपेक्षतया रूढ़िहीन और परम्परामुक्त भी होती है, या कम-से-कम परम्परामुक्त होने के लिए स्वतंत्र और नए परिवर्तनों को सहज रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार रहती है । मध्यदेश के समान अभिजात सामंती समाज और नगर संस्कृति का मध्यकाल के पंजाब में लगभग अभाव रहा है ।[38]

हम एकदम यह तो नहीं कह सकते कि नर-नारी के स्वतंत्र इश्क के लिए पंजाब की समाज-व्यवस्था अधिक उदार रही है । इस पर भी अपने जीवन काल में कड़ी सामाजिक सजा के भागी बनने वाले असली या कल्पित प्रेमियों के प्रति हमदर्दी और प्रेम महसूस करने वाली नई पीढ़ी के लिए सामन्ती आदर्शवाद का सीधा या ढका अंकुश और दबाव पंजाब में मध्यदेश की अपेक्षा अवश्य कम रहा है । इसीलिए उन आशिकों की वास्तविक या काल्पनिक कथा जब कही गई तो उसे समाज-स्वीकृत बनाने के प्रयास नहीं हुए । इश्क की निन्दा और इश्क की प्रशंसा, और नारी के प्रेम की प्राप्ति के लिए जान की कुर्बानी, इश्क की घातकता और इश्क की

---

36. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोद्धृत, पृ० 299
37. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोद्धृत, पृ० 300-301
38. वही, पृ० 301

अलौकिकता का बखान पंजाबी किस्साकारी में बहुत उभरे हुए लोकतत्त्व हैं। एक ओर यह सामाजिक यथार्थ प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर रोमांसिक काम्य भाव को अभिव्यक्ति देने में भी ये मुक्त हैं। पंजाबी का अन्य भारतीय भाषाओं के इश्क संबंधी किस्सों से एकमात्र यही प्रमुख भेद है। 'अर्धकथानक' के लेखक बनारसी दास जैन का कथन मध्यकाल में मध्यदेश की स्थिति का सुन्दर उदाहरण पेश करता है।[39] वह "बड़े-बूढ़ों से छिप-छिपाकर, हाट-बाजार जाना छोड़कर मधुमालती, मृगावती आदि प्रेमाख्यान पढ़ा करते थे।" सब कुछ छोड़-छाड़कर प्रेमाख्यानों के अध्ययन में जुटना मानव की उस सहज-स्वाभाविक भूख का सूचक है जो जीवन की निरोध तथा निषेध की परिस्थितियों में बढ़ती और भड़कती है। बड़े-बूढ़ों से छिपकर उन प्रेमाख्यानों का अध्ययन उन रचनाओं की बृहत्तर समाज में अमान्यता का प्रमाण है। बंगला और हिन्दी आदि के लोकचेतना सम्पन्न लेखकों के समानान्तर अभिजात और सामन्ती मान्यताओं का अनुवर्ती सशक्त परम्परावादी वर्ग भी विद्यमान था। इसीलिए इन भाषाओं के प्रमुख प्रेमाख्यानों में उत्कट, स्वाभाविक और स्वतंत्र इश्क के आरम्भ के बाद समाज-स्वीकृत विवाह के रूप में समाप्ति से इन दोनों प्रभावों का समन्वय हो जाता है।[40] पंजाबी लोकमन और पंजाबी साहित्य में हीर, सोहणी, सस्सी, साहिबां आदि न केवल लोकप्रिय ही हैं, ये लोकमान्य व्यक्तित्व भी हैं। किस्सों का सामूहिक गान तथा सम्पूर्ण सामाजिक स्वीकृति एक तथ्य है। भले ही पंजाब का नवशिक्षित वर्ग ऐतिहासिक कारणों तथा आभिजात्य प्रभावों के कारण पंजाबी के छोटे-मोटे किस्सों को अपनाने, अपने साहित्यिक भण्डार का रत्न मानने में कुछ संकोच अनुभव करने लगा है, फिर भी छापाखाना आ जाने के बाद से हर वर्ष हजारों की संख्या में छोटे-छोटे किस्सों का छपना-बिकना और घर-घर में पहुंचना इनकी लोकप्रियता तथा लोकमान्यता का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है। पंजाब के समाज में लगभग वर्गहीन ग्राम्य तत्त्वों का पूर्ण प्रभुत्व तथा मध्यदेश के ग्राम्य वर्ग पर भी नगरीय आभिजात्य और रूढ़िवादी वर्ग का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव इस भेद के अन्य कारण माने जा सकते हैं।

परिणति

किस्सों के विषय, धारणा, चेतना, शैली, कथारूढ़ि, लोकतत्त्व आदि अनेक पक्षों पर अलग-अलग विचार अपेक्षित हैं। इस पत्र को केवल मध्यकालीन लोकजागरण की आधारभूमि तक ही सीमित रखने का प्रयास किया गया है पर यह आधारभूमि भी कालान्तर में बदल कर रोमांसों के परिवर्तन, ह्रास और समाप्ति की स्वाभाविक ऐतिहासिक भूमिका बनाती है।

यह धारा भी देर तक अपनी शक्ति बनाए नहीं रख पाती। परिवार तथा समाजव्यवस्था की संश्लिष्टता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आ पाता। नवजाग्रत लोक अपनी भावनाओं को इस रूप में अभिव्यक्त करता अवश्य है पर सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता के प्रभाव के कारण अवचेतन में वह मर्यादावादी धर्मों और परिवार की मर्यादा के आग्रह से बच नहीं सकता। इससे प्रायः दो अढ़ाई सौ वर्षों में ही इश्क की उत्कटता व एकान्तिकता चुक जाती है। किस्सों

39. हजारी प्रसाद द्विवेदी : **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पंटना, 1961, पृ० 109

40. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस, पूर्वोद्धृ, पृ०** 300-301

के नायक प्रबल आशिकों से सामन्ती नायकों में परिणत होने आरम्भ हो जाते हैं। विवाह अनिवार्य अन्तिम परिणति के रूप में मान्य हो जाता है और रोमांस घड़े–घड़ाए अभिजात प्रबन्धकाव्यों की कोटि के निकट पहुंच जाते हैं।[41] रांझा, महीवाल व माधवानल का स्थान अब राजा इन्द्रसेन, ढोलबादशाह, राजा रूपचन्द व राजकुमार खुर्रम ले लेते हैं। हीर, सोहणी आदि अब हंस दामिनी, इन्दरा शहजादी तथा कलाकाम में बदल जाती है। मध्यकाल का नवजाग्रत लोक एक बार फिर आभिजात्य नैतिकता, सामाजिक मूल्य तथा मर्यादा को स्वीकार करके उसी व्यवस्था में घुलमिल जाता है। यूरोप में भी "आर्थरयिन" रोमांसों और बैलेड्स का स्थान "बैलेड्स आव शिवालरी" ग्रहण कर लेती हैं।[42] नवजागरणकाल आने के साथ तथा क्लासिकी मूल्यों की पुनर्स्थापना के साथ मध्यकालीन रोमांस अपना पूरा स्रोत चुका कर इतिहास भर की बात बनकर रह जाते हैं।

परिणाम रूप में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल में नवजाग्रत लोक का निज-व्यक्तित्व परिचय अपनी आन्तरिक भावना की अभिव्यक्ति करने में स्वतंत्र, सबल व सफल होकर मध्यकालीन किस्सों के लिए रचयिता, प्रशंसक और संरक्षक प्रदान करता है। परन्तु उस काल में भी रोमांसों की यथार्थता मानसिक-भावात्मक अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहती है। व्यवहारिक सामाजिक व्यवस्था का रूप वह कभी भी ग्रहण नहीं कर पाती। हम एकान्तिक इश्क की कामना कर सकते हैं, उसका सपना देख सकते हैं, पर उसे जीवन में व्यवहार में नहीं ला सकते। मानव अपने आर्थिक-सामाजिक विकास के जिस स्तर पर पहुंच चुका है, वहां इस दर्शन का व्यवहार सामाजिक हित के विरोध में पड़ने से भारी मूल्य की मांग करता है। इस प्रकार इस प्रबल कामना को जीवन में सार्थकता दे सकने की असमर्थता, विवाह की संस्था को तोड़ न सकने की मजबूरी, इस भावना के प्रति उतने ही प्रबल मानसिक आग्रह को जन्म देती है, और यही है रोमांसों का आधार। पंजाबी की एक कहानी इस द्विविधा और द्वन्द्व को बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट करती है।

श्री कुलवन्त सिंह विरक की इस कहानी[43] में भारत दर्शन के उद्देश्य से आया एक यूरोपीय पर्यटक अपने एक पंजाबी मित्र के साथ लुधियाना की सड़कों पर घूम रहा है। वह पंजाबी युवक सड़क की दूसरी ओर सीधे-सादे खद्दर के कुर्ते-सलवार में, झोला बगल में लटकाए एक महिला को देखकर उसे प्रणाम करता है और रोकता है। तीनों चाय पीते हुए बातचीत करने के लिए किसी रेस्तरां में जा बैठते हैं। वह युवक उस युवती से पूछता है कि नगर की सफल लेडी डॉक्टर के रूप को, कार, बंगला, नागरिक सुविधाओं व सम्मान को छोड़कर उसके गांव में जा बसने का आखिर क्या कारण है ? वह महिला डॉक्टर उत्तर देती है कि भले ही उसकी बात को बड़बोलापन या डींग माना जाने का भय है फिर भी गांव में उसके जाने का लक्ष्य उसकी अपनी ग्रामीण बहनों के उद्धार व मुक्ति की कामना ही है। वह युवक

41. विस्तृत जानकारी के लिए दृष्टव्य – 'मध्यकाल में रोमांसिक प्रेम का आधार', परिशोध-7, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में प्रकाशित, लेखक के लेख का संदर्भ

42. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृ. 138, 193, 211

43. कुलवंत सिंह विरक, 'नमस्कार' (पंजाबी कहानी), **द ट्रिब्यून**, खण्ड 86, अंक 168, जून 19, 1966

कुछ आश्चर्य के साथ कहता है कि पंजाब की एक बेटी हीर थी। उसने अपनी स्वतंत्रता के लिए प्राण तक न्यौछावर कर दिए थे। चार-पांच सौ वर्षों से सारी जनता उसे अपने हृदय में स्थान दिए है। उसके प्रेम के संबंध में गीत, गाथाएं, किस्से व कहानियां दिन-रात लिखी व गाई जाती हैं। यदि हीर इतना सब होने पर भी अपने प्रदेश की बहनों की मुक्ति का माध्यम नहीं बन सकी तो दो चार ग्रामों की सीमा तक ही रहने वाली एक महिला डॉक्टर यह सब कैसे कर सकेगी ? डॉक्टर का उत्तर रोमांसों की यथार्थता को स्पष्ट करता है। वह कहती है कि हीर का त्याग प्रशंसनीय है, काम्य है। हम उसे प्यार कर सकते हैं, उसका सपना देख सकते हैं, उसका गीत गा सकते हैं, पर व्यावहारिक और जैवी स्तर पर हम उसका मूल्य नहीं चुका सकते। हीर ने मौत को चुनकर वह मूल्य चुकाया था, जो मेरी गांव की बहनों के लिए व्यावहारिक नहीं हो सकता। परन्तु मेरे मार्ग से मुक्ति निश्चित है, चाहे कुछ देर में ही हो, जबकि मूल्य सरल भी है और संभव भी। गांव की अनपढ़, पीड़ित और परतन्त्र बहनें जब यह देखती हैं कि उनकी ही सी गांव की एक बहन या बेटी, केवल अपनी आधुनिक शिक्षा के कारण स्वच्छन्द गांव-गांव घूम फिर सकती है, उसे सम्मान व मुक्ति दोनों प्राप्त हैं, तो निश्चित ही उनके मन के किसी कोने में, यदि अपने लिए न भी हो, अपनी बहनों व बेटियों के लिए अवश्य इस मुक्ति का बीज फूटेगा। और यदि जिन्दगी में 20-30 महिलाओं के दिलों में भी वह यह भाव जगा सकी तो हीर की अपेक्षा उसका यह नारी मुक्ति अभियान ज्यादा कामयाब होगा, क्योंकि इसका मूल्य दिया जा सकता है, समाज में स्वीकार्य है, जबकि हीर का केवल गीत ही गाया जा सकता है। और यही अव्यवहार्यता रोमांसों का आधार है। यदि यह संभव हो जाए तो इस भाव का ही अन्त हो जाएगा जबकि लगातार विरोध तथा अप्राप्ति इसे बनाए रखती है। और यह द्विविधा किसी एक बिन्दु पर मिल सके यह मुमकिन नहीं।

अध्याय 19
'किस्सा' – व्युत्पत्ति तथा विकास

'किस्सा' तथा कुरान

किस्सा शब्द अरबी भाषा–मूल से आता है । कुरान में किस्सा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । 'कस' धातु से बना 'क़सस' शब्द अवश्य पांच बार (2:55, 7:175, 12:3, 111, और 28:25 शीर्षकों में) प्रयुक्त हुआ है । परन्तु इसका सीधा अर्थ 'आख्यान', 'वर्णन' अथवा 'कथन' नहीं है । भाग 18:63 के एक प्रयोग में इसका तात्पर्य है ''इस प्रकार वे दोनों उनके पग–चिन्हों पर उन्हें खोजते लौट गए'' । 28:10 में मूसा की माता कहती है – 'कुसीहि' जिसका तात्पर्य है – 'उसे खोजो' । 'क़स्सा' का तात्पर्य प्रतीत होता है – ''उसने क्रम–क्रम से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध में विषय को खोज निकाला, अथवा उसने उस पर अपना अभिमत प्रकट किया ।''[1] बात संक्षिप्त करना, अर्थ भी दिए हैं, [2] पर ये अर्थ–विकास का कोई संकेत न देते हुए व्यवहार–गत अर्थ ही स्पष्ट करते हैं । अरबी–अंग्रेजी कालिजिएट शब्दकोष में भी 'क़सास' का तात्पर्य दण्ड अथवा काटना दिया है, जबकि 'ओकास' तथा 'किससी' का तात्पर्य है आख्यानकार अथवा कथा–वाचक । आगे किस्सा को तीन भागों में बाँटा गया है – 'किस्सा ज़राफिया' – पशु–कथा, 'किस्सा ख्यालिया' – कल्पित कथा तथा 'किस्सा शेरिया' – गाथा–काव्य ।[3] हैमी के फारसी–अंग्रेजी शब्दकोश में भी 'क़स्स' का तात्पर्य कसाई तथा 'क़स्सास' का तात्पर्य दण्ड, प्रतिकार ही दिया गया है, जबकि उसी के क्रम में 'किस्सा' का तात्पर्य दास्तान, हिकायत, कथा अथवा आख्यान तथा 'किस्सा–गो' का तात्पर्य कथा सुनाने वाला कहा गया है ।[4] उर्दू के एक उच्च-स्तरीय शब्दकोश में भी किस्सा तथा सम्बंधित शब्दों के यही अर्थ दिए हैं । यहां 'किस्सा उठाना' का तात्पर्य है झगड़ा उठाना, 'किस्सा खां' तथा 'किस्सा ख्वानी' का तात्पर्य है – कथा कहने वाला तथा कथा कहने की कला । 'किस्सा पाक करना' का तात्पर्य है – कत्ल करना अथवा बदला लेना, जबकि 'किस्सा–कोताह' का तात्पर्य है – संक्षिप्त में बात करना ।[5]

---

1. द एनसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम, खण्ड 2, पृष्ठ 1042–44
2. पर्शियन–इंग्लिश डिक्शनरी आव स्टेनगास
   (कस, कस्सास, कस्सा तथा किस्सा आदि शब्दों सम्बन्धी टिप्पणी)
3. द कालिजिएट अरेबिक–इंग्लिश डिक्शनरी, काहिरा–मिस्र
   (कसस, कस्सास, किस्सा, कस्सासा सम्बन्धी टिप्पणी)
4. हैमीज वन वोल्यूम पर्शियन–इंग्लिश डिक्शनरी, तेहरान–ईरान
   (कस्सा, कस्सास, किस्सा सम्बन्धी टिप्पणी)
5. द स्टूडेण्टस प्रैक्टिकल उर्दू–इंग्लिश डिक्शनरी
   इलाहाबाद, नेशनल प्रैस, (कस्सास, किस्सा सम्बन्धी टिप्पणी)

भारतीय शब्दकोश और किस्सा

'द एनसाइक्लोपीडिया इंडिया' में 'आख्यान' शब्द का अर्थ दिया है – कथन, बयान, वक्तृता, बोली, कथा, किस्सा, कहानी। 'आख्यानक' का तात्पर्य है कथा अथवा छोटा किस्सा। इसी प्रकार 'आख्यानिका' का तात्पर्य है – गल्प, किस्सा आदि। इससे भी किस्सा का प्रयोगजन्य आख्यानमूलक अर्थ स्पष्ट होता है।[6] डा० रामशंकर शुक्ल रसाल के अनुसार भी आख्यान तथा आख्यायिका का तात्पर्य कहानी, कथा, वृत्तान्त तथा किस्सा आदि है। 'क़िस्सा' से उनका तात्पर्य कहानी, कथा, आख्यायिका, समाचार, काण्ड, झगड़ा, वृत्तांत, हाल, बात आदि है।[7] राष्ट्रभाषा कोश में भी 'किस्सा' शब्द का प्रयोगजन्य अर्थ कथा, कहानी, उपाख्यान, समाचार, वृत्तान्त, काण्ड, झगड़ा तथा तकरार दिया है।[8] हिन्दी साहित्य कोश में आख्यायिका का साधारण अर्थ कहानी, वृत्तांत तथा किस्सा दिया गया है।[9]

अरबी कोष तथा किस्सा

इन सब कोषों का स्रोत अरबी प्रयोगजन्य अर्थ प्रतीत होता है। कुरान में तो जैसा कहा जा चुका है, यह शब्द उपलब्ध नहीं है पर 'लिसान' में इसका तात्पर्य अनुसरण करना माना गया है। वहां भी प्रयोग की परम्परा का ही संकेत मिलता है। प्रमाण स्वरूप कोई काव्य–अंश अथवा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है। 'मिसवाह' में किस्सा का तात्पर्य विषय, मुआमिला, घटना आदि दिया गया है। 'लिसान' (341–1–5) में किस्सा का एक प्रयोग है – 'फिरा सिहि किस्सा' – उसके सिर में किस्सा है, जिसका तात्पर्य है – सारी बात कल्पित घटना मात्र है।[10]

कोष, मतवादी संकेत

बाद में लिसान में इसके मतवादी प्रयोग के संकेत भी मिलते हैं। 'कस्स' अथवा कथावाचक धार्मिक महत्व की कथाएं सुनाने वाला कहा गया है। यह भी कहा गया है कि 'कस्स' द्वारा कथाओं की घटा–बढ़ी पर उसे ईश्वरीय 'मकत' अथवा घृणा का भाजन बनना होगा। इस पर भी 'कस्' तथा 'किस्सा' का मूलभूत सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता।[11]

परवर्ती अरबी भाषा तथा किस्सा

बाद की अरबी भाषा में किस्सा शब्द के दो स्पष्ट अर्थ मिलते हैं –

(1) कथा–मूलतः धार्मिक तथा उपदेशात्मक, पर अधिक विस्तृत अर्थ में भी प्रयुक्त। 'वोकैबुलिस्टा आव पीदरो दे अलकाला, (भाग–2, पृष्ठ 352 अ, ब कस्सास् तथा मुकस्सिस) के

6. **द एन्साइक्लोपीडिया इंडिया, नागेन्द्रनाथ वर्मा, खण्ड 2**
(आख्यान; आख्यायिका सम्बन्धी टिप्पणी)
7. **भाषा शब्दकोश** – डा० रामशंकर शुक्ल रसाल (किस्सा, आख्यान व आख्यायिका पर टिप्पणियां)
8. **राष्ट्रभाषा कोश** – इंडियन प्रैस, प्रयाग (किस्सा शब्द पर टिप्पणी)
9. **हिन्दी साहित्य कोश** – भाग–1, संस्करण–2, वाराणसी, विक्रमी 2020 (आख्यायिका शब्द पर टिप्पणी)
10. **द एनसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम**, खण्ड–2, पृष्ठ 1042–44
11. **वही०**, पृष्ठ 1042–44

अनुसार इसका हस्यानवी तात्पर्य 'इतिहास' है जबकि रैडहाउस के 'टर्किश इंग्लिश लैक्सिकन' (पृष्ठ 1458 अ) के अनुसार 'इतिहासकार' ।[12]

(2) निवेदन, प्रार्थना, विज्ञापन, किसी उच्चस्तरीय व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत आवेदन । क्वाटरेम्येर के 'सुलतान ममलूकस' (1, 1, पृष्ठ 236, टिप्पणी – (3) में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं । इन आवेदनों को निपटाने के लिए एक अधिकारी होने का हवाला भी मिलता है, जिसका पद 'किस्सादार' का होता था । इस सब के अनुसार अरबी में आज तक 'कसस' अपने दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है – (क) इस प्रकार की धार्मिक कथाओं का पेशेवर-गायक तथा (ख) पुलिस-अधिकारी, जासूस, खोजी, खुफिया आदि ।[13]

पंजाबी साहित्य में किस्सा

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम अवश्य यह निर्णय ले सकते हैं कि किस्सा शब्द अरबी–फारसी भाषाओं में कथात्मक, आख्यान मूलक अथवा इतिवृत्तात्मक रचना के लिए प्रयुक्त होने लग पड़ा था । पंजाबी साहित्य में इतिवृत्तात्मक, कथात्मक रचना के लिए यह नामांकन मुसलमानों के आने के बाद के सीधे फारसी–अरबी प्रभाव का परिणाम है । हमें यह भी प्रतीत होता है कि अपने बियानिया (वर्णनात्मक) किस्सों के समकक्ष कथात्मक-साहित्य के पंजाब में प्रचलन को देख कर मुसलमानों ने ही पहले–पहल इस प्रकार की रचनाओं को किस्सा नामं दिया होगा जो बाद में इस बहुप्रचलित विधा के लिए मान्य हो गया । पंजाबी के प्रायः सब विद्वान् पद्य–मय कथात्मक रचनाओं को किस्सा स्वीकार करने में लगभग एकमत हैं ।[14]

भारतीय आख्यान साहित्य का विश्व में प्रसार –

अति प्राचीन काल से भारत आख्यान-साहित्य का घर रहा है । विश्व की अधिकांश जातियों को कथा–भंडार, कथा–रूप तथा कथानक–रूढ़ियों की दृष्टि से सम्पन्न बनाने में भारत का महत्वपूर्ण योग रहा है ।[15] हमारी कथाओं के बाहर फैलने के तीन मार्ग रहे हैं ।

(1) उत्तर में बौद्ध साहित्य के तिब्बती-चीनी अनुवादों के माध्यम से (2) पूर्वी तथा दक्षिणी समुद्र–मार्ग से द्वीपान्तर–भारत अर्थात् बाली,जावा,सुमात्रा, चम्पा, तथा जापान, चीन

---

12. वही०, पृष्ठ 1042–44

13. वही०, पृष्ठ 1042–44

14. (1) पंजाबी साहित दी उत्पत्ती ते विकास, पृष्ठ 125–126, परमिंदर सिंह, किरपालसिंह कसेल
    (2) साहित प्रकाश – पृष्ठ 165, परमिंदरसिंह, किरपाल सिंह कसेल
    (3) साहित दी परख – डा० गोपालसिंह, पृष्ठ 71, दिल्ली, 1950 (तथा अनेक अन्य)

15. कथाएं, परिकथाएं तथा दन्तकथाएं भारतीय मनीषा के सर्वोत्कृष्ट सृजन का अंग हैं । ...... यह बहुत आश्चर्यजनक तथ्य है कि भारतीय आख्यानमूलक सामग्री एक जाति से दूसरी जाति और एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में इस प्रकार फैलती रही है कि वह हमें आज यूरोप तथा एशिया के सब देशों की ही नहीं अफ्रीका की कथा–कहानियों में भी प्राप्त है, जिनका मूल घर भारत रहा है । एम० विंटरनित्स, **हिस्टरी आव इंडियन लिट्रेचर**, खण्ड–3, भाग–1 (मूल जर्मन से अंग्रेज़ी अनुवाद), वाराणसी, 1963, पृष्ठ 301–302

एवं लंका आदि देशों में (3) उत्तर–पश्चिमी सीमान्त से फारस–अरब में से होते हुए यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका में।

प्रसार का मुख्य मार्ग

भारतीय आख्यानों के बहिर्गमन का मुख्य मार्ग भारत और अरब तथा उसके माध्यम से पश्चिमी जगत के व्यापार का मुख्य मार्ग ही रहा है। पेशावर नगर के पुराने भाग में किस्सा–कहानी [16] या 'किस्सा–ख्वानी' [17] नामक एक बाजार के अब भी होने का पता चलता है। प्राचीन काल में वहां अन्य वस्तुओं की भाँन्ति किस्सा–कहानी भी बिका करते थे। व्यापार–मार्ग पर अवस्थित यह स्थान पैदल और सार्थवाह में आने वाले यात्रियों का विश्राम स्थल था। इसी अवसर पर श्रोता–व्यापारियों को कथा सुना कर कथा–व्यापारी बदले में धन लेते थे।[18]

आख्यान प्रसार–मार्ग – पंजाब और किस्सा

भारतीय आख्यान साहित्य के बहिर्गमन के मुख्य मार्ग में पड़ने के कारण देश के पश्चिमोत्तरीय सीमांत–प्रदेश पंजाब का आख्यान–प्रेमी होना सरल स्वाभाविक है। मुसलमानों के आगमन के बाद की नवचेतना के परिणामस्वरूप फूट पड़ने वाली पंजाबी किस्सा काव्य की धारा का स्रोत बहुत गहरी भारतीय आख्यान परम्परा में निहित रहा है। कथा–तत्व तथा कथानक–रूढ़ियों का सम्यक् अध्ययन इसका पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है। शैली अथवा अभिव्यक्ति पक्ष में अरबी–फारसी साहित्य के एकान्त प्रभाव से अवश्य इन्कार नहीं किया जा सकता।

---

16. साहित्य, वर्ष 12, अंक 2, जुलाई 1961, पृष्ठ 56–59 (कथा, शैली की परम्परा–लेख) श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
17. प्रोफैसर केसरसिंह ओबराय की व्याक्तगत सूचना के आधार पर
18. साहित्य, वर्ष 12, अंक 2, जुलाई 1961, पृष्ठ 56–59 (कथा–शैली की परम्परा–लेख) श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

अध्याय 20
पंजाबी किस्सा–काव्य – मुख्य तत्व एवं वर्गीकरण

पंजाबी विद्वान तथा किस्सा–काव्य

पंजाबी किस्सा–काव्य की जड़ें बृहत्तर भारतीय आख्यान–परम्परा में गहरे विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन पर अरबी–फारसी साहित्यिक अभिव्यक्ति, जीवन–परम्परा, काव्य–चिन्तन तथा सांस्कृतिक चेतना का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। परन्तु पंजाबी के अधिकांश समकालीन विद्वान किस्सा–काव्य का आरम्भ प्रायः मुसलमानों के आगमन के बाद की घटना मानते हैं और दामोदर को पहला किस्साकार स्वीकार करते हैं।[1] हमारे विचार से यह यथार्थ चिन्तन नहीं कहा जा सकता। मुसलमानों के आगमन से पूर्व इस प्रदेश में, जिसे आज पंजाब कहा जाता है, तथा यहां की भाषा में आख्यानक साहित्य की विद्यमानता के सशक्त प्रमाण उपलब्ध हैं।[2] इसमें अवश्य संदेह नहीं कि पंजाबी भाषा में आख्यानक रचनाओं को लिपिबद्ध करने व सुरक्षित रखने का कार्य मुसलमानों के आगमन के पश्चात ही आरम्भ हुआ होगा।

जनभाषा की स्वीकृति – समाज–शास्त्रीय विश्लेषण

अभिजात हिन्दूवर्ग अपनी सांस्कृतिक भाषा के रूप में संस्कृत को महत्वपूर्ण स्थान देता रहा है। अपभ्रंश काल की समाप्ति के साथ ही उत्तरी भारत में वह स्थान ब्रज तथा किसी सीमा तक अवधी आदि भाषाओं ने ग्रहण कर लिया। जन–सामान्य के पास न तो लिखित साहित्य रचना के उपयुक्त शक्ति ही होती है और न उसे सुरक्षित रखने के उपयुक्त साधन ही। मानव स्वभावतः आदर्शवादी प्राणी है। वह कठिनाई व असुविधा के मूल्य पर भी परम्परागत आदर्शों को बनाए रखने का प्रयास करता है। यह नितान्त स्वाभाविक था कि पंजाब में भी प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपनी बात को स्वीकार्य बनाने के लिए ब्रज अथवा संस्कृत का सहारा लेता। दूसरी ओर मुसलमानों में सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीयों के लिए मान्य ब्रज आदि भाषाओं के प्रति विशेष श्रद्धा या गौरव के भाव का अभाव होने के कारण वे स्थानीय जनभाषा में भी विचार अभिव्यक्त करने में झिझक अनुभव नहीं करते थे। हम देखते हैं कि अपभ्रंश साहित्य को भी जैनों, सिद्धों, नाथों तथा अन्य ऐसे वर्गों का आरम्भिक प्रश्रय मिला था जो कि पौराणिक–परम्परा की दृष्टि से या तो निम्न माने जाते थे या असम्बद्ध। उच्च पौराणिक वर्ग उस काल में भी संस्कृत में ही अपनी बात कहता सुनता रहा है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास को

---

1. साहित्त समाचार, पत्रिका–जनवरी–जून, 1962, किस्सा काव अंक, श्री जगजीत सिंह छाबड़ा – पृष्ठ 1, 33, श्री गुरदित्त सिंह प्रेमी, पृष्ठ 25, श्री सुरेन्द्र सिंह, पृष्ठ 51 व 211, श्री हमदरद वीर नौशहरवी, पृष्ठ 97
2. वही, पृष्ठ 229

सत्तारहवीं शताब्दी में, जबकि संस्कृत का जनजीवन से दूर का सम्बन्ध भी नहीं रह गया था, देववाणी की अपेक्षा जनभाषा अवधी में रचित 'रामकथा' को उच्च–वर्ग में स्वीकार्य बनाने के लिए बार–बार क्षमा–याचना करनी पड़ी । इसी प्रकार पंजाबी के साहित्यिक प्रयोग के लिए भी सर्वप्रथम मुसलमान ही जिम्मेदार थे । पंजाबी आलोचक श्री प्रेमप्रकाश सिंह इस तथ्य से सहमत हैं । उनका कहना है कि उस काल में हिन्दू–मुसलमान अपनी उत्तम रचनायें ब्रजभाषा द्वारा प्रभावित बोली में करते थे और इसी कारण शुद्ध पंजाबी की ओर कम ही रुचि रखते थे । पर यह मुसलमान ही थे, जो अधिकाधिक पंजाबी को अपनाते थे ।[3] गुरुमत साहित्य ब्रजभाषा एवं ब्रज साहित्य–रूपों से अत्यधिक प्रभावित है, हालांकि गुरु साहिबान जन–सामान्य में से आए थे और जन–सामान्य का नेतृत्व कर रहे थे । अभिजात–तत्वों से अत्यधिक प्रभावित दशम गुरु तो विशुद्ध ब्रज या फारसी जैसी अभिजात साहित्यिक भाषाओं में अपनी बात कहते रहे हैं । इससे हम यह समाज–शास्त्रीय तथ्य प्राप्त करते हैं कि ठेठ पंजाबी में आख्यान, गाथा, लोकगाथा तथा लोकगीतोंका प्रचलन जन–सामान्य में पहले से विद्यमान रहा है । उच्च अभिजात वर्ग सांस्कृतिक दृष्टि से मान्य भाषाओं में धार्मिक, मतवादी तथा आदर्शात्मक रचनाओं में उलझा रहा है । उसे लोक–साहित्य तथा लोकभाषा की ओर ध्यान देना अपने महत्व के उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । नवागंतुक मुसलमानों में हिन्दुओं की उच्च सांस्कृतिक भाषाओं के प्रति कोई विशेष आग्रह न होने के कारण वे जन–भाषा में सर्वप्रथम लोकप्रिय कथा–आख्यानों के प्रणयन एवं संरक्षण के माध्यम बने । फारसी के वर्णनात्मक साहित्य का आधार विद्यमान था ही । स्थानीय गाथाओं को उसी के अनुरूप लिखने का उन्होंने प्रयास किया । फारसी–अरबी में प्रचलित आख्यानों के अनुवाद भी हुए और उनके अनुरूप ही इन विशुद्ध मनोरंजनात्मक रचनाओं का नाम 'किस्सा' प्रचलित हो गया ।[4]

किस्सा – मुख्य तत्व एवं वर्गीकरण

पंजाबी विचारकों का एक वर्ग पंजाबी किस्सा काव्य का आरम्भ मुसलमानों के आगमन एवं प्रभाव के परिणामस्वरूप स्वीकार करता है । इस वर्ग के विद्वान दामोदर की 'हीर' को प्रथम किस्सा स्वीकार करते हैं और वारिस को अन्तिम श्रेष्ठ किस्साकार । पंजाबी कवीसरों द्वारा रचित सैंकड़ों छोटे–बड़े प्रेम एवं रहस्य–रोमांस से पूर्ण किस्सों को पंजाबी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किए जाने से यह वर्ग झिझकता प्रतीत होता है ।

दूसरे वर्ग का दृष्टिकोण यथार्थता के अधिक समीप है । वे विद्वान प्राचीन भारतीय पौराणिक एवं निजंधरी कथाओं, विशुद्ध ग्राम–कथाओं तथा रहस्य रोमांच से पूर्ण लोक–कथाओं पर आधारित समस्त पंजाबी रचनाओं को किस्सा काव्य के अन्तर्गत स्वीकार अवश्य करते हैं, परन्तु विवेचन के समय वे भी दामोदर, मुकबल, अहमद, वारिस आदि गिने–गिनाये छः–आठ किस्साकारों की अपेक्षतया कलात्मक रचनाओं तक ही पहुंच कर रुक जाते हैं । पंजाबी किस्सा काव्य से सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि से यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है ।

---

3. **पंजाबी बोली –– निकास ते विकास,** प्रेम प्रकाश सिंह, पृष्ठ 285–286

4. **पंजाबी बोली –– निकास ते विकास,** प्रेम प्रकाश सिंह, पृष्ठ 285–286

साहित्त प्रकाश

इसमें किस्सों की वस्तु के अनुसार उनके निम्न स्रोत बताये गए हैं :–

1. राधा–कृष्ण, नल–दमयन्ती, भर्तृहरि, आदि सम्बन्धी प्राचीन भारतीय कथाओं पर आधारित रचनायें ।

2. फारसी–अरबी से अनूदित यूसुफ–जुलैखा, शीरीं–फरहाद, लैला–मजनूं आदि की प्रेम–कथाएं ।

3. पंजाबी की अपनी लोक कथाओं पर आधारित रचनायें जैसे – हीर–रांझा, सोहणी–महीवाल, पूरण–भक्त, रसालू आदि ।

4. बलोची, सिंधी, राजस्थानी आदि भाषाओं के प्रचलित आख्यानों के आधार पर रचित सस्सी, ढोला–मारु आदि आख्यान ।[5]

उपर्युक्त वर्गीकरण केवल अधूरे स्रोत सम्बन्धी आधार पर स्थित है । वस्तु एवं अभिव्यक्ति पक्ष की भिन्नता की ओर इसमें कोई ध्यान नहीं रखा गया है । फिर पंजाबी के विस्तृत किस्सा–साहित्य का अधिकांश उपर्युक्त वर्गीकरण से एकदम अछूता रह जाता है ।

शैलीगत वर्गीकरण

डॉ० गोपाल सिंह पंजाबी आख्यानक रचना को दो भागों में विभाजित करते हैं – 'कथा–काव' तथा 'किस्सा–काव' ।[6]

कथा काव

पद्य में किसी छोटी कहानी का वर्णन ही वे कथा–काव स्वीकार करते हैं ।[7] इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरण स्वरूप वे राजा विक्रम, भरथरी, गोपीचन्द, रसालू, पूर्ण, रानी पिंगला, भानमती, मैनावती, कोकिला, ईछरा, पंज फूलां, गोरखनाथ, मछिंदरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) आदि सम्बन्धी कथा–चक्रों के नाम प्रस्तुत करते हैं ।[8]

किस्सा–काव

किस्सा–काव अथवा मीट्रिकल रोमांस को वे लौकिक प्रणय सम्बन्धी वर्णनात्मक रचनाओं का महत्त्वपूर्ण वर्ग स्वीकार करते हैं । हीर, सोहणी, सस्सी तथा जुलैखा आदि के आख्यान उदाहरण रूप में उपस्थित किए गए हैं ।

उनके इस वर्गीकरण से दो बातें झलकती हैं । उन्होंने दोनों प्रकार की रचनाओं में विषय एवं शैली, दोनों तत्त्वों की भिन्नता की ओर ध्यान रखा है । प्रथम प्रकार की रचनाओं में वे

---

5. **साहित्त प्रकाश**, परमिन्दर सिंह, किरपाल सिंह कसेल, पृष्ठ 80–81
6. **साहित्त दी परख**, डा० गोपाल सिंह, पृष्ठ 70–71,
पंजाबी अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1956
7. वही०, पृष्ठ 71
8. वही०, पृष्ठ 71

निजंधरी, कल्पनाशील, लोक–कथा के अलौकिक एवं चमत्कारी तत्त्वों से प्रभावित पद्य में रचित, छोटी–छोटी कथा रचनाओं को स्वीकार करते हैं । दूसरे वर्ग में वे उन लोक प्रचलित प्रणय–कथाओं को लेते हैं जो तीव्र, भावुक प्रणय तथा विरह आदि की अलंकृत काव्य–शैली में अभिव्यक्त हुई हैं । यहां हमें संस्कृत की कथा तथा आख्यायिका के तत्त्वभेद की सी समस्या का सामना करना पड़ता है । परन्तु समाधान यहां भी दोनों के आकार–भेद और अलंकृति तथा इतिवृत्तात्मकता के आधार पर ही हो पाता है । प्रेम एवं विरह सम्बन्धी छोटी–छोटी पद्य कथाएं भी तो पंजाबी में कम नहीं हैं । इसी प्रकार प्रणय से रहित परन्तु लोक तत्त्वों एवं रहस्य–रोमांच से पूर्ण बड़े आकार की अलंकृत रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं । विद्वान लेखक के वर्गीकरण को ही अधिक पूर्ण बनाने के उद्देश्य से पंजाबी किस्सा–काव्य को काव्य–तत्त्व की विद्यमानता या अनुपस्थिति के आधार पर निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :–

1. पद्यात्मक–कथा : पद्यों में केवल कथा–वर्णन मात्र ।

2. कथा–काव्य : काव्य के रस, अलंकार आदि तत्त्वों से पूर्ण आख्यान–मूलक रचना ।

दोनों रूपों के परवर्ती दो–दो भेद किए जा सकते हैं ।

1. (क) प्रणय–मूलक किस्सा (पद्य–कथा)
   (ख) रहस्य–रोमांच पूर्ण किस्सा (पद्य–कथा)
2. (क) प्रणय–मूलक किस्सा–काव्य (कथा–काव्य)
   (ख) रहस्य–रोमांचपूर्ण किस्सा–काव्य (कथा–काव्य)

परन्तु इस वर्गीकरण को भी दोष–रहित तथा अन्तिम नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपर्युक्त विभिन्न काव्य रूपों में एक दूसरे के तत्त्वों का समावेश कुछ न कुछ अवश्य रहता है ।

किस्सा–साहित्य : प्रमुख–तत्त्व (रहस्य–रोमांच का किस्सा)

रोमांचक, निजंधरी कथाओं में डॉ० गोपाल सिंह के अनुसार – 'मूल भावनाओं – सन्देह, प्रणय–लालसा, घृणा, करुणा, भय, शौर्य, युद्ध, संघर्ष आदि का वर्णन रहता है । इनमें अलौकिक–कौतुक, जातीय मान्यताओं एवं परम्पराओं को भी सम्मिलित किया जाता है । वर्णन में ये सीधी–सादी, मांसल तथा सादगी से पूर्ण रचनायें होती हैं । इनमें नाटकीय–शक्ति की विद्यमानता भी इनका प्रमुख गुण है ।[9]

प्रणय–मूलक किस्सा

प्रणय–मूलक किस्सा–काव्य को वे सांसारिक–प्रेम, आकर्षण, विरह तथा संघर्ष की रचना मानते हैं । प्रणयी–जन जीवन पर्यन्त प्रतिकूल शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं । प्रणय के अतिरिक्त इनमें समकालीन लोकजीवन की परम्पराओं, रस्म–रिवाज, जातीय–गुणों, वर्ग–भेद, प्राकृतिक सौन्दर्य का भी चित्रण रहता है ।[10]

---

9. **साहित्त दी परख**, डा० गोपाल सिंह, पृष्ठ 73
10. **साहित्त दी परख**, डा० गोपाल सिंह, दिल्ली, 1950, पृष्ठ 71

दुःखान्त सम्बन्धी विचार

डा० सुरिन्द्र सिंह कोहली के अनुसार – 'प्रत्येक किस्सा एक प्रणयी युगल से संबंधित होता है । महाकाव्य के समान प्रत्येक किस्से के कार्य का आदि, मध्य तथा अन्त होता है । किस्सा प्रायः दुःखांत ही होता है, सुखान्त नहीं ।'[11] यहां निश्चय ही विद्वान लेखक का ध्यान केवल हीर–रांझा, सस्सी–पुन्नु, सोहणी–महिवाल तथा मिर्जा–साहिबां, आदि प्रणय-मूलक किस्सों की ओर ही है । पंजाबी साहित्य में इन प्रेमाख्यानों का महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी इस दुःखान्त सम्बन्धी मान्यता को ध्रुव सत्य एवं अनिवार्य तत्व स्वीकार कर लेने पर हम पंजाबी साहित्य–भण्डार के सैंकड़ों पौराणिक, निजंधरी, काल्पनिक, रहस्य-रोमांचपूर्ण तथा शौर्य के आख्यानक किस्सों के अस्तित्व पर गहरा आघात करेंगे । इसमें सन्देह नहीं कि पंजाबी के प्रमुख प्रणय–मूलक किस्से दुःखान्त हैं और उन पर फारसी–अरबी साहित्य परम्परा का प्रभाव निःसन्देह स्वीकार्य है ।

किस्सों का अलौकिक एवं रोमांसिक प्रेम

'साहित्त प्रकाश' नामक पुस्तक में किस्सों को प्रेम–कथा कहा गया है । इनका प्रणय अलौकिक, विचित्र तथा रोमांस–पूर्ण होता है । प्रेम की असाधारण घटनाओं द्वारा तथा प्रेम के लिए किये गए आदर्शवादी त्याग के कारण ये लोकप्रिय होते हैं । प्रेम इन रचनाओं की मूल समस्या होती है । सफलता अथवा असफलता किस्से को सुखान्त अथवा दुःखान्त बनाती है ।[12]

प्रणय–मार्ग तथा सामाजिक अवरोध

सामाजिक वातावरण प्रणय-मार्ग का सब से बड़ा अवरोध सिद्ध होता है । प्रणयीजन कभी-कभी छिप-छिप कर प्रणय व्यापार चलाते हैं और कभी खुले रूप में चुनौती स्वीकार कर के कष्ट सहन करने को उद्यत हो जाते हैं । प्रेमियों को प्रायः प्रतिक्रियावादी एवं रूढ़िवादी परम्पराओं के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है । अपनी रोमांचक तथा रोमानी अभिव्यक्ति के कारण ये किस्से लोकप्रिय होते हैं ।[13]

प्रेम–रोमांसिक तथा त्यागपूर्ण

'पंजाबी साहित्त दी उत्पत्ती ते विकास' नामक पुस्तक में प्रणय–मूलक एवं रोमांचकारी दोनों भेदों का तत्व विवेचन हुआ है ।

प्रणय-मूलक किस्सों का वर्णन करते हुए लेखक प्रेम को मनुष्य का आदि–स्वभाव कहते हैं । प्रेम के साथ रोमांस का अंश आ जाना लेखक स्वाभाविक मानते हैं । किस्सों में प्राप्त प्रणय का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि यह प्रेम बड़ा अलौकिक, विचित्र तथा रोमांचक होता है और प्रेमी के लिए किए गए आदर्श–पूर्ण बलिदान उन्हें बहुत प्रसिद्ध, लोक–प्रिय तथा सम्मानित बना

---

11. **साहित्त दी परख**, डा० गोपाल सिंह, दिल्ली, 1950, पृष्ठ 73

12. पंजाबी साहित, वस्तु ते विचार, डा० सुरिन्द्र सिंह कोहली, पृष्ठ 183–184

13. **साहित्त प्रकाश**, परमिन्दर सिंह, किरपाल सिंह कसेल, पृष्ठ 166–69

देते हैं । प्रेम के लिए बलिदान तथा त्याग करने वाले विरले ही होते हैं, इसलिए उनका व्यक्तित्व तथा उनसे संबंधित घटनायें भी कुछ अधिक असाधारण होती हैं ।[14]

प्रणय-मार्ग की कठिनाइयां तथा रहस्यात्मक उन्नयन

प्रणय-मार्ग की कठिनाइयों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि कई बार प्रेमी इन कठिनाइयों को पार करने में सफल होते हैं, तो कई बार सामाजिक अवरोधों के कारण सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं । अवरोधों का कारण वे प्रेमीजनों का जातिभेद अथवा आर्थिक, सामाजिक स्थिति का भेद मानते हैं । प्रणय के रहस्यात्मक पक्ष की ओर संकेत करते हुए उनका कथन है कि कुछ किस्सों में प्रणयीजनों के सांसारिक प्रणयाकर्षण का आत्मिक एवं आदर्शात्मक धरातल पर उन्नयन हो जाता है ।[15]

किस्सों के अन्य वर्ग

प्रेम के अतिरिक्त कई किस्से अप्राकृतिक तथा अतिप्राकृतिक जीवों, जिन्नों, भूतों, परियों, चुड़ेलों आदि से संबंधित होते हैं । इनमें भी कुछ पात्र मनुष्य हो सकते हैं जबकि कुछ अप्राकृतिक एवं दैवी शक्तियां । प्रेम-कथाओं में भी अप्राकृतिक तथा दैवी शक्तियां प्रेमीजनों की सहायता करके (कहीं–कहीं बाधा पहुँचा कर भी) प्रेम का आदर्श रूप प्रकट करने तथा घटनाओं को असाधारणता, नाटकीयता तथा रोचकता प्रदान करने में सहायक होती हैं । इनके अतिरिक्त चोरों, बागियों तथा डाकुओं आदि के किस्से भी मिलते हैं । किस्सा मध्यकाल का प्रमुख साहित्य-रूप होने के कारण इसमें दैवी-अंशों, भाग्यवाद एवं कर्मवाद तथा काल्पनिक तत्वों का आधिक्य रहा है ।[16]

समन्वयात्मक वर्गीकरण

किस्सा मूलतः आख्यानक रचना है । इस दृष्टि से आख्यान अथवा कथा इसका अनिवार्य मूलतत्व है । किसी भी वर्ग की किस्सा रचना के लिए आख्यान अथवा कथा–तत्व वह अनिवार्य आधार है, जिसके बिना किस्साकारी का भवन खड़ा ही नहीं हो सकता । पंजाबी विद्वानों के मतों के विवेचन एवं पंजाबी किस्सा–काव्य के विस्तृत अध्ययन के पश्चात् आख्यान तत्व के अतिरिक्त पंजाबी किस्सा काव्य को शैली, वस्तु, उपादेयता तथा प्रेरणास्रोत के आधार पर चार भिन्न–भिन्न दृष्टियों से वर्गीकृत–विवेचित किया जा सकता है ।

1. शैली अथवा अभिव्यक्ति पक्ष के आधार पर

इस दृष्टि से किस्सा साहित्य विधा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

(क) पद्यात्मक-कथा अथवा किस्सा

इसमें कथा मात्र पद्यों में वर्णित होती है । पंजाबी में इस कोटि के किस्सों की संख्या सैंकड़ों में हैं । इनका विषय प्रणय, रहस्य, रोमांच, युद्ध आदि कुछ भी हो सकता है ।

14. साहित्त प्रकाश, परमिन्दर सिंह, किरपाल सिंह कसेल, पृष्ठ 166–69
15. पंजाबी साहित्त दी उत्पत्ती ते विकास, परमिन्दर सिंह, किरपाल सिंह कसेल, पृष्ठ 125–126
16. वही०, पृष्ठ 125–126

(ख) पद्यात्मक कथा-काव्य अथवा किस्सा काव्य

इसमें कथा अथवा आख्यान तत्व मुख्य होने पर भी अभिव्यक्ति कलात्मक एवं काव्य के रस, अलंकार आदि तत्वों से पूर्ण होती है। कथा के साथ–साथ काव्य पक्ष भी पुष्ट रहता है। पंजाबी साहित्य में इस वर्ग में अधिकांश प्रणय–मूलक रचनायें ही आती हैं। कुछ पौराणिक तथा निजंधरी रचनायें भी इस वर्ग में पड़ती हैं। किस्सा–काव्य कोटि की रचनायें संख्या में कम होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से इन्हें ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है। यथार्थ में पंजाबी में अब तक इन्हीं पर कार्य हुआ भी है। परन्तु मानव–मानस के विकास, नृतत्व–शास्त्रीय विवेचन तथा समाज–शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अन्य प्रकार के किस्सों का मूल्य भी कम नहीं माना जा सकता।

2. कथा अथवा प्रेरणा–स्रोत के आधार पर

इस दृष्टि से किस्सों को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है :–

(क) पौराणिक तथा निजंधरी आख्यानों पर आधारित रचनाएं

इनमें रामायण, महाभारत, पुराणों आदि पर आधारित कथाओं एवं विक्रमादित्य, भर्तृहरि, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरख नाथ, गोपी चन्द, पूर्ण, राजा रसालू आदि प्राचीन ऐतिहासिक एवं अर्द्धैतिहासिक वृत्तों पर आधारित कथाओं को लिया जा सकता है।

(ख) प्रणय–मूलक अथवा लोकगाथात्मक–ग्राम व्यक्तियों से सम्बंधित कथायें

इनमें हम हीर-रांझा, सोहणी-महीवाल, सस्सी–पुन्नू, मिर्जा–साहिबां आदि स्थानीय तथा यूसुफ–जुलैखा, लैला–मजनूं, शीरीं–फरहाद, शाह बहराम, दिलखुरशैद आदि फारसी अरबी से प्रभावित रचनाओं की गणना कर सकते हैं।

(ग) विशुद्ध काल्पनिक रहस्य, रोमांच, अति प्राकृतिक तत्वों की चमत्कारी घटनाओं से पूर्ण रचनायें

इस वर्ग में रूप–बसन्त, रसालू, सिरकप, पूर्ण, दाऊद बादशाह, राजा जगदेव, राजा भानचन्द रानी महिन्दर कुमारी, राजकुमारी इन्दरा व राजा कामरूप आदि की कोटि के सैंकड़ों किस्सों को लिया जा सकता है। ऐसे किस्सों की बहुसंख्या में प्रणय का अभिप्राय भी रहता है, पर विशुद्ध शौर्य, वीरता, चातुरी तथा रहस्य एवं रोमांच की रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं।

3. विषय अथवा वस्तु के आधार पर

इस दृष्टि से किस्सों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :–

(क) प्रणय–मूलक किस्से

हीर–रांझा, सोहणी–महीवाल आदि।

(ख) वीरता, युद्ध, शौर्य अथवा नैतिकता के किस्से

पूर्ण, रसालू आदि।

(ग) **रहस्य रोमांच के किस्से**

रूप–बसन्त, रसालू, पूर्ण आदि ।

4. **उपादेयता अथवा उद्देश्य के आधार पर**

मनोरंजन, आत्मा का विस्तार अथवा मानव हृदय का उन्नयन साहित्यिक रचना का मुख्य उद्देश्य है । इस तत्व की पूर्णता या कमी तथा उपदेश आदि अन्य तत्वों की विद्यमानता के आधार पर किस्सों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

(क) **विशुद्ध मनोरंजन की रचनायें**

हीर–रांझा, रूप–बसंत आदि ।

(ख) **धार्मिक, मतवादी, नैतिक या विशिष्ट व्यवहार के उपदेश से सम्बन्धित रचनायें**

यूसुफ जुलैखा, पूर्ण आदि ।

पंजाबी किस्सों के उपर्युक्त वर्गीकरणों को भी पूर्णतया वैज्ञानिक एवं अन्तिम नहीं कहा जा सकता है । परन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शैली, प्रेरणा–स्रोत, वस्तु तथा उपादेयता आदि तत्वों पर आधारित ये वर्गीकरण सहायक सिद्ध हो सकते हैं ।

अध्याय 21

महाकवि तुलसीदास

हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान निर्धारित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था – "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सब से विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सब से बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती कंठ, भक्त चूड़ामणि, गोस्वामी तुलसीदास।" आचार्य शुक्ल के विशेषणों से किसी को कुछ मतभेद भले ही हो, उनके कथन की सार्थकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। हिन्दी के वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक की सुदीर्घ कालावधि में कथ्य अथवा कथन शैली किसी भी दृष्टि से तुलसी के समकक्ष किसी अन्य को रखा जा सके, यह प्रायः सम्भव प्रतीत नहीं होता।

तुलसी की महत्ता, उनकी दृष्टि की विशदता तथा उनके उद्देश्य की व्यापकता के सही मूल्यांकन के लिए उनके परिवेश पर दृष्टि डालना आवश्यक है। राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया पराजित, सामाजिक दृष्टि से पतन की चरमावस्था तक पहुंची, धार्मिक-वैचारिक दृष्टि से विशृंखलित तथा नैतिक दृष्टि से उच्छृंखलित भारतीय समाज-व्यवस्था में तुलसी का अवतरण एक अद्भुत घटना है। तुलसी अपने परिवेश की उपज मात्र न होकर उस देश व काल-विशेष की एक बहुत बड़ी मांग की पूर्ति के साधन रूप में अवतरित होते हैं। इस दृष्टि से पतित जाति की जागरण-कामना के प्रतीक रूप में उनका अभ्युदय होता है, जो जीवन के हर क्षेत्र को तथा समाज के सभी अंगोंपांगों को रमणीय से रमणीय तथा पूर्ण आदर्श प्रदान करने का प्रयास करता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तुलसी वैयक्तिक स्तर पर राम के उदात्त चरित तथा सामाजिक आदर्श की दृष्टि से रामराज्य की अन्यतम कल्पनाओं का आश्रय लेकर प्रस्तुत होते हैं। राम के प्रति उनकी भक्ति तथा रामराज्य के प्रति उनकी आस्था का स्वर नैराश्यमय नहीं है। इसमें उस शक्ति का बीज निहित है, जो किसी पतित व निराश जाति को फिर से उठा कर खड़ा कर सकती है। जाति किस सीमा तक फिर उठ कर खड़ी हो सकी, यह अलग प्रश्न है पर इससे तुलसी के महत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

राम तथा राम-परिवार के आदर्श जीवन के माध्यम से तुलसी यथार्थ रूप में वैसे ही जीवन व समाज की कामना करते हैं। उनका रामराज्य का आदर्श मात्र राजा का आदर्श न होकर समाज के प्रत्येक वर्ग व वर्ण के व्यक्ति का आदर्श है। मानव-जीवन की सुख-दुख, लाभ- हानि, यश-अपयश, सुअवसर-कुअवसर, मिलन-वियोग सब प्रकार की द्वन्द्वपूर्ण स्थितियों में मानव का आदर्श व्यवहार क्या होना चाहिए, यह तुलसी ने स्पष्ट किया है। तुलसी द्वारा प्रस्थापित भक्ति का राजमार्ग भी सब के लिए खुला है। स्वयं कट्टर मर्यादावादी तथा वर्णाश्रम-

धर्म समर्थक होते हुए भी उनकी भक्ति द्विज-मात्र की वस्तु न होकर प्राणीमात्र के अधिकार-वृत्त में आ जाती है । उनकी भक्ति व भक्तों के क्षेत्र-में केवल हिन्दू ही नहीं आर्य-अनार्य, उच्च-निम्न सभी वर्गों के व्यक्ति पावन एवं सम्मानित स्थान के अधिकारी हैं । गणिका, व्याध, भिल्ल, निषाद तथा रीछ-वानरों तक की अनन्य भक्ति एवं मुक्ति के उदाहरण द्वारा वह सब में आशा का संचार करते हैं । मानवता के उदात्त तत्वों की स्थापना तथा दानवता का निर्वासन उनका महानतम सन्देश है । रावण तथा उसके परिजन खलता, चोरी, परद्रोहासंक्ति, परदारासक्ति, परधनासक्ति, परनिंदासक्ति तथा गुरुजनों का अपमान करने के दानवी गुणों के प्रतीक हैं । राम तथा राम समाज निर्भीकता, दानशीलता, क्षमाशीलता, तेजस्विता, शुचिता, सत्यपरायणता, धर्मपरायणता, लोभहीनता, अभिमान-शून्यता, अद्रोह, तपस्या, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम, अहिंसा, शान्ति, त्याग, ज्ञान, सरलता तथा मृदुता आदि मानवीय गुणों के साक्षात आगार हैं । इन विरोधी गुणों का संघर्ष तथा सद्‌गुणों की विजय तुलसी के काव्य का महत् आयोजन एवं महदुद्देश्य है । वैयक्तिक चरित्र की उच्चता तथा सामाजिक व्यवस्था की उत्कृष्टता तुलसी का श्रेयस एवं काम्य है । इस महदुद्देश्य की सिद्धि में उनकी महान कल्पना, महत् काव्य योजना एवं महती काव्य-प्रतिभा अद्‌भुत रचना संसार का प्रणयन करके सफल सिद्ध होती है ।

तुलसी एक बृहत् पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति-योजना के साथ अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त होते हैं । भक्ति इस क्रान्ति-योजना की आधार शिला है तथा आदर्श समाज-व्यवस्था उसका लक्ष्य । रामराज्य उस आदर्श समाज-व्यवस्था का कल्पित रूपक है । उनका समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा । इस धर्म अथवा आदर्श में लोक संचालन के लिए ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामंजस्य घटित हुआ है, तथा जिसके अनुसार केवल कर्मों को ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई है । इस दृष्टि से तुलसी को शास्त्रवादी अथवा पुरातनवादी भी कहा जा सकता है । परन्तु उनके अपने देशकाल के संदर्भ में उन शास्त्रीय मूल्यों की पुनः स्थापना की कामना एवं कल्पना भी सुनिश्चित क्रान्तिकारी योजना ही कहलायेगी ।

यह सब होने पर भी तुलसी की महान कल्पना की विडम्बना एवं विफलता भी उनके जीवनकाल में ही प्रत्यक्ष हो जाती है । जिस आदर्श को अपने कृतित्व द्वारा वह सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं, प्रकृत सामाजिक जीवन में उसके कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त माध्यम के अभाव के कारण वह किसी भी स्तर पर फलीभूत नहीं हो पाता । जिस समाज के उत्थान का स्वप्न वह देखते हैं वह राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र, आर्थिक दृष्टि से शोषित तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सतत ह्रासशील ही बना रहता है । मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त लेनिन आदि सशक्त क्रियाशील व्यक्तियों के सहयोग के कारण विश्व में एक शक्तिशाली तथा व्यापक सामाजिक- राजनीतिक तन्त्र की स्थापना के रूप में फलित होते हैं । भारत में भी तथागत के उपदेश अशोक प्रभृति आस्थावान तथा सशक्त शासकों के माध्यम से आधे विश्व के जीवन्त धर्म-दर्शन बन चुके हैं । परन्तु तुलसी का समाज इस प्रकार का कोई भी साधन प्रदान करने में

सफल नहीं हो सका । इसका कारण तत्कालीन भारतीय इतिहास की अपनी निजी स्थिति एवं परिस्थिति ही रही है । परिणामस्वरूप तुलसी की महान आदर्श-कल्पना जाति की मानसिक क्षतिपूर्ति एवं भावात्मक क्षुधामुक्ति का बहुत बड़ा आधार तो बन सकी, परन्तु प्रकृत सामाजिक जीवन में किसी विशेष परिवर्तन में वह सफल नहीं हो सकी । 'विनयपत्रिका' निराश व हताश कवि के इस भीषण आत्मसंघर्ष को पूरी तरह प्रकट करती है । अपनी अस्तवेला में कवि ने यह स्पष्ट बोध प्राप्त कर लिया है कि उसका काम्य किसी भी स्तर पर उसके निकट नहीं आ पाया है । कलि-काल वर्णन तथा राम के हजूर में उसकी विनय-याचिका उसकी इस विफलकाम अवस्था के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

यह सब होने पर भी तुलसी की महानता पर रंचमात्र भी कलंक की कल्पना नहीं हो सकती । एक सजग कवि तथा लोक संग्रहाकांक्षी सामाजिक के रूप में भारतीय समाज के लिए तुलसी की देन अद्‌भुत है, अतुलनीय है, श्लाघ्य है तथा वन्दनीय है ।

अध्याय 22

तुलसी के राम : आदर्शों का नव मूल्यांकन

तुलसी भक्ति के लिए विश्वास का तत्त्व अनिवार्य मानते हैं :–

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहि न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम ।।[1]

दास-दास्य भाव की यह भक्ति विशिष्ट सामन्ती मानवीय सम्बन्धों की उपज है । स्वामी के व्यक्तित्व के महत्व को अतर्कित रूप में स्वीकारना सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है । सामन्ती व्यवस्था के साथ उसकी विशेष शास्त्रीय दृष्टि, नीति, मर्यादा, मानवीय सम्बन्धों आदि से सम्बद्ध मूल्य अनिवार्य रूप में जुड़े होते हैं । स्वच्छन्द सामाजिक दृष्टि व सम्बन्धों का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं रहता । यही कारण है कि सूर, कबीर, जायसी आदि के आराध्य व तुलसी के आराध्य में भारी अन्तर लक्षित होता है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार तुलसी की भक्ति केवल व्यक्तिगत एकांत साधना के रूप में नहीं है, व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमंगल की प्रेरणा करने वाली है । अतः उसमें ऐसे ही उपास्य की भावना हो सकती है, जो व्यावहारिक दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन करता दिखाई पड़े अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो ।[2] प्रश्न यह है कि क्या यह लोकरक्षा व लोकमंगल कुछ ऐसी वस्तु है जो सार्वजनीन व सार्वकालिक है । इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसकी धारणा एक विशेष संदर्भ व परिवेश में रूपाकार ग्रहण करती है । तुलसी के लोकमंगल व लोकरक्षण अब भी भारतीय मानस में पर्याप्त सीमा तक स्वीकृत हो सकते हैं, परन्तु हैं वे सुनिश्चित विशिष्ट सामन्ती आदर्श परिकल्पना पर आधारित ही । अर्थात् विशेष मानवीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही तुलसी ने सत् और असत् कार्यव्यवहार को अपने लोकरक्षण एवं लोकरंजन के तत्वों के निर्धारक रूप में स्वीकार किया है, जो सुनिश्चित सर्वकालीन एवं सर्वदेशीय नहीं हो सकते ।

तुलसी ने उस भक्ति पद्धति तक की निन्दा की है जिसमें लोकधर्म की उपेक्षा हो तथा जिसके भीतर समाज के श्रद्धापात्रों के प्रति द्वेष छिपा हो ।[3] इससे स्पष्ट है कि उसके लिए समाज का एक विशेष ढांचा महत्त्वपूर्ण है और व्यक्ति गौण है । व्यक्ति की अपनी सापेक्षिक सार्थकता उस ढाँचे के प्रति अधिकाधिक अनुकूल एवं अनुरूप होने में ही है ।

---

1. तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. तुलसी की काव्यकला, भाग्यवती सिंह

कहा जाता है कि गोस्वामी जी लोकदर्शी भक्त थे, अतः मर्यादा की भावना उनमें हम बराबर पाते हैं। राम के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुभव करते हुए भी वे उनके सामने अपनी बात करने अदब-कायदे के साथ जाते हैं। माधुर्य भाव की उपासना से उनकी उपासना की मानसिक पद्धति स्पष्ट अलग दिखाई देती है। 'विनय-पत्रिका' इसका अच्छा उदाहरण है।[4]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानव की विशुद्ध रागात्मिका वृत्ति के स्थान पर उसकी सामाजिक मर्यादा तुलसी के लिए अधिक स्पृहणीय है। अपने पूज्य उपास्य सम्बन्धी उनकी धारणा में सामन्त या राजा की श्रेष्ठता की सहज मानसिक स्वीकृति प्रकट है। इसमें सन्देह नहीं कि वरीयता की स्वीकृति का आधार पात्र की सामाजिक नैतिकता की उच्चता ही है, पर इस नैतिकता का आधार भी विशिष्ट-कालीन समाज की आवश्यकता पर आधृत है, जो सुनिश्चित सार्वकालिक एवं सार्वजनीन नहीं हो सकता। राम आज के जनतांत्रिक समाज में, यदि उनके सम्बन्ध में हमारी प्राचीन एवं मध्यकालीन ईश्वरत्व की धारणा को अलग करके देखा जाए तो हमारे लिए उसी प्रकार के आदर्श नहीं हो सकते जैसे वह तुलसी के लिए थे।

'विनयपत्रिका' में तुलसी लोकप्रतिनिधि के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वह कलि की अनीति और अत्याचार से रक्षा चाहते हैं, जिनसे केवल वह ही नहीं, समस्त लोक पीड़ित है। उनकी मंगलाशा के भीतर जगत की मंगलाशा छिपी हुई है। वह अपने को लोक से असम्बद्ध करके नहीं देखते। उन्हें उनके आराध्य राम किसी एकान्त कोने में नहीं मिलते, भरे दरबार में, खुले संसार में मिलते हैं।[5] तुलसी वस्तुतः वह लोक प्रतिनिधि हैं, जो एक विशेष समाज-व्यवस्था में समाज के बहुवर्ग की प्रार्थना लेकर अपने स्वामी के दरबार में हाजिर होते हैं। यहां कलि की अनीति भी विचारणीय है। कलि व उसकी अनीति पर मध्यकालीन विश्वास की दृष्टि से यहां विचार नहीं हो सकता, तुलसी कर सकते थे। तुलसी व राम पर मध्यकालीन दृष्टि से भक्ति रखने वाले महानुभाव अब भी कर सकते हैं। कलि की अनीति से तात्पर्य एक व्यवस्था-विशेष के छिन्न-भिन्न होने का संकेत है, जिसे शास्त्रीय मानस सहज स्वीकार नहीं कर सकता। मान-मर्यादाएं टूट रही हैं और तुलसी अपनी अर्जी लेकर उस व्यक्ति के पास हाज़िर होते हैं, जो उन मर्यादाओं का रक्षक, पोषक और किसी सीमा तक निर्णायक स्वीकार किया जा सकता है। वह कोने में उनसे न मिल कर भरे दरबार व खुले संसार में मिलता है। राजा (विशेष संदर्भ में आदर्श ही सही) तथा प्रजा के एक ऐसे प्रतिनिधि का सम्बन्ध-बोध यहां सहज हो जाता है, जिसे उन मर्यादाओं के खण्डित होने की आशंका है। पहली विचारणीय बात तो यह है कि ये मर्यादाएं ही सतत् परिवर्तमान समाज-व्यवस्था में अपरिवर्तनीय एवं अतर्कित नहीं हैं, दूसरे उनके निराकरण की दरबारी पद्धति तो सुनिश्चित आज इतिहास की वस्तु है, अतः चिरन्तन नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह मानवीय सम्बन्ध अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ में स्पष्ट हो जाता है।

इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल का कथन है – 'विनयपत्रिका' रामचन्द्र के दरबार में गुजरने वाली अर्जी है, जिसकी तहरीर जबरदस्त है। यह अर्ज़ी यों ही बाला-बाला नहीं भेज दी

4. विनय-पत्रिका, तुलसीदास
5. विनय-पत्रिका, तुलसीदास

जाती है । कायदे के खिलाफ काम करने वाले – मर्यादा का भंग करने वाले – आदमी तुलसीदास जी नहीं हैं । बीच के देवताओं और मुसाहिबों के पास से होती हुई तब यह अर्जी हजूर में गुजरती है । वहां पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं । हनुमान् और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं) तब लक्ष्मण धीरे से अर्जी पेश करते हैं,और लोग भी जोर देते हैं । अन्त में महाराजाधिराज हँस कर यह कहते हुए कि 'मुझे इसकी खबर है', मंजूरी लिख देते हैं ।[6]

इस कथन के बाद व्यवस्था विशेष का स्पष्टीकरण संभवतः आवश्यक नहीं । आचार्य शुक्ल को यह सम्बन्ध बहुत सहज लगा और वह इसे लोकरक्षक व लोकमंगलकारी मानते भी हैं । तुलसी जिस परम्परा से सम्बद्ध हैं उसमें यह सहज ही है पर आज हम उसे इसी रूप में मनसा स्वीकार कर सकें यह सम्भव नहीं । यह मानने में कोई संकोच नहीं कि आज की हमारी व्यवस्था भी पारिवारिक तथा बृहत्तर सामाजिक संदर्भ में सतही जनतांत्रिक ही है और सम्भवतः अपनी अर्जी पेश करने में हमें हर कदम पर इससे भी अधिक निम्न अथवा नीच स्तर पर उतरना पड़े ...... उतरना पड़ता है ...... परन्तु यह हमारे काल के मान अथवा मर्यादा रूप में किसी के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकता । तुलसी को यह सम्बन्ध व यह व्यवहार ही सहज एवं मर्यादापूर्ण लगना स्वाभाविक था । परन्तु आज यही सम्बन्ध एवं व्यवहार निश्चित ही अपमानपूर्ण, घटिया, सामन्ती और मजबूरी का प्रतीक होगा । किसी बाध्यता में ऐसी अर्जी इसी रूप में पेश करने व स्वीकार करवाने के बाद, छिपे मुंह ही सही, हम उस दरबार, दरबारी वातावरण, राजाधिराज (आज के सन्दर्भ में कोई उच्च अधिकारी या मन्त्री ही सही) तथा स्वयं अपने को भी क्षमा नहीं कर सकते । कम से कम अपने व्यक्तित्व की अवमानना व खण्डन से इन्कार तो कदापि नहीं कर सकते । तुलसी के लिए यह सहज व्यवहार था, इसलिए अपने महाराजाधिराज की वरीयता व अपनी हीनता की स्वीकृति भी उनके लिए सहज, काम्य एवं स्वीकार्य है । लेकिन आज के सन्दर्भ में इस प्रकार के व्यवहार से हमारा व्यक्तित्व जिस रूप में खण्डित होगा उससे कुंठा, हीनता तथा परिणामतः कुछ परिस्थितियों में विरोध एवं विद्रोह ही सहज एवं स्वाभाविक होंगे । अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामन्ती व्यवस्था का उच्छेदन, उच्छेदन के प्रयास तथा उसका जनतांत्रीकरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । यदि कहीं उस प्रकार की व्यवस्था किसी भी रूप में विद्यमान है भी तो वहां के भुक्तभोगियों की कुंठाग्रस्त स्थिति प्रकट ही है । वे इसे मर्यादा, आदर्श एवं महनीय स्वागतयोग्य गुण तो कदापि स्वीकार नहीं करते । तुलसी के मानवीय सम्बन्धों व लोकमर्यादा, लोककल्याण एवं लोकरक्षण की धारणा में उपर्युक्त स्वामी-सेवक सम्बन्ध को विशिष्टकालीन सन्दर्भ में देखना ही उचित होगा ।

इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृति की उदारता है कि इसमें लघु से लघु और महान् से महान् भी समान देखे जा सकते हैं । शरण में आया हुआ किसी भी वर्ण का व्यक्ति रक्षणीय है । शत्रु के भाई विभीषण के राम की शरण में आने का उदाहरण प्रस्तुत

---

6. तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

किया जाता है ।[7] परन्तु राम की यह उक्ति लघु से लघु और महान् से महान् की कथित समता की कहीं गवाही देती प्रतीत नहीं होती –

जो सभीत आवा सरनाईं । रखिहौं ताहि प्रान की नाईं ।।[8]

शौर्य (शिवाल्री) सामन्त का विशिष्ट गुण है । सामन्त शरणागत तो क्या, प्राणहीन नगण्य वस्तुओं अथवा पशु-प्राणियों के लिए प्राणों तक को न्यौछावर कर सकता है ।[9] उसके यह उपादेयता की दृष्टि से देखा जाने वाला कार्य न होकर विशुद्ध सम्मान का प्रश्न होता है । उस अवस्था में राम द्वारा सभीत शरणागत की निज प्राणसम रक्षा अपने वास्तविक संदर्भ में ही विचारणीय है । राम के अगले कथन में सामन्त की वचन पालन में विफलता-जन्य विकलता दृष्टव्य है । इसे विशिष्ट उदारता आदि के विशेषणों से सुसज्जित करना हमारे पूर्वाग्रह का द्योतक होगा । लक्ष्मण की मूर्च्छा राम के लिए भीषण आघात है । वह सम्भवतः लक्ष्मण सहित ही प्राण छोड़ने का निर्णय करते हैं, परन्तु उन्हें अधिक दुःख इस बात का है कि उनके प्रण-पालन न कर पाने की स्थिति में विभीषण की क्या अवस्था होगी ।[10]

तुलसी द्वारा रचित राम के चरित्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि किसी भी जाति की काव्य–प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी, कदाचित् हमें उनका एक महान आदरणीय रूप राम के चरित्र में देखने को मिलता है ।[11] सीमित परिवेश में यह कथन पूर्णतः सार्थक है, परन्तु मानव–विकास के विविध सोपानों की दृष्टि से इस मान्यता का देश व काल असीम न होकर बहुत परिमित है ।

इस सम्बन्ध में ये शब्द भी विचारणीय हैं – उनका चरित्र, सत्यप्रियता, दृढ़ता, क्षोभहीनता, कृतज्ञता, स्निग्धहृदयता, दृढ़ विश्वास, अदम्य उत्साह, अन्तःकरण की पवित्रता, गम्भीरता, धीरता, क्षमाशीलता, दानशीलता, सब से अधिक एक निष्ठावान व्यक्तित्व का मूर्तिमान रूप है । अव्यवस्था, अनैतिकता, अधार्मिकता और अनास्तिकता के स्थान पर व्यवस्था, नैतिकता, धार्मिकता और आस्तिकता का संस्थापन करने के हेतु एक ऐसे ही पूर्ण चरित्र की ईश्वर रूप में दिव्य कल्पना कीजिये । यही तुलसी के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं । इसी पूर्व चरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने में गोस्वामी जी की प्रतिभा लीन होती है । क्या इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद हो सकता है ।[12] दृढ़ता, कृतज्ञता, गम्भीरता, पवित्रता, क्षमाशीलता, दानशीलता आदि विशेष सामाजिक स्थिति में विशेष अर्थ-द्योतन में सक्षम हैं । यह सुनिश्चित है कि सामन्ती समाज की क्षमाशीलता तथा दानशीलता प्रजातंत्रीय समाजवादी समाज व्यवस्थाओं में बुर्जुआ मूल्य तथा अवांछित अवगुण स्वीकार हो सकते हैं । इसी प्रकार

7. **कवितावली**
8. **विनयपत्रिका**
9. **सन्तगुरु रविदास**, सं. पृथ्वी सिंह आजाद, मैथिलप्रसाद भारद्वाज का लेख
10. **राम चरित मानस**, तुलसीदास
11. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
12. **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग–2

दृढ़ता–गम्भीरता भी विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न अर्थ दे सकते हैं। पवित्रता तो सर्वाधिक विवादास्पद गुण अथवा अवगुण है। एक समाज में पवित्र वस्तु, व्यक्ति, व्यवहार या मान्यता अन्य समाज के लिए अपवित्र अथवा मूल्यहीन हो सकते हैं, प्रायः होते हैं। देश के व्यवधान में तो अन्तर आज भी दृष्टव्य है। काल के व्यवधान में होने वाले अन्तर के प्रमाण इतिहास ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं।[13] निष्कर्षतः यह गुण–समूह किसी भी जाति की कभी भी की गई उदात्त गुण–कल्पना न होकर किसी जाति की काल–विशेष की उदात्त कल्पना का उच्चतम रूप अवश्य स्वीकार्य है। यह कथन अवश्य मान्य है कि यह तुलसी के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं। इसी पूर्वचरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने में गोस्वामी जी की प्रतिभा लीन होती है।

कहा गया है कि 'हिन्दू जाति के आचार–विचार पर इस महान आदर्श चरित्र का कितना गम्भीर प्रभाव पड़ा है यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। राम का आचरण और स्वभाव इस भाँति निर्मल और उच्च–कोटि का है, जिस प्रकार का एक दैवी पुरुष में हो सकता है।'[14] हिन्दू जाति के आचार–विचार की दृष्टि से निःसन्देह राम का चरित्र उसके उच्चतम काम्य को छूता है तथा भारतीय काव्य–इतिहास–पुराण में इस दृष्टि से राम का समतुल्य अन्य कोई भी व्यक्तित्व दृष्टिगत नहीं होता। परन्तु हिन्दू जाति के आचार–विचार को ही चिरन्तन तथा दैवी कैसे स्वीकार किया जाए। यदि हिन्दू जाति को हम वैदिक समाज से आधुनिक समाज तक की मुख्य जीवनधारा के रूप में स्वीकार करें, तो भी राम का चरित्र सर्वत्र एक समान प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता। पौराणिक भारतीय धर्म से आधुनिक हिन्दू धर्म तक के लिए यह आदर्श अवश्य महिमामय रहा है, परन्तु जब हिन्दू शब्द ही अर्थ बदल रहा है, तो राम की चरित्र सम्बन्धी मान्यताओं का स्थिर रहना कैसे सम्भव है। चतुर्वर्ण, जातिप्रथा आदि हिन्दू धर्म के तथाकथित आधार रहे हैं। आज ये संगत नहीं हैं, इसलिए हिन्दू शब्द व उससे सम्बद्ध आदर्श भी उसी रूप में असंगत हैं। इस दृष्टि से अपने इतिहास–पुराण के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में तुलसी के राम मान्य हो सकते हैं, जबकि आज के हिन्दुत्व के आदर्श के रूप में अपूर्ण एवं विसंगत। अवतारवाद की धारणा इस विसंगति को और भी गहरा देती है। तुलसी विश्वास व भक्ति से युक्त होकर अपने आराध्य भगवान् राम का गुण एवं चरित्र–गान करने निकलते हैं, इसीलिए उनका चरित्र अंकन अपने विशेष संदर्भ में संगत है। आज का हिन्दू मानस उस विश्वास और भक्ति से मुक्त होकर तुलसी के उस चरित्र को उसी संगत दृष्टि से देखने में अक्षम हो तो अस्वाभाविक नहीं होगा। ऐतिहासिक तथ्य के रूप में वह रावण पर राम की विजय चाहेगा जबकि स्वयं व्यावहारिक जीवन में रावण की भूमिका में स्वेच्छापूर्वक सहज जीवन जी लेगा।

यहां विशेष सामाजिक और स्थायी मूल्यों के विभेद का प्रश्न उठाया जा सकता है। सामाजिक मूल्य तो निश्चय ही बहुत ही अल्पकालिक होते हैं, पर जिन्हें स्थायी मानवीय मूल्यों के रूप में परिगणित करने की हमें आदत पड़ गई है, वे भी उतने ही स्थायी नहीं माने जा सकते। मानव जीवन का स्थायी धर्म भी जैवेष्णा ही स्वीकार किया जा सकता है। अन्य मूल्यों

---

13. परिशोध-11 मैथिलीप्रसाद भारद्वाज के दो लेख
14. तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

की यही निर्धारिका वृत्ति है ।[15] इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचय, असंग्रह आदि के स्थायी मूल्य भी सन्दर्भ बदलने पर विसंगत हो जाते हैं । ध्रुववासी के लिए, तिब्बत के हिमप्रदेश के निवासी के लिए अथवा अफ्रीका के बनवासी के लिए अहिंसा मूल्यहीन है, अपने स्थूल रूप में अव्यवहार्य तथा सूक्ष्म भावात्मक अर्थों में अनावश्यक । इसे इसकी यथार्थता में देख सकने के लिए हमारे लिए एक मोह से मुक्त होना परमावश्यक है कि भारतीय ही श्रेष्ठतम मानव रहे हैं और इसी से उनके मूल्य भी श्रेष्ठतम हैं । उपर्युक्त पूर्वाग्रह की अवस्था में तो अन्य सब या तो वानर, रीछ, राक्षस, दानव नजर आयेंगे या म्लेच्छ, नीच और धर्महीन । यही तथ्य अन्य मूल्यों के सम्बन्ध में भी दुहराया जा सकता है । इस दृष्टि से भारतीय परिवेश में मध्यकालीन हिन्दुत्व तथा समकालीन भारतीयता में बहुत कुछ समान होने से राम के चरित्र के अनेक मानवीय मूल्य अब भी महत्त्वपूर्ण एवं मान्य हो सकते हैं । परन्तु मूल्यों के परिवर्तन की वर्तमान गति को देखते हुए भविष्य में उनके सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की आशावादिता का कोई भरोसा नहीं । हां, जिस प्रकार मध्यकालीन हिन्दुत्व संशोधित रूप में आज भी चल रहा है, वैसे ही तुलसी के राम संशोधित रूप में सम्भवतः स्वीकार्य हो सकते हैं । आज तुलसी के राम को चिरन्तन आदर्श के रूप में स्वीकार करना आत्म–प्रवंचना ही सिद्ध हो सकती है ।

---

15. नवम गुरु पर बारह निबंध (सं) रमेश कुन्तल मेघ, मैथिली प्रसाद भारद्वाज का लेख

अध्याय 23

'तुलसी काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता'

प्रासंगिकता का प्रश्न उस बुनियादी सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ है जो यह कहता है कि जिस वस्तु, तथ्य, शब्द, विचार अथवा प्रक्रिया की बृहत्तर पर्यावरण में उपयोगिता और आवश्यकता समाप्त हो जाए वह जीवित नहीं रह सकता। भाषा–विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणीविज्ञान और समाजशास्त्र –– सब इस बुनियादी सिद्धांत का रेखांकन करते हैं। इसी सिद्धांत के संदर्भ में जब प्रश्न पूछा जाए कि क्या तुलसी साहित्य प्रासंगिक है ? तो इसका उत्तर यही होगा कि यदि वह पूरे मान–सम्मान तथा साहित्यिक–सामाजिक–मतवादी मान्यता के साथ आज जीवित है, मान्य है और अधिकाधिक चर्चा–परिचर्चा का आधार बना हुआ है तो सुनिश्चित रूप में वह अवश्य प्रासंगिक होगा।

प्रासंगिकता का दूसरा पक्ष हमारी क्लासिक्स संबंधी धारणाओं से जुड़ा हुआ है। मेरे परमादरणीय गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – काल देवता सदा अपनी छलनी हाथ में लिए युग–युगों में मानवीय उपक्रमों की सब उपलब्धियों को उसमें छानता रहता है। सारहीन, निरर्थक, अल्पकालीन तथा केवल समकालीन महत्त्व का सब समय–समय पर छन कर गिरता जाता है। बचता वही है जो सारवान है, जो देश तथा काल की सीमाओं का अतिक्रमण करने में समर्थ है, तथा यही क्लासिक्स के वर्ग में गणनीय है। तुलसी का काव्य इस कसौटी पर भी खरा उतरने के कारण श्रेष्ठ भारतीय क्लासिक्स का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, एवं प्रासंगिक है।

सार्थकता का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता से सम्बद्ध है। जातीय इतिहास में जब–जब जो–जो श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण और गरिमापूर्ण हो चुका है वही संपूर्ण जातीय अस्मिता का इतिहास बनाता है। यह जरूरी नहीं कि वह सब प्रत्येक काल में उपयोगी एवं व्यवहार्य हो। परन्तु जातीय मानसिकता, सामूहिक अवचेतन एवं अपनी समकालीन पहचान के लिए यह सब न केवल प्रासंगिक होता है, बल्कि रक्षणीय, प्रचारणीय तथा विचारणीय भी होता है। इस संदर्भ में भी तुलसी साहित्य की प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

फिर भी तुलसी काव्य और मुख्य रूप में उनके रामचरितमानस के संदर्भ में तात्विक दृष्टि से तुलसी की प्रासंगिकता पर विचार अपने विगत की सही समझ और आगत के सही व्यवस्थापन में अवश्य सहयोगी होगा।

तुलसी मध्यकालीन भारतीय समाज के श्रेष्ठ प्रकाशस्तम्भ के रूप में मान्य हैं। क्लासिकी मज़हबों (हिन्दू, इस्लाम, ईसाई) की छिन्न–भिन्नता मध्यकाल की विशेषता है। इस काल को

दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - पूर्वमध्यकाल–क्लासिकी सभ्यताओं के ह्रास का काल, तथा उत्तर मध्यकाल-- क्लासिकी व्यवस्था के विरुद्ध लोक के जागरण, विद्रोह, क्रान्ति और स्वतंत्रता के संघर्ष का उपक्रम । हिन्दी का भक्तिकाल इसी वैश्विक लोकजागरण की महत्त्वपूर्ण कड़ी है, और तुलसी इस कड़ी का एक सशक्त तत्त्व । यूरोप, अरब, ईरान और भारत की क्लासिकी सभ्यताओं के लिए यह काफी परिवर्तन, अवमूल्यन और विघटन का काल रहा है । भारत में भी हिन्दू और इस्लाम दोनों मज़हबों की रूढ़ मान्यताओं को कड़ा आघात प्राप्त होता है । इस्लामी शासन होने पर भी इस्लाम का अनुयायी लोक भी सामन्ती व्यवस्था में समान रूप से शोषित और दमित अनुभव कर रहा था । ऐसे अवसर पर तथा इस स्थिति में लोक इस व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न तरीकों से अपना विरोध और प्रतिक्रिया व्यक्त करता है । इस प्रतिक्रिया का एक रूप तो वह है जब नवजागरणशील लोक इस व्यवस्था से सम्बद्ध हर चीज़ के प्रति अपनी वितृष्णा तथा विरोध व्यक्त करता है, तो दूसरे रूप में वह भाव–भरे मन से प्राचीन ''अच्छे समयों'' को याद करके प्रकारान्तर से वर्तमान को अस्वीकार करता है । भारतीय संदर्भ में इस दृष्टि से कबीर, गुरुनानक और गुरु रविदास आदि प्रथम वर्ग के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं जो अपनी समकालीन आभिजात्य राजनीतिक, सामाजिक, मतवादी तथा सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बद्ध लगभग हर चीज़ का खण्डन करते हैं । दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि तुलसीदास हैं, जो कबीर और नानक की तरह अपनी समकालीन व्यवस्था से पूरी तरह असंतुष्ट तो थे, परन्तु इसका विकल्प और समाधान अपने कल्पित–आदर्श (यूटोपिया) रामराज्य में ढूंढने की कोशिश करते हैं, जो अपनी संरचना में साम्राज्यवादी होने पर भी प्रजावत्सल रूप में कल्पित हुआ है । इस पृष्ठभूमि में तुलसी की प्रासंगिकता पर विचार हो सकता है ।

हिन्दी साहित्य में तुलसी का स्थान निर्धारित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था – ''यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत–हृदय, भारती कण्ठ, भक्त चूड़ामणि, गोस्वामी तुलसीदास ।'' आचार्य शुक्ल के इन विशेषणों से किसी को कुछ मतभेद भले ही हो, उनके कथन की सार्थकता से इनकार नहीं किया जा सकता । तुलसी की महत्ता, उनकी दृष्टि की विशदता तथा उनके उद्देश्य की व्यापकता के सही मूल्यांकन के लिए उनके परिवेश पर दृष्टि डालना आवश्यक है । राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया पराजित, सामाजिक दृष्टि से पतन की चरमावस्था तक पहुंची, धार्मिक–वैचारिक दृष्टि से विश्रृंखलित तथा नैतिक दृष्टि से उच्छृंखल भारतीय समाज–व्यवस्था में तुलसी का अवतरण एक अद्भुत घटना है । तुलसी अपने परिवेश की उपज मात्र न होकर उस देश व काल–विशेष की एक बहुत बड़ी मांग की पूर्ति के साधन–रूप में अवतरित होते हैं । इस दृष्टि से पतित जाति की जागरण–कामना के प्रतीक रूप में उनका अभ्युदय होता है जो जीवन के हर क्षेत्र को तथा समाज के सभी अंगोंपांगों को रमणीय से रमणीय तथा पूर्ण आदर्श प्रदान करने का प्रयास करता है । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तुलसी वैयक्तिक स्तर पर राम के उदात्त चरित्र तथा सामाजिक आदर्श की दृष्टि से रामराज्य की अन्यतम कल्पनाओं का आश्रय लेकर प्रस्तुत होते हैं ।

राम के प्रति उनकी भक्ति तथा रामराज्य के प्रति उनकी आस्था का स्वर नैराश्यमय नहीं है। इसमें उस शक्ति का बीज निहित है जो किसी पतित और निराश जाति को फिर से उठाकर खड़ा कर सकता है। जाति किस सीमा तक फिर उठकर खड़ी हो सकी यह अलग प्रश्न है, पर इससे तुलसी के महत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

राम और राम–परिवार के आदर्श जीवन के माध्यम से तुलसी यथार्थ रूप में वैसे ही जीवन और समाज की कामना करते हैं। उनका रामराज्य का आदर्श मात्र राजा का आदर्श न होकर समाज के प्रत्येक वर्ग और वर्ण के व्यक्ति का आदर्श है। मानव जीवन की सुख–दुःख, लाभ–हानि, यश–अपयश, सुअवसर–कुअवसर, मिलन–वियोग सब प्रकार की द्वंद्व–पूर्ण स्थितियों में मानव का आदर्श व्यवहार क्या होना चाहिए, यह तुलसी ने स्पष्ट किया है। तुलसी द्वारा प्रस्थापित भक्ति का राजमार्ग भी सबके लिए खुला है। स्वयं कट्टर मर्यादावादी तथा वर्णाश्रम धर्म समर्थक होते हुए भी उनकी भक्ति द्विज–मात्र की वस्तु न होकर प्राणी–मात्र के अधिकार–वृत्त में आ जाती है। उनकी भक्ति और भक्तों के क्षेत्र में आर्य–अनार्य, उच्च–निम्न सभी वर्गों के व्यक्ति पावन एवं सम्मानित स्थान के अधिकारी हैं। गणिका, व्याध, भिल्ल, निषाद तथा रीछ–वानरों तक की अनन्य भक्ति और मुक्ति के उदाहरण द्वारा वह सब में आशा का संचार करते हैं। मानवता के उदात्त तत्वों की स्थापना तथा दानवता का निर्वासन उनका महानतम सन्देश है। रावण तथा उसके परिजन खलता, चोरी, परद्रोहासक्ति, परदारासक्ति, परधनासक्ति, परनिंदासक्ति तथा गुरुजन का अपमान करने के दानवी गुणों के प्रतीक हैं। राम और राम–समाज निर्भीकता, दानशीलता, क्षमाशीलता, तेजस्विता, शुचिता, सत्यपरायणता, धर्मपरायणता, लोभहीनता, अभिमानशून्यता, अद्रोह, तपस्या, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम, अहिंसा, शान्ति, त्याग, ज्ञान, सरलता, मृदुता आदि मानवीय गुणों के साक्षात आगार हैं। इन विरोधी गुणों का संघर्ष तथा सद्गुणों की विजय तुलसी के काव्य का महत् आयोजन और महदुद्देश्य है। वैयक्तिक चरित्र की उच्चता तथा सामाजिक व्यवस्था की उत्कृष्टता तुलसी का श्रेयस एवं काम्य है। इस महदुद्देश्य की सिद्धि में उनकी महान् कल्पना, महत् काव्य-योजना और महती काव्य-प्रतिभा अद्भुत रचना-संसार का प्रणयन करके सफल सिद्ध होते हैं।

तुलसी एक बृहत् पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति–योजना के साथ अपने कविकर्म में प्रवृत्त होते हैं। भक्ति इस क्रान्ति योजना की आधार–शिला है तथा आदर्श समाज–व्यवस्था उसका लक्ष्य। रामराज्य उस आदर्श समाज–व्यवस्था का कल्पित रूपक है। उनका समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा। इस धर्म अथवा आदर्श में लोकसंचालन के लिए ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवा बल का सामंजस्य घटित हुआ है, और जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई है। इस दृष्टि से तुलसी को शास्त्रवादी और पुरातनवादी भी कहा जा सकता है। परन्तु उनके अपने देश–काल के संदर्भ में उन शास्त्रीय मूल्यों की पुनःस्थापना की कामना और कल्पना भी सुनिश्चित क्रान्तिकारी योजना ही कहलाएगी।

यह सब होने पर भी तुलसी की महान् कल्पना की विडम्बना एवं विफलता भी उनके

जीवन–काल में ही प्रत्यक्ष हो जाती है । जिस आदर्श को अपने कृतित्व द्वारा वह सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं, प्रकृत सामाजिक जीवन में उसके कार्यान्वयन के लिए उपर्युक्त माध्यम के अभाव के कारण वह किसी भी स्तर पर फलीभूत नहीं हो पाता । जिस समाज के उत्थान का स्वप्न वह देखते हैं वह राजनीतिक दृष्टि से परास्त, आर्थिक दृष्टि से शोषित तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सतत ह्रासशील ही बना रहता है । मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त लेनिन आदि सशक्त, क्रियाशील व्यक्तियों के सहयोग से विश्व में एक शक्तिशाली तथा व्यापक सामाजिक–राजनीतिक तंत्र की स्थापना के रूप में फलित होते हैं । भारत में भी तथागत के उपदेश अशोक प्रभृति आस्थावान तथा सशक्त शासकों के माध्यम से आधे विश्व के जीवन्त धर्म–दर्शन बन चुके हैं । परन्तु तुलसी का समाज इस प्रकार का कोई भी माध्यम या साधन प्रदान करने में सफल नहीं हो सका । इसका कारण तत्कालीन भारतीय इतिहास की अपनी निजी स्थिति एवं परिस्थिति ही रही है । परिणामस्वरूप तुलसी की महान् आदर्श–कल्पना जाति की मानसिक क्षतिपूर्ति और भावात्मक क्षुधा–मुक्ति का बहुत बड़ा आधार तो बन सकी, परन्तु प्रकृत सामाजिक जीवन में किसी विशेष परिवर्तन में वह सफल नहीं हो सकी । 'विनय–पत्रिका' निराश और हताश कवि के इस भीषण आत्मसंघर्ष को पूरी तरह प्रकट करती है । अपनी अस्तबेला में कवि ने यह स्पष्ट बोध प्राप्त कर लिया कि उसका काम्य उसके निकट नहीं आ पाया । कलि–काल वर्णन तथा राम के हजूर में उसकी विनय–याचिका उसकी इस विफल–काम अवस्था के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

तुलसी काव्य की बृहत्तर प्रासंगिकता निर्विवाद होने पर भी समकालीन संदर्भों में उनकी राम–परिकल्पना, उनके सामाजिक आदर्श तथा मानवीय अन्तर्संबंध प्रश्नांकित हो सकते हैं । उन्हें यथावत स्वीकार करना आज के मानस के लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है । इस दृष्टि से कुछ कोणों से विचार अवश्य प्रासंगिक हो सकता है ।

तुलसी भक्ति के लिए विश्वास का तत्व अनिवार्य मानते हैं :

बिन बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विश्राम ।। उत्तरकाण्ड ।।

दास–दास्य भाव की यह भक्ति विशिष्ट सामन्ती मानवीय संबंधों की उपज है । स्वामी के व्यक्तित्व के महत्व को अतर्कित रूप में स्वीकारना सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है । सामन्ती व्यवस्था के साथ उसकी विशेष शास्त्रीय दृष्टि, नीति, मर्यादा, मानवीय संबंधों से जुड़े मूल्य अनिवार्य रूप में सम्बद्ध होते हैं । स्वच्छन्द सामाजिक दृष्टि व संबंधों का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं रहता । यही कारण है कि सूर, कबीर, जायसी आदि के आराध्य व तुलसी के आराध्य में भारी अन्तर लक्षित होता है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार तुलसी की भक्ति केवल व्यक्तिगत एकान्त साधना के रूप में नहीं है, व्यवहार–क्षेत्र के भीतर लोक–मंगल की प्रेरणा करने वाली है । अतः उसमें ऐसे ही उपास्य की भावना हो सकती है जो व्यावहारिक दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन करता दिखाई पड़े, अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो । प्रश्न यह है कि क्या यह लोकरक्षा व लोकमंगल कुछ ऐसी वस्तु है जो सार्वजनीन और सार्वकालिक हो ? इस संबंध में यह कहा जा सकता है

कि इसकी धारणा एक विशेष संदर्भ और परिवेश में रूपाकार ग्रहण करती है । तुलसी के लोकमंगल और लोकरक्षण अब भी भारतीय मानस में पर्याप्त सीमा तक स्वीकृत हो सकते हैं, परन्तु हैं वे सुनिश्चित विशिष्ट सामन्ती आदर्श–परिकल्पना पर आधारित ही । अर्थात् विशेष मानवीय संबंधों के संदर्भ में ही तुलसी ने सत और असत् कार्य–व्यवहार को अपने लोकरक्षण एवं लोकरंजन के तत्वों के निर्धारक रूप में स्वीकार किया है, जो सुनिश्चित सर्वकालीन तथा सर्वदेशीय नहीं हो सकते ।

तुलसी ने उस भक्ति पद्धति तक की निन्दा की है जिसमें लोकधर्म की उपेक्षा हो तथा जिसके भीतर समाज के श्रद्धा पात्रों के प्रति विद्वेष छिपा हो । इससे स्पष्ट है कि उसके लिए समाज का एक विशेष ढांचा महत्वपूर्ण है और व्यक्ति गौण है । व्यक्ति की अपनी सापेक्षिक सार्थकता उस ढाँचे के प्रति अधिकाधिक अनुकूल एवं अनुरूप होने में ही है ।

कहा जाता है कि गोस्वामी जी लोकदर्शी भक्त थे, अतः मर्यादा की भावना उनमें हम बराबर पाते हैं । राम के साथ अपने घनिष्ठ संबंध का अनुभव करते हुए भी वह उनके सामने अपनी बात करने अदब–कायदे के साथ जाते हैं । माधुर्य भाव की उपासना से उनकी उपासना की मानसिक पद्धति स्पष्ट अलग दिखाई देती है । 'विनय–पत्रिका' इसका अच्छा उदाहरण है । उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानव की विशुद्ध रागात्मिका वृत्ति के स्थान पर उसकी सामाजिक मर्यादा तुलसी के लिए अधिक स्पृहणीय है । अपने पूज्य–उपास्य संबंधी उनकी धारणा में सामन्त या राजा की श्रेष्ठता की सहज मानसिक स्वीकृति प्रकट है । इसमें सन्देह नहीं कि वरीयता की स्वीकृति का आधार पात्र की सामाजिक नैतिकता की उच्चता ही है, पर इस नैतिकता का आधार भी विशिष्टकालीन समाज की आवश्यकता पर आधृत है, जो सुनिश्चित, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन नहीं हो सकता । राम आज के जनतांत्रिक समाज में, यदि उनके संबंध में हमारी प्राचीन तथा मध्यकालीन ईश्वरत्व की धारणा को अलग करके देखा जाए तो, हमारे लिए उसी प्रकार के आदर्श नहीं हो सकते जैसे वह तुलसी के लिए थे ।

'विनय–पत्रिका ' में तुलसी लोक प्रतिनिधि के रूप में दिखाई पड़ते हैं । वह कलि की अनीति और अत्याचार से रक्षा चाहते हैं जिनसे, केवल वह ही नहीं, समस्त लोक पीड़ित है । उनकी मंगलाशा के भीतर जगत की मंगलाशा छिपी हुई है । वह अपने को लोक से असम्बद्ध करके नहीं देखते । उन्हें उनके आराध्य राम किसी एकान्त कोने में नहीं मिलते, भरे दरबार में, खुले संसार में मिलते हैं । तुलसी वस्तुतः वह लोकप्रतिनिधि हैं जो एक विशेष समाज–व्यवस्था में समाज के बहुवर्ग की प्रार्थना ले कर अपने स्वामी के दरबार में हाजिर होते हैं । यहां कलि की अनीति भी विचारणीय है । कलि और उसकी अनीति पर मध्यकालीन विश्वास की दृष्टि से यहां विचार नहीं हो सकता, तुलसी कर सकते थे, तुलसी और राम पर मध्यकालीन दृष्टि से भक्ति रखने वाले महानुभाव अब भी कर सकते हैं । कलि की अनीति से तात्पर्य एक व्यवस्था–विशेष के छिन्न–भिन्न होने का संकेत है, जिसे वैज्ञानिक मानस प्रतीक रूप में तो अवश्य पर वस्तु–सत्य रूप में सहज स्वीकार नहीं कर सकता । अन्य मर्यादाएं टूट रही हैं और तुलसी अपनी अर्जी लेकर उस व्यक्ति के पास हाजिर होते हैं जो उन मर्यादाओं का रक्षक, पोषक और किसी सीमा तक निर्णायक स्वीकार किया जा सकता है । वह कोने में उनसे न

मिलकर भरे दरबार व खुले संसार में मिलता है। राजा, जो इस विशेष संदर्भ में आदर्श–पूर्ण है तथा प्रजा के एक ऐसे प्रतिनिधि का संबंध–बोध यहां सहज हो जाता है, जिसे उन मर्यादाओं के खण्डित होने की आशंका है। पहली विचारणीय बात तो यह है कि ये मर्यादाएं ही सतत परिवर्तमान समाज–व्यवस्था में अपरिवर्तनीय और अतर्कित नहीं हैं। दूसरे, उनके निराकरण की दरबारी पद्धति तो सुनिश्चित रूप में आज इतिहास की वस्तु है, अतः चिरन्तन नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह मानवीय संबंध अपने ऐतिहासिक संदर्भ में स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य शुक्ल का कथन है – 'विनय–पत्रिका रामचन्द्र के दरबार में गुजरने वाली अर्ज़ी है, जिसकी तहरीर जबरदस्त है। यह अर्ज़ी यों ही बाला–बाला नहीं भेज दी जाती है। कायदे के खिलाफ काम करने वाले, मर्यादा को भंग करने वाले आदमी तुलसीदास जी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहिबों के पास से होती हुई तब हजूर में गुज़रती है। वहां पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं। हनुमान और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं) तब लक्ष्मण धीरे से अर्ज़ी पेश करते हैं, और लोग भी जोर देते हैं। अंत में महाराजाधिराज भी यह कहते हुए कि 'मुझे इसकी खबर है,' मंजूरी लिख देते हैं।'

इस कथन के बाद व्यवस्था–विशेष का स्पष्टीकरण संभवतः आवश्यक नहीं। आचार्य शुक्ल को यह संबंध बहुत सहज लगा और वह इसे लोकरक्षक और लोकमंगलकारी मानते भी हैं। तुलसी जिस परम्परा से सम्बद्ध हैं उसमें यह सहज ही है। पर आज हम इसे इसी रूप में मनसा स्वीकार कर सकें यह सम्भव नहीं। यह मानने में कोई संकोच नहीं कि आज की हमारी व्यवस्था भी पारिवारिक तथा बृहत्तर सामाजिक संदर्भ में सतही जनतांत्रिक ही है, और संभवतः अपनी अर्ज़ी पेश करने में हमें हर कदम पर इससे भी अधिक निचले अथवा नीच स्तर पर उतरना पड़े – प्रायः उतरना पड़ता है–परन्तु यह हमारे काल के मान अथवा मर्यादा रूप में किसी के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकता। तुलसी को यह संबंध और यह व्यवहार ही सहज तथा मर्यादापूर्ण लगना स्वाभाविक था परन्तु आज यह संबंध एवं व्यवहार निश्चित ही अपमानपूर्ण, घटिया सामन्ती और मजबूरी का प्रतीक होगा। किसी बाध्यता में ऐसी अर्ज़ी इसी रूप में पेश करने और स्वीकार करवाने के बाद, छिपे मुंह ही सही, हम सब दरबार, दरबारी वातावरण, राजाधिराज (आज के संदर्भ में कोई उच्चाधिकारी या मंत्री ही सही) तथा स्वयं अपने को भी क्षमा नहीं कर सकते। तुलसी के लिए यह सहज व्यवहार था, इसलिए अपने महाराजाधिराज की वरीयता और अपनी हीनता की स्वीकृति भी उनके लिए सहज काम्य और स्वीकार्य थी। लेकिन आज के संदर्भ में इस प्रकार के व्यवहार से हमारा व्यक्तित्व जिस रूप में खण्डित होगा उससे कुण्ठा, हीनता तथा परिणामतः कुछ परिस्थितियों में विरोध एवं विद्रोह ही सहज तथा स्वाभाविक होंगे। अन्तराष्ट्रीय स्तर पर सामन्ती व्यवस्था का उच्छेदन, उच्छेदन के प्रयास तथा व्यवस्था का जनतांत्रिकरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यदि कहीं उस प्रकार की व्यवस्था किसी भी रूप में विद्यमान है भी तो वहां के भुक्तभोगियों की कुण्ठाग्रस्त स्थिति प्रकट ही है। वे इसे मर्यादा, आदर्श एवं महनीय स्वागतयोग्य गुण तो कदापि स्वीकार नहीं करते। तुलसी के मानवीय संबंधों व लोकमर्यादा, लोककल्याण एवं लोकरक्षण की धारणा में उपर्युक्त संबंध को विशिष्टकालीन संदर्भ में देखना ही उचित होगा।

यह भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृति की उदारता है कि उसमें लघु से लघु और महान से महान भी समान देखे जा सकते हैं। शरण में आया हुआ किसी भी वर्ण का व्यक्ति रक्षणीय है। शत्रु के भाई विभीषण के राम की शरण में आने का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु राम की यह उक्ति लघु से लघु और महान से महान की कथित समता की कहीं भी गवाही देती प्रतीत नहीं होती :

जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं।।

शौर्य (शिवाली) सामन्त का विशेष गुण है। सामन्त शरणागत तो क्या, प्राणहीन नगण्य वस्तुओं या पशु–प्राणियों के लिए भी अपनी शौर्य–रक्षा के निमित्त अपने प्राण तक न्यौछावार कर सकता है। उसके लिए यह उपादेयता की दृष्टि से देखा जाने वाला कार्य न होकर विशुद्ध सम्मान का प्रश्न होता है। उस अवस्था में राम द्वारा सभीत शरणागत की निज प्राण–सम रक्षा अपने वास्तविक संदर्भ में ही विचारणीय है। राम के अगले कथन में सामन्त की वचन–पालन में विफलता–जन्य विकलता दृष्टव्य है। इसे विशेष उदारता आदि के विशेषणों से सुसज्जित करना हमारे पूर्वाग्रह का द्योतक होगा। लक्ष्मण की मूर्छा राम के लिए भीषण आघात है। वह सम्भवतः लक्ष्मण सहित ही प्राण छोड़ने का निर्णय करते हैं, परन्तु उन्हें अधिक दुख इस बात का है कि उनके प्रण–पालन न कर पाने की स्थिति में विभीषण की क्या अवस्था होगी।

तुलसी द्वारा रचित राम के चरित्र के संबंध में कहा गया है, "किसी भी जाति की काव्य–प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी, कदाचित हमें उनका एक महान आदरणीय रूप राम के चरित्र में देखने को मिलता है।" सीमित परिवेश में यह कथन पूर्णतः सार्थक है, परन्तु मानव विकास के विविध सोपानों की दृष्टि से इस मान्यता का देश व काल असीम न होकर बहुत परिमित है।

इस संबंध में ये शब्द भी विचारणीय हैं – "उनका चरित्र सत्यप्रियता, दृढ़ता, क्षोभहीनता, कृतज्ञता, स्निग्ध–हृदयता, दृढ़ विश्वास, अदम्य उत्साह, अन्तःकरण की पवित्रता, गम्भीरता, धीरता, क्षमाशीलता, दानशीलता, इन सबसे अधिक एक निष्ठावान व्यक्तित्व, तथा अव्यवस्था, अनैतिकता, अधार्मिकता और अनास्तिकता के स्थान पर आस्तिकता का संस्थापन करने हेतु एक ऐसे ही पूर्ण चरित्र की ईश्वर रूप में दिव्य कल्पना कीजिए। यही तुलसी के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं। इसी पूर्व चरित्र में और भी पूर्णता भरने में गोस्वामी जी की प्रतिभा लीन होती है।" क्या इस संबंध में किसी प्रकार का मतभेद हो सकता है कि उपर्युक्त सब विशेषण सापेक्षित अर्थ से सम्पन्न हैं। दृढ़ता, कृतज्ञता, गम्भीरता, पवित्रता, क्षमाशीलता, दानशीलता आदि विशेष सामाजिक स्थिति में विशेष अर्थ–द्योतन में क्षम हैं। यह सुनिश्चित है कि सामन्ती समाज की क्षमाशीलता और दानशीलता प्रजातंत्रीय समाजवादी समाज–व्यवस्थाओं में बुर्जुआ मूल्य तथा अवांछित अवगुण हो सकते हैं। इसी प्रकार दृढ़ता–गम्भीरता भी-विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न अर्थ दे सकते हैं। पवित्रता तो सर्वाधिक विवादास्पद गुण अथवा अवगुण है। एक समाज में पवित्र वस्तु, व्यक्ति, व्यवहार या मान्यता अन्य समाज के लिए अपवित्र अथवा मूल्यहीन हो सकते हैं। प्रायः यही होता है। देश के व्यवधान में तो अन्तर आज भी दृष्टव्य है, काल के व्यवधान में होने वाले अन्तर के प्रमाण

इतिहास ग्रंथ प्रस्तुत करते हैं। निष्कर्षतः यह गुण-समूह ''किसी भी जाति की कभी भी की गई उदात्त गुण कल्पना'' न होकर किसी जाति की काल–विशेष की उदात्त् कल्पना का उच्चतम रूप अवश्य स्वीकार्य है। यह कथन अवश्य मान्य है कि ''यह तुलसी के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं। इसी पूर्व–चरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने में गोस्वामी जी की प्रतिभा लीन होती है।''

यह भी कहा गया है कि ''हिन्दू जाति के आचार–विचार पर इस महान आदर्श चरित्र का कितना गम्भीर प्रभाव पड़ा है, यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। राम का आचरण और स्वभाव इस भाँति का निर्मल और उच्च कोटि का है जिस प्रकार का एक दैवी पुरुष में हो सकता है।'' हिन्दू जाति के आचार–विचार की दृष्टि से निःसन्देह राम का चरित्र उसके उच्चतम काम्य को छूता है तथा भारतीय काव्य–इतिहास–पुराण में इस दृष्टि से राम का समतुल्य अन्य कोई भी व्यक्तित्व दृष्टिगत नहीं होता। पर हिन्दू जाति के आचार–विचार को ही चिरन्तन तथा दैवी कैसे स्वीकार किया जाए। यदि हिन्दू जाति को हम वैदिक समाज से आधुनिक समाज तक की मुख्य जीवन–धारा के रूप में स्वीकार करें तो भी राम का चरित्र सर्वत्र एक समान प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता। पौराणिक भारतीय धर्म से आधुनिक हिन्दू धर्म तक के लिए यह आदर्श अवश्य महिमामय रहा है, परन्तु जब 'हिन्दू' शब्द ही अर्थ बदल रहा है तो राम की चरित्र संबंधी मान्यताओं का स्थिर रहना कैसे सम्भव है ? नारी की अतर्कित परिपरायणता, संयुक्त परिवार आदि तथाकथित हिन्दू धर्म का आधार रहे हैं। आज ये संगत नहीं है, इसलिए 'हिन्दू' शब्द व उससे सम्बद्ध आदर्श भी उसी रूप में असंगत हैं। इस दृष्टि से अपने इतिहास–पुराण के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में तुलसी के राम मान्य हो सकते हैं, जबकि आज के हिन्दुत्व के आदर्श के रूप में अपूर्ण तथा अल्पसंगत। अवतारवाद की धारणा इस विसंगति को और भी गहरा देती है। तुलसी विश्वास और भक्ति से युक्त होकर अपने आराध्य भगवान राम का गुण एवं चरित्र–गान करने निकलते हैं। इसीलिए उनका चरित्र–अंकन अपने विशेष सीमित संदर्भ में संगत है। आज का 'हिन्दू' मानस उस विश्वास और भक्ति से मुक्त या हीन होकर तुलसी के उस चरित्र को उसी संगत दृष्टि से देखने में अक्षम हो तो अस्वाभाविक नहीं होगा। ऐतिहासिक तथ्य के रूप में वह रावण पर राम की विजय चाहेगा, जबकि स्वयं व्यावहारिक जीवन में रावण की भूमिका में स्वेच्छापूर्वक सहज जीवन जीना उसे बहुत अस्वाभाविक नहीं लगेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

यहां विशेष सामाजिक और स्थायी मूल्यों के विभेद का प्रश्न उठाया जा सकता है। सामाजिक मूल्य तो निश्चय ही बहुत ही अल्पजीवी और अल्पकालिक होते हैं, पर जिन्हें शाश्वत अथवा स्थायी मानवीय मूल्यों के रूप में परिगणित करने की हमें आदत पड़ गई है, वे भी उतने ही स्थायी नहीं माने जा सकते। मानव या प्राणी–मात्र का स्थायी धर्म केवल जीवैष्णा को ही स्वीकार किया जा सकता है। अन्य सब मूल्यों की यही निर्धारिका वृत्ति है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह आदि के तथाकथित स्थायी मूल्य भी संदर्भ बदलने पर मूल्यहीन अथवा विसंगत हो जाते हैं। ध्रुववासी के लिए, तिब्बत के हिमप्रदेश के निवासी के लिए अथवा अफ्रीका आदि के बनवासी के लिए अहिंसा मूल्यहीन है, अपने स्थूल रूप में अव्यवहार्य तथा

सूक्ष्म भावनात्मक अर्थों में अनावश्यक। इसे इसकी यथार्थता में देख सकने के लिए इस मोह से मुक्त होना परमावश्यक है कि ''भारतीय हिन्दू ही श्रेष्ठतम मानव रहे हैं और इसी से उनके मूल्य भी श्रेष्ठतम हैं''। उपर्युक्त पूर्वाग्रह की अवस्था में अन्य सब या तो वानर, रीछ, राक्षस, दानव आदि ही नज़र आएंगे या फिर म्लेच्छ, पतित, नीच और धर्महीन। यह धारणा कम या अधिक सब मतों में रही है और यही उनकी विद्रूपता का कारण भी है। विश्व इतिहास तथा विश्व भर का मानव विकास भी इस मत का खण्डन करता है। यही तथ्य अन्य मूल्यों के संबंध में भी दोहराया जा सकता है। इस दृष्टि से भारतीय परिवेश में मध्यकालीन हिन्दुत्व तथा समकालीन भारतीयता में बहुत कुछ समान होने से राम के चरित्र के अनेक मानवीय मूल्य आज भी महत्वपूर्ण और मान्य हो सकते हैं। परन्तु मूल्यों के परिवर्तन की वर्तमान गति को देखते हुए भविष्य में उनके संबंध में भी किसी प्रकार की सुनिश्चित आशावादिता का कोई भरोसा नहीं। हां, जिस प्रकार मध्यकालीन हिन्दुत्व अपने संशोधित रूप में आज भी चल रहा है, वैसे ही तुलसी के राम संशोधित रूप में आगे भी स्वीकार्य होंगे यह असंदिग्ध है। पर इन सबसे तुलसी की महानता पर रंच–मात्र भी कलंक की कल्पना नहीं हो सकती। एक सजग कवि तथा लोक–संग्रहाकांक्षी सामाजिक के रूप में भारतीय समाज के लिए तुलसी की देन अद्भुत, अतुलनीय, श्लाघ्य तथा वन्दनीय है। हां, परम्परा–पालन मात्र की श्रद्धांजलि अर्पित करने से हटकर अपने जातीय इतिहास, संस्कृति तथा कला–चेतना के अध्ययन एवं चिन्तन की दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि और कार्य–कारण बोध के तर्काश्रित संदर्भों में तुलसी तथा तुलसी के, अथवा हमारे अपने राम, रामराज तथा राम–परिवार का अध्ययन स्वयं हमारे अपने लिए ही हितकर होगा, यही विश्वास है।

अध्याय 24

हिन्दी रीतिकाल : परिवेश, प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ

रीतिकाल सम्बन्धी आधार–भूमि के इस विवेचन को हम दो भागों में क्रमशः ले रहे हैं। प्रथम (क) भाग में हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में पुष्पित तथा पल्लवित होने वाली रीतिकालीन काव्यधारा का परिवेश बनाने वाली राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर विचार हो रहा है। दूसरे (ख) भाग में रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास हुआ है। परन्तु इन दोनों भागों से पहले 'रीति' एवं 'रीति–काव्य' सम्बन्धी सैद्धान्तिक–शास्त्रीय पूर्वपीठिका की ओर संकेत आवश्यक समझा गया है, जिससे अवान्तर विवेचन बोधगम्य हो सके।

रीति

रीति का शब्दार्थ है पद्धति, परम्परा, मार्ग, प्रणाली, पन्थ, शैली आदि। किसी विशेष कार्य–सम्पादन की पद्धति को रीति कहा जाता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया। इसे विशेष पद–रचना स्वीकार किया गया और पद–रचना की इस विशिष्टता का आधार गुण स्वीकार किए गए। समास से भी विशिष्ट पद–रचना के रूप में रीति को देखा गया है और समासहीनता, अल्पसमासता और दीर्घ समासता के रूप में भी रीति को देखा गया है। भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट आदि ने रीति का सम्बन्ध देश अथवा प्रदेश से मान कर आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, औड्रमागधी (नाट्यशास्त्र : 14 : 36–49) अथवा वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी (काव्यालंकार, काव्यादर्श) आदि इसके भेद स्वीकार किए हैं। कुन्तक रीति को मार्ग मान कर इसका सम्बन्ध देश से नहीं बल्कि कवि–स्वभाव मानते हैं। विश्वनाथ इसे शैली के गुण रूप में ग्रहण करते हैं, इसका आधार वर्ण संघटना, गुण और समास स्वीकार करते हैं, तथा इसे रस का उपकार करने वाली मानते हैं। कुन्तक भी इसे मार्ग के रूप में ही ग्रहण करते हैं, इसका सम्बन्ध गुण और कवि–स्वभाव से मानते हैं और सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम इसके भेद स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन और मम्मट ने रीति के नियामक तत्वों में वक्ता, वाच्य विषय और रस की अनुकूलता या औचित्य को स्वीकार किया है। संस्कृत–साहित्य में रीति को शैली या मार्ग के विशिष्ट रूप में ही ग्रहण किया गया।

विदर्भ में प्रचलित वैदर्भी रीति को सर्वोत्तम स्वीकार किया गया। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्याप्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि – इसके दस गुण स्वीकार किए गए। इसे वीणा के स्वरों के समान मधुर और विलक्षण माना गया तथा शृंगार, करुण,

प्रेयस रसों के लिए इसे उपयुक्त माना गया । संक्षेप में माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों द्वारा समासहीन या अल्पसमास वाली रचना वैदर्भी रीति की रचना स्वीकार की गई ।

गौड़ी को ओजपूर्ण रचना माना गया है । वामन इसे ओज–कान्तिमयी शैली के रूप में ग्रहण करते हैं और इसमें उग्र पदों और समास की बहुलता स्वीकार करते हैं । प्रायः सब संस्कृत आचार्य दीर्घ समास वाली, सानुप्रास और योगवृत्ति सम्पन्न गौड़ी रीति को रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसों की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त मानते हैं ।

पांचाली रीति का सर्वप्रथम उल्लेख वामन ने किया है । यह माधुर्य, सुकुमारता, भावशैथिल्य, छाया–युक्ति और गठनविहीनता के गुणों से युक्त शैली मानी गई है । इसमें अनुप्रास बहुत कम रहते हैं और यह उपचारवृत्ति से युक्त मध्यमा रीति मानी गई ।

लाटी मध्यम समास वाली, उग्र रसों के लिए उपयुक्त शैली है । इसे वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति माना गया है और इस रीति की कोई अलग विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती है ।

पांचाली रीति के ही एक अन्य रूप पंचालिका का उल्लेख भी राजशेखर ने किया है । इसके अतिरिक्त मागधी, मैथिली और विच्छोमी रीतियों का उल्लेख भी मुख्यतः राजशेखर ने अपनी 'कर्पूर मंजरी' में तथा कुछ अन्य विद्वानों ने किया है ।

परन्तु हिन्दी रीतिकाव्य में रीति सम्बन्धी संस्कृत साहित्य–चिन्तन की धारणा को ग्रहण नहीं किया गया । संस्कृत साहित्य में रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले एक विशिष्ट सिद्धान्त का नाम रीति है । इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र में किया था । इस सिद्धान्त के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है और यही काव्य–श्रेष्ठता की कसौटी है, तथा रीति का आधार गुण है । परन्तु हिन्दी में रीति को काव्य रचना की प्रणाली के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा विशेष प्रणाली, पद्धति अथवा रीति के अनुसार काव्यरचना करना रीति का अर्थ तथा भाव स्वीकार हुआ । इसके अनुसार रीतिकाव्य से तात्पर्य वह काव्य ग्रहण किया गया जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका–भेद आदि की प्रतिष्ठित काव्य–शास्त्रीय प्रणालियों या रीतियों के आधार पर प्रणीत हुआ हो । अलंकार, रस, ध्वनि, नायिका–भेद आदि के पद्य में लक्षण देकर तदुपरान्त उसके काव्यात्मक प्रयोग अथवा उदाहरण की परम्परा का भी प्रचलन हुआ । इन लक्षणों और सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से काव्य–रचना की पद्धति को भी रीति के अन्तर्गत स्वीकार किया गया । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के बाद जिस काल में यह पद्धति प्रधान रही, वही युग हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल अथवा रीतिकाल कहलाया । आचार्य शुक्ल द्वारा हिन्दी साहित्य के कालविभाजन में रीतिकाल 1700 विक्रमी से 1900 विक्रमी तक व्याप्त स्वीकार हुआ है और मामूली मतभेद के बावजूद भी हिन्दी के परवर्ती सब प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों ने इस विभाजन को स्वीकार किया है ।

(क) रीतिकाल का परिवेश

राजनीतिक परिस्थितियां

मोटे तौर पर उपर्युक्त कालखण्ड शाहजहां के शासन की समाप्ति तथा औरंगजेब के

शासन की शुरूआत के साथ आरम्भ होता है और भारत के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम तक परिव्याप्त रहता है । यह काल मुगल साम्राज्य के चरम उत्कर्ष को छूकर उसके क्रमिक ह्रास और अन्ततः विनाश का ऐतिहासिक कालखण्ड है । 1700 वि० में शाहजहां दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था । अपने पिता जहांगीर द्वारा प्रदत्त राज्य–सीमा, सम्पत्ति, वैभव और अन्य सांस्कृतिक परम्पराओं में वह और भी अभिवृद्धि करता है । दक्षिण के अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्य मुगल–सत्ता की अधीनता स्वीकार कर चुके थे ।

अफगानिस्तान में कंधार का किला मुगल–अधीनता में आ चुका था । इस प्रकार पश्चिमोत्तर में सिन्ध से पूर्व में आसाम तक और उत्तर में अफगानिस्तान के दक्षिण–पूर्वी भागों से लेकर भारत के दक्षिणी भाग में औसा तक मुगल साम्राज्य फैला हुआ था । बाईस प्रान्तों में बंटे इस साम्राज्य की आय 880 करोड़ दाम थी । केन्द्रीय शक्ति प्रबल होने पर छोटे–मोटे राजा, नवाब, जागीरदार और मनसबदार परस्पर संघर्ष, राज्यवृद्धि, सीमावृद्धि आदि का प्रयास नहीं कर सकते थे । इसका परिणाम दोहरा होता है । एक ओर तो सचमुच कुशल, मेधावी और महत्वाकांक्षी व्यक्ति अपनी अभिवृद्धि का अवसर प्राप्त न करके लघु लक्ष्यों में उलझ जाते हैं । दूसरी ओर निकम्मे, निरर्थक और चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल शासक भी केन्द्रीय शासन की छत्र-छाया में निश्चिन्त होकर पूरी तरह आनन्दोपभोग में स्वयं को निरत रखने में सफल होते हैं । और इस काल में यही कुछ हुआ भी । देश में अखण्ड शान्ति का वातावरण था । शाही कोष भरपूर था । शाहजहां देश भर में एक से एक बढ़ कर सुन्दर भवन, किले और बागों का निर्माण करवा रहा था । भारतीय कला अपना शिखर छू रही थी । ताजमहल बन चुका था । तख्ते ताऊस अथवा मयूर–सिंहासन या 'पीकाक थ्रोन' बन चुका था । परन्तु शिखर पर पहुंच कर, मानव और आगे कहां जा सकता है । फिर तो किसी भी ओर आगे कदम रखा जाए, केवल उतार और अवनति ही प्राप्त होगी । इस विकास के शिखर से ही मुगल साम्राज्य का ह्रास भी आरम्भ हुआ । विशाल मुगल सेना पश्चिमोत्तर में तीन बार पराजित हुई । मध्य–एशिया में किए गए सैनिक अभियान पूरी तरह विफल हुए । जनहानि हुई, धन हानि हुई । इन सब से बढ़ कर हानि प्रतिष्ठा के स्तर पर हुई । अभेद्य, अपराजेय और अडिग मुगल साम्राज्य भी पराजित हो सकता है, इस भावना का एक बार फैल जाना अधीनस्थ राज्यों में महत्वाकांक्षी शासकों में विद्रोह के लिए बीजांकुर पैदा करता है । यह सामान्य राजनीतिक सिद्धांत है कि जब केन्द्रीय सत्ता शक्तिशाली होगी तो प्रान्त, प्रदेश और यहां तक कि पड़ौसी सब अनुगत, भक्त और श्रद्धापूर्ण बने रहेंगे । जहां एक बार केन्द्रीय सत्ता में कमजोरी या स्खलन आया, तो ये सब अपनी–अपनी शक्ति जुटा कर विद्रोह, स्वाधीनता अथवा केन्द्र को पराभूत करने के लिए ही सन्नद्ध हो जाते हैं । इस काल के भारतीय इतिहास में यही कुछ हुआ भी । दक्षिण में विद्रोह और उपद्रव केन्द्र के क्षयारम्भ को रेखांकित करने लगे । जहांगीर परम विलासी था, तो शाहजहां बहुत अपव्ययी । अब दोनों के परिणाम उभरने लगे । 1715 विक्रमी में शाहजहां की अस्वस्थता उसके पुत्रों में सत्ता हथियाने के संघर्ष के रूप में परिणत हुई । उदार, सहिष्णु और लोकप्रिय दारा शिकोह, जो शाहजहां का सब से बड़ा पुत्र था, अपने छोटे भाई, कट्टर सुन्नी मुसलमान, असहिष्णु परन्तु चतुर औरंगजेब के द्वारा न केवल पराभूत ही हुआ, वरन् मारा भी

गया। भाइयों के रक्तपात के लिए उत्तरदायी हिंसा और कट्टरता से युक्त औरंगजेब 1715 वि० में सिंहासनासीन हुआ। उसने ठीक पचास वर्ष तक राज्य किया, पर यह मुख्यतः विद्रोह, विप्लव, संघर्ष, अशान्ति और उपद्रवों का ही काल रहा है। आगरा, अवध, इलाहाबाद, बुन्देलखण्ड, सब विद्रोह और संघर्ष के स्थल बने रहे। अकबर के समय से मुगलों के निष्कपट सहायक, सेवक और मित्र राजपूत भी औरंगजेब के विरोधी हो गए। नारनौल और मेवाड़ में सत–नामियों का भयंकर विद्रोह और पंजाब में सिखों का असन्तोष भी इस ह्रास की महत्वपूर्ण कड़ियां हैं। दक्षिण के शिया राज्य औरंगजेब की नीतियों के कारण पर्याप्त निर्बल हो चुके थे। इसी अवसर पर शिवाजी जैसे कुशल नेता का अभ्युदय होता है और वह मराठों को संगठित, व्यवस्थित करके व्यवस्थित राज्य के निर्माण में ही सफल नहीं हो जाते, बल्कि इस धारणा को भी निर्मूल बना देते हैं कि मुगल सेना अपराजेय है। उत्तरी भाग भले ही शहनशाह की पकड़ में बना रहा, पर अपने शासन के अधिकांश काल में उसके दक्षिण में ही उलझे रहने के कारण वह इधर समुचित ध्यान नहीं दे पाया और इधर भी अशान्ति, अव्यवस्था और केन्द्रीय सत्ता के प्रति अवमानना की भावना बढ़ती गई।

शासन व्यक्ति-केन्द्रित था। शाहजहां और औरंगजेब तो इस दृष्टि से प्रायः निरंकुश ही थे। अतः भारतीय राष्ट्र की परिकल्पना विकसित नहीं हो पाई। आर्थिक, वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का पूर्ण अभाव था। राजनीतिक अधिकारों का तो प्रश्न ही नहीं था। शासन व्यक्ति–केन्द्रित होने के कारण नियम, कानून या संविधान अथवा संवैधानिक अधिकारों की भी क़िसी प्रकार की कोई अवधारणा न शासक में थी, न शासित जनता में। शासन येनकेन प्रकारेण बनाए रखना शासक का लक्ष्य था तो विद्रोह द्वारा उसे हथियाना उसके विरोधियों का। इस प्रकार विद्रोह की आशंका उस शासन–व्यवस्था की अनिवार्यता थी।

शासन–व्यवस्था सामन्ती थी। सामन्ती व्यवस्था में कर्मचारियों को, मुख्यतः दूर–दराज़ के सूबेदार व अन्य उच्च कर्मचारियों को, वेतन या भुक्ति न दे कर उन्हें कुछ भूभाग जागीर के रूप में दे दिया जाता है। वह उस भूमि के उप–स्वामित्व में कर या टैक्स प्राप्त करता है तथा एक शासक के रूप में प्रजा पर पूर्ण शासन करता है। उसे केवल केन्द्रीय शासक या सम्राट को अपनी सेवा, केन्द्रीय कर, अधीनता तथा आवश्यकता पड़ने पर सेना का सहयोग देना पड़ता है। पर स्थायित्व के लिए यह व्यवस्था बहुत भयंकर होती है। केन्द्र कमजोर पड़ते ही अपने–अपने भूभाग में स्थित, अपनी सेनाओं का स्वयं नेतृत्व करने वाले छोटे–शासक तुरन्त स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह करने पर उद्यत हो जाते हैं। अकबर अपने कर्मचारियों को नकद वेतन देता था। परन्तु कोष पर अन्य व्ययों का भार बढ़ जाने से शाहजहां को सामन्तीय जागीरदारी प्रथा आरम्भ करनी पड़ी। यहीं से एक ओर विद्रोह की आशंकाएं आरम्भ हो गईं, साथ ही इन अमीरों, सूबेदारों और मनसबदारों की महत्वाकांक्षायें परस्पर टकराने के कारण कलह की स्थितियां उत्पन्न हुईं और बादशाह की सेवा में निश्चित रूप में व्यवधान की स्थिति पैदा हुई। औरंगजेब धन की बड़ी मांग को जागीरदारों से बड़ी–बड़ी भेंटें व विभिन्न प्रकार के कर लेकर पूरी करता था। सामन्त आर्थिक दबाव जनता पर डालने को बाध्य होते थे, तथा समुचित सेना का प्रबन्ध भी नहीं कर पाते थे। ऐसी अवस्था में उनके अधीनस्थ छोटे सामन्त विद्रोह का झण्डा

उठा देते थे । औरंगजेब के जीवनकाल में तो किसी तरह केन्द्रीय सत्ता टिकी रह पाई पर उसकी मृत्यु ने साम्राज्य के ह्रास को तेजी से गतिशील कर दिया । उसके घोर व्यक्तिवादी, अहंवादी और कठोर व्यक्तित्व ने उसके पुत्रों के व्यक्तित्व को पूरी तरह बौना और निकम्मा बना दिया था । अतः इस विशाल साम्राज्य को संभाल पाने की क्षमता इनमें से किसी में भी नहीं थी ।

दिल्ली अब केवल अन्तःपुर के क्षुद्र षडयन्त्रों और उठापटक का अड्डा बनती गई । केन्द्रीय शासन दुर्बल हुआ तो प्रान्तों के अधिपति स्वतंत्र होते गए । दिल्ली में भी उच्चाधिकारी या तो सम्राट् के नाम पर शासन चलाते थे या परस्पर ईर्ष्या, कलह, विद्वेष के कारण एक-दूसरे को गिराने-उठाने में लगे रहते थे । सम्राट अब प्रायः शतरंज के मुहरे की मुद्रा में आ चुका था । भारतीय शक्तियों के विद्रोह के साथ-साथ यूरोप से आई व्यापारी कम्पनियां भी धीरे-धीरे अपना प्रभावक्षेत्र और शक्ति बढ़ाती जा रही थीं ।

संवत् 1795 में नादिरशाह ने आक्रमण करके दिल्ली जीत ली । बादशाह मुहम्मदशाह को बन्दी बना कर दिल्ली में कत्लेआम का आदेश दिया गया । सिन्धु के पश्चिम का भाग ईरानियों के हाथ में चला गया । अवध, बंगाल और दक्षिण के सूबेदार पूरी तरह स्वतन्त्र हो गए । मराठों का प्रभुत्व बहुत बढ़ गया । अवध और दक्षिण के शासक भी परस्पर कलह और संघर्ष के कारण कमजोर पड़ते गए । अहमदशाह अब्दाली ने मराठा महान् शक्ति को पराभूत कर दिया । कुछ काल के बाद उनकी शक्ति फिर उभरी परन्तु परस्पर कलह और विद्वेष के कारण अन्ततः वे पूरी तरह निर्बल हो गए । अंग्रेजों का अधिकार फैलता गया । उन्होंने एक ओर तो फ्रांसीसी शक्ति को नष्ट कर दिया तो दूसरी ओर बंगाल, बिहार और उड़ीसा को अपने प्रभुत्व में ले लिया । धीर-धीरे सारे उत्तर-भारत पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया । दिल्ली का शासन दिल्ली नगर और आगरा के आस पास तक सीमित था और वह भी अपनी शक्ति के अभाव की स्थिति में तत्कालीन शासक शाहआलम के वश का काम नहीं था । वह मराठों, जाटों, रुहेलों और अवध के नवाबों के परस्पर संघर्ष, षडयन्त्र और जोड़-तोड़ का मुहरा भर रह गया था । अंग्रेजों ने लखनऊ के नवाब को बादशाह की उपाधि दे दी पर शीघ्र ही बनारस, बंगाल, इलाहाबाद और लखनऊ पर भी उनका अधिकार हो गया । कुछ काल के बाद नाम भर के मुगल शासन का भी अन्त करके सारे देश पर अंग्रेजों का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया ।

अन्य राज्यों की स्थिति भी कुछ भिन्न नहीं थी । राजस्थान के मुख्य चार राजपूत राज्य भी मुगल शासन के इस पतनकाल में भी अपनी शक्ति एकत्रित न करके परस्पर कलह में व्यस्त रहे और शक्ति क्षीण करते रहे । राजपूतों के अन्तःपुर ठीक मुगलों की तरह ही फूट, कलह, षडयन्त्र के केन्द्र थे, और शासन-व्यवस्था भी वैसी ही दूषित, शोषण पर आधारित और निरंकुश थी । मुगलों की लम्बी पराधीनता ने राजपूतों का नैतिक बल भी नष्ट कर दिया था । उनमें दम्भ था, अकारण मरने, भिड़ने की वृत्ति थी, अहंकार था, पर सच्ची देश-भक्ति, वीरता, शौर्य और उदारता जैसे उदात्त गुणों का पूर्ण अभाव था ।

इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से यह एक सशक्त केन्द्रीय शासन के क्रमशः विच्छिन्न हो जाने का काल रहा है, जिसमें न केवल केन्द्रीय सत्ता ही विनष्ट हुई बल्कि प्रान्तों-प्रदेशों का भी

पराभव हुआ । पहले ईरानियों और अफगानों ने तथा बाद में अंग्रेजों ने भारतीय शासन–व्यवस्था को पूरी तरह पराभूत कर दिया । हिन्दू–मुसलमान दोनों निर्वीर्य हो चुके थे परन्तु दोनों जातियों के सुविधा–भोगी उच्च वर्गों में किसी महत् लक्ष्य का अभाव होने के कारण केवल व्यसन–प्रियता और विलास ही एकमात्र कार्य रह गया था ।

सामाजिक परिस्थितियां

सामन्ती ढांचे पर आधारित तत्कालीन समाज–व्यवस्था में सीधे–सीधे दो वर्ग थे – एक उत्पादक वर्ग और दूसरा उपभोक्ता वर्ग । सम्राट् अथवा शासक उपभोक्ता वर्ग के शीर्ष और केन्द्र में था । इसका निकटतम वृत्त अमीर–उमरा, जागीरदार–मनसबदार आदि का था । इसके बाद अन्य छोटे–बड़े कर्मचारी आते थे । व्यापारी भी वस्तुतः इसी वर्ग से सम्बद्ध थे । दूसरी ओर कृषक, श्रमिक और दस्तकार लोग मुख्य उत्पादक थे, पर समाज में उनका दर्जा पशु से कुछ ही अच्छा होगा । अपने उत्पादन से ये शासन का सारा भार वहन करते थे । कभी–कभार आन्तरिक उपद्रव या बाह्य आक्रमण से शासक इनकी रक्षा करे तो करे, अन्यथा कोई भी शासक होता, इनका काम तो लुटना और शोषित होना ही था । यह स्वाभाविक है कि ऐसी अवस्था में यह विशाल जन–वर्ग शिक्षा, सुरुचि, सभ्यता के सूक्ष्म तत्वों से प्रायः वंचित ही था । उत्पादक वर्ग पर अनुत्पादक वर्ग के क्रीत दासों तक का अधिकार और दबदबा था और उनकी स्थिति कृषकों–श्रमिकों से अच्छी थी ।

कवि, कलाकार प्रायः उसी वर्ग से सम्बद्ध होते हैं, जो उन्हें रोटी अथवा भुक्ति दे । ये चाहे स्वयं निम्न वर्ग से हों, पर राज्याश्रय इन्हें दरबार तथा दरबारी वर्ग में ले जाता है । ये मनसा शासकों के मूल्यों को स्वीकार करने को बाध्य होते हैं तथा इनके आदर्श, रुचि तथा अपेक्षायें शासक एवं शोषक वर्ग की–सी ही हो जाती हैं । विवेच्य काल में हर वर्ग के कलावन्त मुगल शासक अथवा उसके सामन्तों के आश्रय में रहते थे, अतः उनकी रुचियों से प्रभाव ग्रहण करके उसी वर्ग के लिए सृजन में रत थे ।

शाहजहां के बाद अवश्य दिल्ली में स्थिति बदल गई । औरंगजेब का प्रश्रय कलाकारों, संगीतज्ञों और कवियों को नहीं मिला । और उसके बाद के दिल्ली के बुरे दिनों में तो ये आसपास के छोटे राज्यों में आश्रय की खोज में बिखर गए । निश्चित रूप से कवियों–कलाकारों के सन्दर्भ में भी यह काल काफी अवमूल्यन और कठिनाई का समय था ।

शासक परिवार वैभव और ऐश्वर्य से भरपूर था । शाहजहां के काल का दिल्ली दरबार और मुगल परिवार संभवतः अपनी उपमा आप ही था । वह स्वयं सोने–चांदी, हीरे–जवाहरात से व सुगन्धियों से लदा रहता था । उसकी बेगमों और अन्तःपुर की अन्य महिलाओं की स्थिति भी भिन्न नहीं थी । हजारों बहुमूल्य पोशाकें बादशाह के लिए वर्ष भर में बनाई जाती थीं, जो वह अमीर–उमराव और राजा–महाराजाओं को बांट देता था । दिन में अनेक वस्त्र बदलना और भिन्न–भिन्न अवसरों पर भिन्न–भिन्न प्रकार के वस्त्र–आभूषण, शरीर–सज्जा, केश–विन्यास, मेंहदी–सुरमा, इत्र–फुलेल, चन्दन–आलता आदि का प्रयोग इनकी दिनचर्या का मुख्य अथवा संभवतः एकमात्र कार्य था । ऐसी अवस्था में नायक–नायिका सम्बन्धी रीतिकालीन कवि की कल्पना तथा उनके जीवन–यापन की पद्धतियों के प्रेरक तत्व को कहीं बाहर ढूंढना जरूरी

नहीं रह जाता । बाग–बागीचे, प्रमोद-भवन व प्रमोद–वन, कुंज-भवन, फव्वारे, आनन्द–विलास की सम्पूर्ण सामग्री सामन्ती व्यवस्था के अनिवार्य अंग थे । जहां ये सहज आनन्द के स्रोत हो सकते हैं, वहीं अपनी विकृतावस्था में घोर अनैतिकता और पतन के आधार भी बन जाते हैं ।

वैभव है तो विलास भी होगा । महलों में हजारों महिलायें होती थीं । कुछ विवाह में लाई गईं तो कुछ बहला–फुसला कर या बल अथवा अपहरण द्वारा । राजकुमारियों की शिक्षा, सेवा व देखभाल के लिए दास–दासियां भी रहती थीं । स्त्री व शराब ये मुख्य मनोरंजन थे । शृंगारिक वातावरण अपनी अश्लीलता तक पहुंचा हुआ था । सेना के साथ भी वेश्याओं के दल के दल चलते थे । सेनापति, अमीर–उमराव सब के जीवन का यह सब अनिवार्य अंग था । सुरा, सुन्दरी के अतिरिक्त स्वादिष्ट पकवान, शतरंज, चौसर, गंजीफा, पतंग–बाजी, बटेर–बाजी, पशु–पक्षियों के संघर्ष , पशुपालन और शिकार, सामन्त वर्ग के अन्य मनोरंजन के साधन थे । जैसे–जैसे देश का राजनीतिक और आर्थिक ढांचा कमजोर और विकृत होता गया, इन विलासों में भी विकार, छोटापन, नीचता और हीनता आती गई, क्योंकि जनमानस की उन्नति–अवनति के साथ–साथ संस्कृति और सभ्यता के ये तत्व भी विकसित अथवा विकृत होते हैं ।

शासकों के ऐश–आराम, विलास, वैभव, और विकृत रुचियों का सारा मूल्य मुख्य रूप में कृषकों को और फिर श्रमिकों को चुकाना पड़ता था । हर हालत में इनका खून और पसीना ही राजा, दरबारी, कर्मचारी और छोटे–मोटे सेवकों तक के भरण–पोषण और क्रीड़ा–मनोरंजन की आधारभूमि थे । उनके खेत लूटना, बेगार लेना, घर का सामान लूटना और असंतुष्ट होने पर कोड़ों से पिटाई तक, यही किसान का भाग्य और छोटे से छोटे कर्मचारी या राज्य के सिपाही तक का अधिकार था । अकाल, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि और रोग, इन सब का सब से पहला और गहराई से शिकार यही वर्ग होता था ।

हिन्दू अपना सम्पूर्ण आत्मविश्वास, आत्मगौरव और स्वत्व खो चुके थे । अब उनमें दैन्य था या पाखण्ड था । कर्मकाण्ड का प्राबल्य था । जाति–प्रथा कठोर से कठोर होती जा रही थी, जो पराजय–बोध और कूप–मण्डूकता की परिणति थी । मुसलमान हिन्दुओं को हीन मानते थे । मन्दिरों का तोड़ना, पुस्तकालयों का जलाना, हिन्दुओं को अपमानित करना इसका परिणाम था परन्तु निम्न वर्ग के हिन्दू-मुसलमानों में अधिक भेद नहीं था । मुगल शासन के पराभव और सूफियों और सन्तों के अभ्युदय के साथ जन–सामान्य में इन दोनों वर्गों में मतभेद काफी कम हुए और नैकट्य की भावना का विकास हुआ ।

नैतिकता की दृष्टि से यह घोर ह्रास का काल था । हिन्दू अपनी पराजित मनोवृत्ति के कारण और मुसलमान विजयों एवं शासन की शक्ति के कारण विलासी तथा नैतिकता–विहीन हो चुके थे । इन्द्रिय–लिप्सा के साथ–साथ धन–लिप्सा प्रबल हो चुकी थी । रिश्वत स्वीकृत पद्धति हो चुकी थी । स्वयं शासक–सामन्त तक घूस लेते देते थे । अन्तःपुरों और दरबारों में ईर्ष्या, द्वेष, छल–कपट, षड़यन्त्र, पाखण्ड, झूठ, फरेब का नंगा नाच होता था । श्रेष्ठ मानवीय नैतिक गुण मज़ाक की चीज़ बन चुके थे । राजपुत्रों, राजकन्याओं का लालन–पालन घटिया

वातावरण में होता था । नैतिक पराभव भाग्यवाद और आत्मबलहीनता को जन्म देता है । शकुन, पाखण्ड, विधि–निषेध, अन्धविश्वास का हिन्दू–मुसलमान दोनों पर पूरा प्रभुत्व था । वस्तुतः यह गहरी निराशा, पराजयबोध, लक्ष्यहीनता और छोटेपन का युग था जिसमें सम्पूर्ण निराशा को रमणियों की गोद या झूठे मनोरंजनों में डुबाने का प्रयास ही अभिजात वर्ग की चित्तवृत्ति को स्पष्ट करता है ।

धार्मिक परिस्थितियां

जनता में तीन वर्ग थे – शासक, विद्वान और सामान्य लोग । शासकों का दृष्टिकोण पूरी तरह ऐहिक था । धर्म उनके लिए या तो केवल भय की वस्तु थी, जिसका यत्किंचित पालन होना चाहिए अथवा केवल बाहरी दिखावे की वस्तु थी, जिससे अपनी प्रजा पर प्रभाव बनाए रखा जाए । विद्वान, पंडित वर्गों में हिन्दू विद्वान, शास्त्री, गोस्वामी, भट्टाचार्य तथा मुसलमानों में मौलाना, मौलवी आदि प्रमुख थे । लोगों के लिए धर्म केवल किंचित बाह्याचार तक सीमित था, तथा प्रकटतः अभिजात वर्गों द्वारा उनके राजकीय अथवा मतवादी शोषण का एक सुगम साधन था ।

शास्त्रीय हिन्दू धर्म का पर्याप्त ह्रास हो चुका था । वैष्णव धर्म की विभिन्न शाखाओं–प्रशाखाओं का प्रचार था, जिनकी आरम्भिक शक्तिमत्ता प्रायः समाप्त हो रही थी । आरम्भिक गोस्वामियों की परम्परा ह्रास की ओर बढ़ रही थी और उनमें आनुवंशिक गद्दियां स्थापित करने और अपने अनुयायी बनाने और बढ़ाने की होड़ थी । वे राजाओं, सेठों और धनियों को शिष्य बनाने को उतावले रहते थे । धन, वैभव और ऐश्वर्य ने उनके त्याग, तपस्या और भक्ति के भावों को प्रायः धूमिल बना दिया था । ईश सेवा के नाम पर अपने उपास्य के लिए श्रृंगार, भोजन, संगीत, नृत्य और ऐश्वर्य के अन्य साधनों को जुटाना इनका कर्त्तव्य रह गया था और केसर की चक्कियां चलने के इस वातावरण में उपास्य के नाम पर भक्त–जन घोर वैभव के जीवन के अभ्यस्त हो गए थे । यहां तक कि उनका अनुकरण करने के लिए शासक एवं अन्य साधन–सम्पन्न वर्ग तक लालायित रहते थे । कृष्ण–भक्ति के सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय राधा, गोपी और परकीया प्रेम के सैद्धान्तिक पक्ष की आड़ में प्रायः विलासिता का वातावरण बनाने में संलग्न थे, और तत्कालीन काव्य में राधा–कृष्ण के नाम पर वस्तुतः नायिका–भेद, नायक–नायिका मिलन–विरह और यहां तक कि उन्मुक्त संभोग तक का चित्रण स्वीकार्य हो रहा था । इस प्रकार धर्म का वास्तविक अर्थबोध प्रायः धूमिल हो चुका था और जनसामान्य के लिए धर्म आत्मिक बल तथा आत्मिक शक्ति की वस्तु न होकर भय, वर्गभेद एवं शोषण की वस्तु बन कर रह गया था । मुसलमानों की स्थिति भी कोई विशेष भिन्न नहीं थी । मुल्लाओं का इस्लाम तथा कुरान पर विश्वास तर्क की अपेक्षा कट्टरता पर अधिक आधारित था । शासक वर्ग की विलासिता और निम्नवर्ग के अन्धविश्वास, जड़ता, पीर–तावीज के चक्कर के कारण इस्लाम की आरम्भिक जीवंतता और शक्तिमत्ता क्षीण हो रही थी । जनसामान्य में राम–कृष्ण की लीलाओं, धार्मिक गज़लों–कव्वालियों का प्रचलन अवश्य था जो मनोरंजन का साधन होने के साथ–साथ जनसामान्य की धर्मभीरु प्रकृति के लिए किंचित परित्राण का साधन भी था । परलोक सम्बन्धी आस्था लोगों के वर्तमान असह्य जीवन को भी जीने योग्य बनाने का एक अच्छा सम्बल था ।

इनके अतिरिक्त हिन्दुओं और मुसलमानों में एक अन्य वर्ग भी था जो कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि की परम्परा का अनुगामी था । यह वर्ग हिन्दू-मुसलमान दोनों की कट्टरता से मुक्त था तथा दोनों की रूढ़ियों, परम्पराओं, मिथ्याचारों एवं बाह्याडम्बरों की अवमानना करता था । ईश्वर की एकता, मानव की समता और भेदभाव का निराकरण इनका लक्ष्य था । सूफियों के कुछ तकिए और दरगाहें भी इसी वर्ग में पड़ती थीं । परन्तु विवेच्य काल तक इनकी शक्तिमत्ता भी प्रायः क्षीण हो चुकी थी । कबीर जैसे आरम्भिक महान सन्तों की परम्परा अब गद्दियों में बंट गई थी, और भले ही अब भी लोक के लिए ये मठ और गद्दियां एक प्रकार के संगठन और व्यवस्था के साधन थे, पर अन्य परम्परित संस्थाओं के समान इनमें भी वैभव, विलास, पाखण्ड और गुरुडम का प्रभाव बढ़ता जा रहा था ।

मोटे तौर पर यह राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक हर दृष्टि से ह्रास का और निम्नता का काल था । बौद्धिक और कलात्मक दृष्टि से भी नीचता की प्रवृत्ति बढ़ रही थी । प्राचीन श्रेष्ठ चिन्तन की घटिया पिष्टपेषण अथवा रूढ़िबद्ध टीकायें तथा संगीत, चित्र, स्थापत्य आदि हर क्षेत्र में घटिया अनुकरण, विलास और कोरे मनोरंजन की प्रवृत्ति बढ़ रही थी एवं उदात्त सौन्दर्य दृष्टि का ह्रास हो रहा था ।

इस प्रकार के बाह्य परिवेश में जिस कोटि के साहित्य का सृजन सम्भव हो सकता था, वह रीतिकालीन काव्य द्वारा स्पष्ट है । यहां यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि रीतिकालीन कवि अपनी क्षमताओं के संदर्भ में किसी अन्य काल के कवियों से न कम थे, तो न अधिक । हर युग में कुछ महान प्रतिभा–सम्पन्न, तो कुछ निम्नस्तरीय और अधिसंख्यक मध्यम कोटि के कवि, चिन्तक और कलाकार होते ही हैं । यही तथ्य रीतिकालीन कवियों की क्षमताओं और सम्भावनाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है । जहां तक वस्तुस्थिति का सम्बन्ध है, युगीन लेखक वही और उसी स्तर तक दे पाएगा जो उससे सामाजिक संदर्भ में अपेक्षित होगा । हिन्दी के आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल का कवि उन उदात्त लक्ष्यों की ओर प्रवृत्त हुआ जो तत्कालीन राजनीतिक–सामाजिक परिवेश उससे चाहता था । भक्तियुग के चारों काव्य–सम्प्रदायों का काव्य भी महत् लक्ष्य द्वारा प्रेरित होने के कारण महत् आधार एवं महत् स्तर ग्रहण करता है । परन्तु विवेच्य युग में जब श्रेष्ठ भावक, श्रोता, पाठक अथवा आश्रयदाता का अभाव है, तथा तत्कालीन आर्थिक अवस्था में जो लोग कवि–कलाकारों के आश्रयदाता एवं प्रेरक हो सकते हैं, उनकी अपनी बौद्धिक, नैतिक एवं कलात्मक क्षमतायें और अपेक्षाएं ही बहुत निम्न कोटि की हों, तो कवियों से उदात्त की अपेक्षा करना अनुचित होगा । एक कहावत है कि 'चूहे के चमड़े से दमामे (नगारे) नहीं मढ़े जाते ।' इसका भाव यही है कि जब राम जैसा उदात्त चरित्र या पृथ्वीराज जैसा शौर्य–सम्पन्न आधार तिरोहित हो गया हो, और कवियों के लिए छिछोरे, लम्पट नायक और अन्तःपुर की प्रणय–कलह और नायिकायें ही आधार रह गई हों, तो काव्य–स्तर इनसे भिन्न नहीं हो सकता । फिर भी यह असंदिग्ध है कि बिहारी जैसे कवि इतनी महान प्रतिभा के स्वामी थे कि आधार–भेद होने पर भी वे उच्चतम कोटि के कवियों के समकक्ष रखे जा सकते हैं ।

(ख) रीतिकाल – प्रमुख प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएं

रीतिकाल सम्बन्धी हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान डा० नगेन्द्र के मतानुसार रीतिकालीन काव्य

की दो प्रवृत्तियां अभिन्न रूप से गुंथी हुई मिलती हैं – 1. रीति–निरूपण अथवा आचार्यत्व, तथा 2. शृंगारिकता । अवान्तर सब प्रवृत्तियों को इन दो में ही अन्तर्भूत स्वीकार किया जा सकता है ।

रीति-निरूपण तथा आचार्यत्व के सम्बन्ध में विचार करने पर यह प्रकट है कि संस्कृत साहित्य में साहित्य–शास्त्र एवं काव्य–लक्षण विचार की इतनी सुदीर्घ और सुदृढ़ परम्परा रही है कि बेचारे रीतिकालीन कवि के लिए कुछ नये विवेचन-विश्लेषण का अवसर ही नहीं था । वे तो मूल सिद्धान्तों का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण ही हिन्दी भाषा में प्रस्तुत कर देते तो बहुत बड़ा योगदान सिद्ध होता । परन्तु वे सही विधि से यह भी नहीं कर पाए । रीतिकाल में दो वर्गों के हिन्दी कवि हुए । एक वर्ग के कवियों ने केवल कविता–सृजन तक स्वयं को सीमित न रख कर आचार्यत्व का भार वहन करने का प्रयास भी किया । इस फेर में उन्होंने अधकचरे लक्षण–ग्रन्थों का निर्माण किया । दूसरे वर्ग के कवि वे थे जो रीतिशास्त्र के ज्ञाता थे, पर उन्होंने रीति, लक्षण और उदाहरण का भार स्वयं पर न लेकर केवल सिद्धान्तों का वहन अथवा प्रयोग करने वाले लक्ष्य–ग्रन्थों की रचना ही की । आचार्यत्व के स्तर पर इनके उथलेपन के कुछ प्रमुख कारण ये हैं । वे वस्तुतः रसिक समुदाय के लिए लिख रहे थे, विद्वान् पंडितों के विवेचन–विश्लेषण के लिए नहीं । अतः लक्षण ग्रन्थों में भी सूक्ष्म लक्षण निरूपण के स्थान पर रसिक आश्रयदाताओं की रसिकता की पूर्ति इनके प्रयास की सीमा थी । इनका अपना शास्त्र ज्ञान भी अधकचरा था, अतः इसमें पूर्णता तथा गाम्भीर्य सम्भव नहीं था । फिर जो शक्ति या तार्किक सफलता गद्य में सम्भव है, वह उनकी दो चार पंक्तियों की तुकबंदी में कहां आ पाती ? काव्य लक्षणों का सूक्ष्म विवेचन गद्य में बौद्धिक धरातल पर तो सम्भव था पर ये कवि प्रायः सीमित छन्द के बन्धन में वह सब कहने का प्रयास करते थे, जो निःसन्देह सफलता की संभावनाओं से युक्त नहीं हो सकता था । इसलिए इनके शास्त्र–निरूपण में सूक्ष्म और संश्लिष्ट बात को भी अति सरलता से कह कर अपने काव्य–रसिकों का मनोरंजन और साथ ही उन्हें काव्य–शास्त्र का सतही ज्ञान देने के साथ अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन भी लक्षित होता है । यही कारण है कि इनका ध्यान संस्कृत के उन्हीं ग्रन्थों तक सीमित रहा जो पहले से प्रतिपादित सिद्धान्तों के परिचय या स्पष्टीकरण तक सीमित थे । स्वयं मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो खैर इनसे अपेक्षित भी नहीं हो सकता था, पर जिन पूर्व ग्रन्थों में स्वतन्त्र सिद्धान्तों की मौलिक स्थापना हुई थी, वहां तक भी इनकी दृष्टि नहीं जा सकी । रस–निष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार–रस–सम्बन्ध आदि काव्यशास्त्रीय सूक्ष्म सिद्धान्तों का एकाध आचार्य–कवि को छोड़ किसी ने उल्लेख तक नहीं किया । काव्य–लक्षण, शब्द–शक्ति, गुण–अलंकार–भेद जैसे गौण सिद्धान्तों का भी प्रायः निरूपण नहीं हो सका । यह सब होने पर भी इस काल के अधिसंख्यक कवि आचार्य बनने, आचार्य माने जाने के आकांक्षी थे । उनके कृतित्व के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि आचार्य तो ये प्रायः नहीं ही बन पाए, पर इस प्रयास में अपने सहज कवि–गुण का भी दुरुपयोग करने के कारण वे सफल कवि भी सिद्ध नहीं हो सके ।

रीतिकाल के सच्चे प्रतिनिधि कवि वे हैं जो शृंगार को सीधे–सीधे अपने काव्य का विषय बनाते हैं । ये तर्क का आश्रय न लेकर रस–सिद्धि ही अपने काव्य का आधार बनाते हैं । ये

आचार्यत्व का प्रदर्शन न करके कला–साधना की ओर ही ध्यान देते हैं। अतः युग की प्रवृत्ति के अनुकूल रीति तथा शृंगार दोनों का सहज समाहार इनके काव्य में हो जाता है और इनका काव्य बहुत मनोहर बन जाता है। इस वर्ग के काव्य में शृंगार के मिलन तथा विरह दोनों पक्षों का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। संयोग में नायक-नायिका, सखी, दूती, षडऋतु-वर्णन, अनुभाव, सात्विक भाव, नायिकाओं के स्वभाव, अलंकार आदि के मनोहारी चित्र मिलते हैं। शृंगार के वियोग वर्णन में पूर्वानुराग, मान, प्रवास, मान- मोचन, वियोगजन्य कामदशाओं का प्रभावपूर्ण अंकन हुआ है। पूर्वराग के श्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि साधनों का भी मनोहारी वर्णन हुआ है। शृंगार का मिलन पक्ष इनका मुख्य लक्ष्य एवं प्रिय विषय रहा है अतः नायक-नायिका भेद प्रायः सब कवियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम्य रहा है।

परन्तु सम्पूर्ण रीतिकाव्य के अध्ययन-विश्लेषण के बाद दो निष्कर्ष उभरते हैं। प्रथम, आचार्यत्व के स्तर पर इस काल में अनेक काव्य मर्मज्ञ हुए, प्रकाण्ड विद्वान हुए, पर युग-रुचि इन सब के अनुकूल नहीं थी। अतः इस गम्भीरता-विहीन युग रुचि के अनुसार अपेक्षा रसिकता की थी, काव्य विवेचन और मीमांसा की नहीं। यही कारण है कि इस वर्ग के आचार्य-कवियों की दृष्टि संस्कृत के ह्रास के परवर्ती युग के निम्नकोटि के साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाई। गद्य के अभाव में भी सूक्ष्म बौद्धिक चिंतन संभव नहीं था। यही कारण है कि इन्होंने नीति निरूपण का प्रयास तो किया, पर वह वर्णन मात्र तथा तुकबंदी भर ही बन पाया, सूक्ष्म-संश्लिष्ट विवेचन नहीं बन सका।

इस काल के काव्य की शृंगारिकता का स्वरूप-विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि इसका आधार स्वच्छ प्रेम, हार्दिक मनोरम प्रणय नहीं था। रसिकता, ऐन्द्रियता और कहीं-कहीं तो कोरी कामुकता इस काव्य का उपजीव्य है। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय तथा उपभोग प्रधान है। वासना अपने प्राकृतिक रूप में स्वीकार हुई है, और उसकी तुष्टि को ही प्रेम स्वीकार कर लिया गया है। न तो इस वासना को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास हुआ है और न उदात्त नर-नारी प्रणय तक ही इसे उठाने की चेष्टा हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि यह काम अथवा वासना वेश्या-विलास से भी भिन्न है। इसमें रोमांसिक प्रेम की तरह की साहसिकता, शौर्य, एकनिष्ठता, आत्म-त्याग, बलिदान और आदर्शवाद के दर्शन भी नहीं होते। यह सामान्य घर-ग्राम की शृंगारिकता है, जिसमें ऐन्द्रियता है, विलास और उपभोग की प्रधानता है। इसमें आकर्षण है, सरलता है, सौन्दर्य-विलास है, तरलता है, पर उत्कटता, तीव्रता और हार्दिक आकर्षण व एकात्मकता का अभाव है।

हिन्दी के रीतिकाव्य की मुख्य विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है – इस काव्य ने ब्रजभाषा को अपने श्रेष्ठतम, मनोहारी, कोमल और मंजे हुए रूप तक पहुंचा दिया। ब्रजभाषा का परिमार्जन इस काव्य की प्रमुख विशेषता है। वर्ण-संघटन, शब्द-मैत्री, रोचक उपमानों के साथ शरीर के अंग प्रत्यंग की रूपमाधुरी का वर्णन सजीव शब्दावली में किया गया है। भावों और चेष्टाओं के चित्रण की दृष्टि से भी रीति काल का अपना विशेष महत्व है। सुकुमार भावों की व्यंजना में रीतिकाव्य अद्वितीय है। भले ही रीतिकाव्य में जीवन के सर्वांग पक्षों का ग्रहण नहीं हुआ है, फिर भी अपने सीमित परिवेश में

ललित चेष्टाओं की बहुत ही मार्मिक व्यंजना इस काव्य में हुई है । शृंगार के सीमित सन्दर्भ में मानवीय मनोभावों का बहुत ही सूक्ष्म और मनोहारी चित्रण रीतिकाव्य की विशिष्टता है । जैसा संकेत हुआ है, यह काव्य जीवन के वैविध्य की उपेक्षा करता है । इसमें पुरुष तो है पर वह राजा, प्रजा, पिता, भाई, पुत्र, स्वामी, सेवक किसी भी रूप में न होकर केवल ललित प्रेमी या विलासी नायक की मुद्रा में ही आता है । इसी प्रकार स्त्री का भी मां, बहन, बेटी का रूप यहां पूरी तरह उपेक्षित है । गृह नारी, पत्नी भी है तो, पर वह भी ममता, स्नेह, सेवा, त्याग, गौरव, गरिमा, बुद्धि, विद्वत्ता और उत्तरदायित्व से सम्पन्न गृहिणी न होकर मानिनी, खण्डिता, प्रोषितपतिका, मिलनोत्कण्ठिता नायिका मात्र है । इसलिए जहां यह काव्य जीवन सन्दर्भ में काफी अयथार्थ, अवास्तविक तथा अतिशयोक्ति पूर्ण हो गया है, वहां अपने आकर्षण में यह यौवन की अल्हड़ता, मस्ती, कामासक्ति के कारण पर्याप्त रोचक और आह्लादक भी बन गया है । रीतिकाल के सब कवि वस्तुत: यौवन के कवि हैं । सुविधाभोगी, अभिजात वर्ग के युवा जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले कवि हैं । जीवन के संघर्ष, समस्यायें, द्वन्द्व, विषमतायें, जरा, रोग, साधना आदि इन कवियों के लिए कोई अर्थ नहीं रखते । सामन्ती युग की ललित अभिरुचि अवश्य इनके काव्य का उपजीव्य है । अतः शृंगार की पृष्ठभूमि में अन्य ललित कलाओं, ललित-कोमल भावनाओं तथा यौवन की मदमत्त क्रीड़ाओं के भरपूर दर्शन इस काव्य में होते हैं । ये कवि मुख्य रूप में नगर के कवि, दरबारों के कवि थे । पर उत्तरमध्यकाल की सामान्य लोकरुचि के अनुकूल इनका प्रभाव ग्राम-क्षेत्रों तक भी पहुंच गया । दरबारी एवम् सामन्तीय परिवेश से दूर तथा उससे एवं उसकी जीवन-पद्धति से प्रायः अछूते सरल-सामान्य कृषक, श्रमिक और ग्राम्य वर्ग पर भी रीतिकाव्य की शृंगारिक वृत्ति, कोमलता, मसृणता और कामुक मोहकता का प्रभाव पड़ा । इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य, उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार-प्रयोग तथा नायिका-भेद की व्याप्ति लगभग समग्र हिन्दी-प्रदेश में हो गई ।

अध्याय 25

मध्यकालीन सामन्तीय यौन-नैतिकता के सन्दर्भ में रीतिकालीन काव्य

विषय उपस्थापन

अन्य वर्गों के मानवीय अन्तर्सम्बन्धों की अपेक्षा नर-नारी सम्बन्ध बहुत संश्लिष्ट, गूढ़, वैविध्यपूर्ण और समस्या-संकुल रहे हैं। नर-नारी संबंधों का मूल प्रेरक तत्त्व यौनाकर्षण की सहजात, अदम्य तथा निर्वैकल्पिक प्रवृत्ति रही है, परन्तु मानव की अर्थव्यवस्था के विकास-प्रसार और संश्लिष्टता के कारण इन सम्बन्धों का स्वरूप सीधा पाशविक यौन-मिलन तक सीमित न रह कर विविध-मुखी स्वरूपों, प्रक्रियाओं, परम्पराओं और भावस्थितियों में अभिव्यक्त होता रहा है।[1] यही कारण है कि एक ओर विशुद्ध पशु-यौन से लेकर विशुद्ध भावात्मक प्रणयाकर्षण तक तथा दूसरी ओर विवाह की अनेकविध सामाजिक, नैतिक, शुचितावादी, परिशुद्धतावादी, आर्थिक लेन-देन पर आधारित, क्रय-विक्रय के मण्डी-नियमों द्वारा संचालित, पातिव्रत आदि की अव्यावहारिक सीमाओं तक आबद्ध और दहेज आदि की बलिवेदी पर पत्नी-हनन और पत्नी-दहन तक की पैशाचिक वृत्तियों-प्रवृत्तियों तक इन सम्बन्धों का वृत्त फैला हुआ है।[2] सन्तान की वैधता का सामाजिक आग्रह नारी के लिए इन सम्बन्धों को असहनीय सीमाओं तक पीड़ापूर्ण बनाता है,[3] तो विवाह की संस्था के नियंत्रण-पूर्ण आग्रह के दूसरे छोर पर अवैध नर-नारी सम्बन्धों के वेश्यावृत्ति तथा रखैल आदि रूपों का विकास होता है।[4] अपहरण, बलात्कार, हरामी (अवैध सन्तान) सन्तान आदि भी नर-नारी सम्बन्धों के इसी वैविध्य के अवांछित परन्तु दुर्निवार रूप हैं। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति द्वारा आनुवंशिकता के संरक्षण एवं प्रसार अथवा प्रजासृष्टि के लिए विकसित एक सहज, जन्मजात पशु-वृत्ति को केवल मानव पशु ने अपने बौद्धिक और परिणामित आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अनेक संकुल, सामाजिक, नैतिक, वैध तथा अवैध स्वरूपों में व्यवहारगत परिणति दी है।[5]

इसी संकुलता का एक पक्ष यह है कि नर-नारी का परस्पर आकर्षण तो सहज, दुर्दमनीय एवं दुर्निवार प्रवृत्ति है, पर हर उस समाज में जिसका किंचित भी विकास हुआ हो, इन सम्बन्धों

---

1. टोयोहिको कगावा, **लव द ला आव लाइफ**, 1934, पृष्ठ 28
2. आन्द्रे मोराय, **सैवन फेसिज आव लव**, 1960, पृष्ठ 171, 179
3. फ्लोयड डेल, **लव इन मशीन एज**, 1930, पृष्ठ 19
4. एस० एन० दासगुप्ता और एस० के० डे०, **ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर** खण्ड 1, भाग 2, 1947, पृष्ठ 21
5. हेवलाक एलिस, **साइकॉलोजी आव सेक्स**, 1960, पृष्ठ 275

को अनेक प्रकार के नियम-उपनियमों, विधि-विधानों और परम्पराओं द्वारा नियंत्रित करने का प्रयास अवश्य हुआ है ।[6] यह एकदम स्पष्ट है कि कोई भी नर अथवा नारी यौन के स्तर पर पूर्ण सामर्थ्यवान होने पर भी विवाह न होने पर, या पति-पत्नी के पास न होने पर, या अलग हो जाने की अवस्था में, या एक की मृत्यु की अवस्था में, या निकट होने पर भी मनसा परस्पर स्वीकार न होने की अवस्था में भी सामाजिक-नैतिक नियमों के सन्दर्भ में यौन-तुष्टि के वैकल्पिक प्रयास के लिए स्वतंत्र नहीं ।[7] फ्रायड ने जब यह कहा था कि मानव का सम्पूर्ण चिन्तन, जीवन-व्यवहार तथा उसका चैतन्य एक और केवल एक यौन भावना द्वारा आक्रान्त एवं संचालित है, तो वह सत्य से बहुत दूर नहीं था । ऐसी अवस्था में एक विचित्र स्थिति पैदा होती है, जिसकी प्राप्ति की इच्छा को हम विरत नहीं कर सकते, परन्तु जिसकी प्राप्ति या तो अलभ्य है अथवा अनेक बाधाओं द्वारा आवेष्ठित या अवरुद्ध है, उससे दो प्रकार की भावनाएं पैदा होती हैं – प्रथमतः, अप्राप्य की प्राप्ति का कोई भी वैध-अवैध प्रयास । नर-नारी के अवैध सम्बन्ध, अपहरण, बलात्कार आदि सब इस प्रयास की परिणतियां हैं ।[8] दूसरे रूप में यह भूख किसी कल्पित अथवा यथार्थ प्रेमपात्र के प्रति कोमल, भावुक आकर्षण, प्रणय भाव, अदम्य उत्कट अभिलाषा अथवा रोमांस का रूप धारण करती है ।[9] व्यावहारिक-सामाजिक जीवन में अभी पिछले कल तक, और आज भी इस कोटि के सम्बन्धों को किसी प्रकार की सामाजिक वैधता अथवा स्वीकृति प्राप्त नहीं रही है । विवाह सामाजिक संस्था है, जिसका निर्णय कुल-परिवार-कबीले द्वारा होता है, जबकि उत्कट प्रणय विशुद्ध निजी वैयक्तिक वस्तु है, जो सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवस्था दोनों की विरोधी होने के कारण समाज द्वारा कभी भी मान्य नहीं रही है ।[10] परिणामतः, प्रेमियों का अन्त या तो मृत्यु, आत्महत्या अथवा हत्या के रूप में होता रहा है अथवा पूर्ण सामाजिक बहिष्कार के रूप में । पर यह विचित्र तथ्य है कि सामाजिक व्यभिचार के इस रूप को हमारे साहित्य, संगीत, कलाओं और यहां तक कि भावुक-आध्यात्मिक साहित्य में भी दैवी, ईश्वरीय और अलौकिक तत्त्व माना गया है । इस सम्बन्ध को आत्मा-परमात्मा के मिलन के समकक्ष माना गया है ।[11] अनेक प्राचीन साहित्यिक रचनाओं में सामाजिक उत्पीड़न के शिकार प्रेमियों को ईश्वरीय दया, सहानुभूति और सहायता के पात्र रूप में अंकित किया गया है । ईश्वरीय दूत, पैगम्बर, देवदूत आदि सब उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहे हैं । मृत्यूपरान्त उन्हें स्वयं ईश्वर अथवा धर्मगुरु के चरणों में या समाधि के पास शरण दी गई है ।[12] तथ्य विचित्र है कि जो क्रिया अथवा व्यवहार सामाजिक व्यावहारिकता में अमान्य, अस्वीकार्य तथा निषिद्ध है, जो व्यभिचार एवं अवैध रूप में मान्य है, वही

---

6. एफ-एंगिल्स, **द ओरिजिन आव फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड स्टेट**, पृष्ठ 91
7. फ्लोयड डेल, **लव इन मशीन एज**, 1930, पृष्ठ 21-22
8. कर्ट थेसिंग, **जीनियालाजी ऑव लव**, 1956, पृष्ठ 241-242
9. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन, लोकजागरण और रोमांस भावना (लेख) **पंजाब सौरभ**, मई 1985, पृष्ठ 1-14
10. एफ० एंगिल्स, **द आरिजिन आव फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड स्टेट**, पृष्ठ 77
11. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, 1956, पृष्ठ 16
12. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, 1971, पृष्ठ 235-240

कला-साहित्य में श्रेष्ठ, महान, काम्य, दैवी तथा मानव जीवन के सार रूप में क्यों तथा कैसे आख्यायित और व्याख्यायित हुआ है ।

नर-नारी सम्बन्धों के इसी द्विविधा-संकुल परिवृत्त में उत्तर मध्यकाल के भारतीय नर-नारी सम्बन्धों पर तथा उस काल में रचित शृंगारी रीतिकालीन साहित्य पर विचार का प्रयास इस पत्र का उपक्रम है ।

मध्यकाल : ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश

प्राचीन सभ्यताओं के क्लासिकी समाजों के संदर्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकाल का आरम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है । भारतीय इतिहास के अनुसार भी मध्यकालीन प्रवृत्तियां वर्धन साम्राज्य की समाप्ति के साथ लगभग इसी काल में उभरती प्रतीत होती हैं । विश्व इतिहास में मध्यकाल का विस्तार सातवीं शती ईस्वी से सत्रहवीं शती ईस्वी तक लगभग एक हजार वर्षों का स्वीकार होता है । भारत के इतिहास के अनुसार यह काल उन्नीसवीं शती तक खिंच जाता है और इस प्रकार 1200 वर्षों के सुदीर्घ कालायाम को समेटता है । यह काल पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल के रूप में विभाजित होता है । पूर्वमध्यकाल बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है, जिसके बाद उत्तरमध्यकाल उन्नीसवीं शती तक चलता है ।[13]

यह वर्गीकरण क्लासिकी सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवनमूल्यों के एक विशिष्ट काल में ह्रास तथा कुछ ऐसे नवीन मूल्यों के विकास तथा वृद्धि पर आधारित है, जो सुनिश्चित क्लासिकी नहीं थे ।[14] (भारत में क्लासिकी राजनीतिक शक्ति का ह्रास हर्षवर्धन की मृत्यु के साथ प्रारम्भ होकर तेरहवीं शताब्दी में केन्द्रीय इस्लामी सत्ता की स्थापना और हिन्दू शासन के पतन के साथ पूर्णता प्राप्त करता है) । क्लासिकी व्यवस्था का विकास विश्व भर के प्राचीन देशों में कबीलाई अथवा आदिम जनतांत्रिक व्यवस्थाओं के स्थान पर साम्राज्य स्थापना के साथ सम्बद्ध है ।[15] सामन्ती व्यवस्था के आरम्भिक काल में वर्गभेद स्पष्टतर होता जाता है । एक वर्ग लगातार आजीविका की चिन्ता से मुक्त होता जाता है और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक-भावात्मक स्तर पर आभिजात्य आदर्श नेता की कल्पना के लिए आधार बनता है । आरम्भिक स्थिति में यह वर्ग-विभाजन ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, उद्योग तथा अर्थव्यवस्था के विकास में तीव्र गतिशीलता लाता है ।[16] इस नवीन परिशुद्धतावादी-आभिजात्यवादी वातावरण में उच्च वर्ग में सौन्दर्य तथा शिष्ट-सुसंस्कृत ऐश्वर्य के प्रति झुकाव बढ़ता है ।[17] इसी वातावरण

---

13. यह काल-विभाजन इतिहासाधारित है । हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल और उत्तर मध्यकाल की अवधारणा इससे भिन्न है ।

14. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, 'सन्तगुरु रविदास की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम', (लेख), आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद (सं०) **युगप्रवर्त्तक सन्तगुरु रविदास**, 1983, पृष्ठ 111-136

15. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, गुरु तेगबहादुर की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम, रमेश कुन्तल मेघ (सं०) **नवम गुरु पर बारह निबंध**, 1982 पृष्ठ 48

16. जे० जी० फ्रेजर, **दी गोल्डन बौऊ**, भाग 1, पृष्ठ 61-63

17. ए० बी० कीथ, **ए हिस्टरी आव संस्कृत लिट्रेचर**, पृष्ठ 20

में कला, संगीत और साहित्य के पारखी नागरिक का आविर्भाव होता है ।[18] इसी परिवेश के एक अन्य संदर्भ में नर-नारी सम्बन्धों में, विशेषतः पति-पत्नी सम्बन्धों में एक सम्भ्रान्त आदर्श उत्तरदायित्व तथा पारिवारिक एवं सामाजिक नियंत्रण के भाव का विकास होता है ।[19] 'रामचरितमानस' में विदेह की पुष्पवाटिका में सीता के प्रथम दर्शन पर राम के हृदय में उद्भूत कोमल भाव के प्रति स्वयं राम की द्विविधा इसी परिशुद्धतावादी-आभिजात्यवादी आदर्श नर-नारी सम्बन्ध का सुन्दर उदाहरण है :

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ।।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहीं सपनेहु पर नारी न हेरी ।।
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ।।[20]

मानस में ही विभीषण के लंका-निष्कासन प्रसंग में भी नर-नारी सम्बन्धों के इसी आभिजात्यवादी आदर्श का एक अन्य सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है :

जौ कृपाल पूंछिहु मोहि बाता । मति अनुरूप कहऊं हित ताता ।।
जौ आपन चाहै कल्याना । सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ।।
तो परनारि लिलार गौसाईं । तजउ चउथ के चन्द कि नाईं ।। 38 ।।

सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अंस कहहीं ।।
जहां सुमति तहं संपति नाना । जहां कुमति तहं विपति निदाना ।।
तव उर कुमति बसी विपरीता । हित अनहित मानह रिपु प्रीता ।।
काल राति निसिचर कुल केरी । तेही सीता पर प्रीति घनेरी ।।

तात चरन गहि मागऊं राखहु मोर दुलार ।
सीता देहु राम कहुं अहित न होई तुम्हार ।। 40 ।।[21]

यह स्पष्ट है कि सामन्तवादी व्यवस्था के विकास तथा शिखरावस्था में नर-नारी सम्बन्धों के केवल धर्मानुमोदित विवाह सम्बन्ध को ही श्रेष्ठ एवं काम्य सम्बन्ध के रूप में मान्यता प्राप्त हुई । इतर वर्ग के नर-नारी सम्बन्धों का उल्लेख अवश्य अनेक स्थानों पर प्राचीन साहित्य में भी उपलब्ध है, पर उसे कभी मान और महत्ता प्राप्त नहीं हुई । परन्तु यह आभिजात्यवादी सामन्ती व्यवस्था अपने जन्म से ही अपनी अन्तर्निहित प्रकृति में विवाह संस्था की कठोरता तथा तज्जन्य रोमांस अथवा उच्छृंखल यौनाकर्षण के तत्त्वों को लेकर चलती है ।[22] विवाह की सामन्ती संस्था यौन-नैतिकता तथा यौन-नियंत्रण की उन सीमाओं तक पहुंच जाती है, जहां सामन्ती युग की शिखरावस्था में यौन-निग्रह और यौन-नैतिकता के दूसरे ध्रुवान्त पर

---

18. **कामसूत्र** (वात्स्यायन); हिन्दी रूपान्तर, पृष्ठ 17
19. पी० टामस, **इंडियन वूमेन थ्रू दी एजेस**, 1964, पृष्ठ 48
20. **रामचरित मानस**, बाल काण्ड, 231
21. **वही०**, सुन्दर काण्ड, 38 - 40
22. डेनिस डी० रोगिमोंट, **पैशन एण्ड सोसायटी**, पृष्ठ 61, 62, 76

वेश्यावृत्ति, रखैल की परम्परा, बहु-विवाह तथा ब्रह्मचर्य आदि की अप्राकृतिक परम्पराओं का विकास होता है । ह्रास–कालीन सामन्ती नियंत्रण में यौन-सम्बन्धों के क्षेत्र में अप्राकृतिक यौन-निग्रह अथवा निषेध तथा रोमांसिक कल्पनाशीलता या उच्छृंखलता के तत्त्व ही प्रमुखता प्राप्त करते हैं ।[23]

मध्यकाल : नर–नारी सम्बन्ध

भारतीय सन्दर्भ में उपर्युक्त वृत्ति के सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं । सन्त काव्य में नारी संसर्ग को हेय, गर्हित तथा परित्याज्य माना गया है ।[24] राम काव्य का स्वर भी इसी के अनुरूप होने पर भी उसमें विवाह–संस्था तथा पति–पत्नी सम्बन्धों के आभिजात्य आदर्श को सशक्त स्वीकृति और मान्यता के साथ रेखांकित किया गया है । दूसरी ओर कृष्ण भक्ति साहित्य में नर–नारी सम्बन्धों के विवाहेत्तर वर्ग को विशेष दार्शनिक-धार्मिक हित–साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया है । प्रेमाख्यानक साहित्य भी मध्यकालीन लोक के जागरण के परिणामस्वरूप विभिन्न मतसम्प्रदायों का प्रकट सैद्धान्तिक आश्रय प्राप्त करके ह्रासशील सामन्ती विवाह की घुटन–भरी स्थितियों तथा यौन उच्छृंखलता के दूसरे ध्रुवान्त के विरुद्ध रोमांस भाव की उदात्त साहित्यिक–दार्शनिक अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है ।[25]

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में उत्तरमध्यकाल अथवा रीतिकाल का सामाजिक-राजनीतिक परिवेश सामन्ती ह्रास की चरम अवस्था का द्योतक है, जिसे सामन्ती अभ्युदय की शिखरावस्था में मूर्तिमान यौन–नैतिकता तथा विवाह संबंधों की पवित्रता के आग्रह की विलोम स्थिति कहा जा सकता है । वाल्मीकि रामायण को यदि सामन्ती व्यवस्था के विकास की शिखरावस्था का सूचक कहा जाए, तो हिन्दी रीतिकालीन शृंगार के साहित्य को सामन्ती व्यवस्था के ह्रास की निम्नतम सीमा कहा जा सकता है । सामन्ती व्यवस्था के इस ध्रुवान्त का विवेचन रीति-कालीन साहित्य के मूल सन्दर्भों में उपयुक्त होगा ।

रीतिकाल : ऐतिहासिक संदर्भ

रीतिकाल की ऐतिहासिक सीमा ईसा की 17वीं शती के मध्य से लेकर 19वीं शती के मध्य तक (1700–1900 विक्रमी) स्वीकार की जाती है । (शाहजहां के शासन की समाप्ति से प्रथम भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम और अंग्रेजी साम्राज्य–स्थापना तक के कालायाम को इसमें समेटा जा सकता है) । भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में जहां राजनीतिक दृष्टि से यह सामन्ती व्यवस्था के चरम ह्रास का युग था वहीं सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्धि और विलासिता का भी काल था । शासक वर्ग के नवाब, जागीरदार, मनसबदार तथा सामन्त, सभी का उद्देश्य विलासिता और समृद्धि का जीवन था, जिसके लिए कोई भी साधन उचित माना जाता था ।[26] पर साथ ही उच्च वर्ग के ये लोग काव्य और कला के संरक्षक थे तथा कुछ तो स्वयं भी कवि

23. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, 1971, पृष्ठ 14-23
24. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, सन्तगुरु रविदास की वाणी के समाजशास्त्रीय आयाम, **उपर्युक्त**, पृष्ठ 112–120
25. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, उपर्युक्त, पृष्ठ 1–33
26. भगीरथ मिश्र, रीतिकाल (टिप्पणी) **हिन्दी साहित्य कोष**, भाग 1, पृष्ठ 718–723

और कलाकार थे । इस प्रकार के परिवेश में रचित काव्य में जीवन के ललित, काम्य, सुकोमल तथा सुखोपभोग के तत्वों का प्राधान्य सहज स्वाभाविक है ।

युगीन समाज सामन्ती व्यवस्था पर आधारित था, जिसके शीर्ष पर सम्राट तथा इसके बाद क्रमशः राजा, नवाब, अधिकारी और सामन्त थे । ये अमीर और सामन्त अत्यधिक विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे । बहुपत्नीत्व तथा रखैलों एवं वेश्याओं से सम्बन्ध आभिजात्य युग–मूल्य था । ऐसी उच्चवर्गीय महिलाओं के लिए स्वयं को अलंकृत करके पति को रिझाने और उसके प्रसन्न होने पर अपनी विलास–सामग्री में सतत् वृद्धि में प्रयत्नशील रहने के सिवा और कोई काम नहीं था । शासक वर्ग के हाथों में नारी केवल भोग–विलास तथा तत्सम्बन्धी सौंदर्य–सज्जा का एक उपकरण मात्र बन कर रह गई थी ।[27]

मध्ययुगीन केन्द्रीय सुदृढ़ मुगल शासन के परिणामस्वरूप देश में कुछ शान्ति, सुख और समृद्धि का वातावरण बन गया था । इस शान्ति के परिणामस्वरूप क्लासिकी औदात्य तथा आदर्श परिकल्पना का पुनः विकास तो नहीं हो पाया, पर जीवन में कला, सुरुचि, कोमलता, शिष्टता, मांसलता और सुसंस्कृत व्यवहार का मान अवश्य बढ़ गया । इस कलाप्रेम ने विलासिता और सुखोपभोग की भावना के प्रखर वेग से जाग्रत होने में मुख्य भूमिका निभाई । कवि और कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ । इससे कवि–प्रतिभा को प्रोत्साहन मिला । दूर–दूर से कला–प्रतिभा के लिए आकर्षण का तत्व प्राप्त हुआ तथा कला कृतियों का विकास हुआ । इसके दूसरे छोर पर आश्रयदाताओं से अधिकाधिक संरक्षण और लाभ–प्राप्ति के लिए आश्रय–दाताओं की झूठी–सच्ची प्रशंसा तथा उनकी विलास एवं काम भावनाओं को जाग्रत और उद्बुद्ध करने के लिए अति अलंकृत, रूढ़िबद्ध और अश्लीलता की सीमाओं को भी पार करने वाले साहित्य की रचना उच्च–वर्गीय युग–मूल्य बन गया । परन्तु यह तथ्य रेखांकित करना भी उपयोगी होगा कि यह सम्पूर्ण समाज का युग–मूल्य नहीं था । जनसाधारण अपने नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की दृष्टि से भक्तियुगीन और विशेषतया राम काव्य की वैयक्तिक तथा पारिवारिक अवधारणाओं से तथा प्रकारान्तर से क्लासिकी नैतिक मर्यादा से अधिक सम्बद्ध था ।[28] विवाह की आभिजात्य–क्लासिकी संस्था की मर्यादा इस वर्ग में काफी सुदृढ़ रूप में बनी हुई थी, परिणामतः नारी की स्थिति पितृसत्तात्मक परिवार में कुछ हीन होने पर भी वह केवल नायिका और भोग्या की अवधारणा से भिन्न, सहधर्मिणी, अर्धांगिनी, धर्मपत्नी, सन्तान की मान्य माता तथा गुरुजनों के लिए बहू–बेटी की आदर्श मान्यता से समन्वित रही ।[29] मनु की नारी–पूजा के स्थलों पर देवताओं के वास की धारणा इसी वर्ग की नारियों के लिए मान्य थी और समग्र यौन–नैतिकता को रेखांकित करती थी । यह तथ्य ऊर्ध्वमुखी सामन्ती नैतिकता तथा ह्रासकालीन मध्य-युगीन आभिजात्य नैतिकता के विभेद को भली प्रकार रेखांकित करता है ।[30]

27. भगीरथ मिश्र, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 719–720

28, **वही०**, पृष्ठ 719-720

29. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, **मध्यकालीन रोमांस**, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 18

30. एस० के० डे० **एन्शेंट इंडियन इरोटिक्स एण्ड इरोटिक लिट्रेचर**, 1959, पृष्ठ 18

रीतिकाल : युग सन्दर्भ एवं काव्य

तुलसीदास 'मानस' में अपने रामराज्य सम्बन्धी कल्पित–आदर्श की विलोम स्थिति का चित्रण कलिकाल की सामाजिक स्थितियों के वर्णन द्वारा संयोजित करते हैं । नर–नारी सम्बन्धों के विषय में वह कहते हैं–

पर त्रिय लम्पट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने [31] ।। 100 ।।

कुलवंती पतिव्रता की अवमानना तथा चेरी, रखैल अथवा परकीया आकर्षण के सम्बन्ध में वह कहते हैं–

कुलवंति निकारहिं नारि सती । गृह आनहि चेरि निबेरि गती[32] ।। 101 ।।

सरल शब्दों में रीतिकालीन काव्य में प्रेमिका अथवा पत्नी के स्थान पर नायिका, तथा प्रेमी अथवा पति के स्थान पर नायक की परिकल्पना इस परिवर्तन का अच्छा प्रमाण है ।

रीतिकालीन काव्य में नर-नारी सम्बन्ध

रीतिकालीन हिन्दी काव्य में नर–नारी सम्बन्धों का एक और केवल एक ही वर्ग उपलब्ध है, वह है नायक तथा नायिका का । इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण जैवी आवश्यकता, आनुवंशिकता की सुरक्षा अथवा 'प्रिज़र्वेशन आव द स्पीसीज' है । यौनाकर्षण इस सन्दर्भ में प्राणी–मात्र के लिए अनिवार्य प्रवृत्ति तथा अपने आदिम रूप में तो वनस्पतियों के लिए भी अनिवार्य प्रकृति के रूप में स्वीकार्य है । पर नर--नारी सम्बन्धों के क्षेत्र में जैवी धरातल के यौनाकर्षण में और विशिष्ट सामाजिक संरचना में विभिन्न वर्गीय नायक–नायिकाओं के भेदोपभेदों तथा अन्तर्सम्बन्धों में भारी अन्तर है । मानवीय समाज–रचना की संश्लिष्टता में नर–नारी सम्बन्धों के अनेक समाज-स्वीकृत रूपों का विकास होता है । इन में माता–पिता, दादा–दादी, नाना–नानी, मासी, मामा, चाचा, बुआ जैसे गुरुजन तथा उनके कनिष्ठ सम्बन्धी और भाई–बहन आदि रक्त–सम्बन्धों के विविध स्वरूप हैं । विवाह की सामाजिक संस्था पति–पत्नी और उनके माध्यम से सास–ससुर, साला–साली, देवर–भाभी जैसे सम्बन्धों के विकास का कारण बनती है । उपर्युक्त सभी सम्बन्धों का आधार मूल रूप में दोनों वर्गों में विवाह की सामाजिक संस्था तथा उसकी नैतिक, धार्मिक और व्यावहारिक संहिता बनती है, जिस संहिता का विक़ास सामन्ती व्यवस्था के विकास के साथ होता है । यदि विवाह की संस्था को निकाल दिया जाए, तो माता और भाई–बहन के अतिरिक्त अन्य सभी संबंध समाप्त हो जाते हैं । परन्तु विवाह की यही संस्था अपनी अत्याग्रही संरचना में और प्रतिक्रियास्वरूप मानव की रोमानी भावना के परिणाम स्वरूप प्रेमिका, वेश्या, रखैल आदि की परम्पराओं के भी विकास का कारण बनती हैं । परन्तु इन परम्पराओं के प्रचलन के बावजूद भी इन्हें सामाजिक–नैतिक संदर्भों में कभी भी महत्तर स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी । क्लासिकी समाज–संरचना में नर–नारी के विवाह–वृत्त के सम्बन्धों तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्धों को ही अधिक महत्व प्राप्त हुआ है ।

---

31. रामचरितमानस, उत्तर काण्ड, 100 क

32. रामचरितमानस, उत्तर काण्ड, 101

पर ह्रासकालीन सामन्ती व्यवस्था में इसी यौन–नैतिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप नर–नारी सम्बन्धों के केवल यौनाधारित (समाज–स्वीकृत और गर्हित–दोनों) वर्गों को ही महत्व मिला है। इस काल के साहित्य में समाज–स्वीकृत विवाह सम्बन्ध को भी नैतिक–मर्यादा सम्मत पति–पत्नी रूप में स्वीकार न करके विविध–वर्गीय नायक–नायिकाओं के रूप में ही परिगण्य माना गया । इसमें परकीया तथा अन्या वर्ग की नायिकाओं, और उपपति तथा वैशिक नायक और उनके उपवर्गों का विशद आख्यान तत्कालीन काव्य में व्यक्त यौन–नैतिकता को भली प्रकार स्पष्ट करता है । रीतिकालीन हिन्दी काव्य में उल्लिखित विविध–वर्गीय नायक–नायिकाओं का संक्षिप्त परिचय विचार एवं विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा ।

रीतिकालीन नायिका

यह संकेतित किया गया है कि रीतिकालीन काव्य में पत्नी की अपेक्षा नायिका ही महत्वपूर्ण है, चाहे वह स्वकीया अथवा पत्नी ही हो । उसमें भी पत्नी की सामाजिक–नैतिक मर्यादा की अपेक्षा उसका भोग्या रूप ही प्रमुख है । पति अथवा प्रेमी नायक से सहवास की विभिन्न स्थितियों के आधार पर ही नायिकाओं के भेदोपभेदों का विवेचन इस काव्य में हुआ है, जिसका सामाजिक–पारिवारिक नैतिकता एवं प्रगति–प्रतिबद्धता के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है ।

रीतिकालीन साहित्य के अनुसार–जिसे देख कर हृदय में रस और उसके पोषक भावों का उदय होता है, उसे नायिका कहा जाता है :

उपजत जाहि विलोकि कै, चित्त बीच रसभाव ।
ताहि बखानत नायिका, जे प्रवीन कविराय[33] ।।

कविवर देव के शब्दों में–

''देखत हरे विवेक को, चित्त हरे करि प्रीत''[34], ही

नायिका कहलाती है । पुरुष के साथ यौन अथवा काम सम्बन्धों के संदर्भ में नायिका के स्वकीया, परकीया और अन्या, तीन भेद किए गए हैं । स्वकीया के परवर्ती तीन उपभेद हैं–मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ।

मुग्धा नायिका

मुग्धा नायिका के अज्ञात–यौवना, ज्ञात–यौवना, ज्ञात–यौवना–नवोढ़ा और विश्रब्ध–नवोढ़ा भेद स्वीकार्य हैं । विभिन्न आचार्यों ने इस भेदोपभेद योजना में कुछ घटा–बढ़ी भी की है । आचार्य केशव मुग्धा के चार भेद मानते हैं–नवल वधू, नवयौवना, नवल अनंगा और लज्जा प्राप्ता ।[35] आचार्य चिन्तामणि मुग्धा नायिका के सात भेद मानते हैं–वयःसन्धि,

---

33. मतिराम, रसराज, 5

34. देव, भवानी विलास

35. केशवदास, रसिकप्रिया, तृतीय प्रकाश, दोहा–17

कोमल कोण, अविदित यौवना, विदित मनोभव यौवना, अविदित कामा, नवोढ़ा, और विश्रब्ध नवोढ़ा ।[36] आचार्य देव आयु के अनुसार मुग्धा के निम्नलिखित पांच भेद स्वीकार करते हैं–वयःसन्धि (अज्ञात यौवना–12–13 वर्ष), नवल वधू (13 वर्ष, नवयौवना) (ज्ञात यौवना–14 वर्ष), नवल अनंगा (नवोढ़ा–15 वर्ष), सलज्ज रति (विश्रब्ध नवोढ़ा–16 वर्ष) । रसलीन ने मुग्धा नायिका के पांच भेद प्रस्तावित किए हैं[37], जबकि कुमार मणि नायिका का भेदोपभेद वर्णन इस प्रकार करते हैं–नवमदना, मुग्धा, नवयौवना, लज्जावती, भूषण रुचि, रतिवामा और वयः संधि । नवयौवना मुग्धा के पुनः ज्ञात–यौवना और अज्ञात–यौवना ये दो भेद माने गए हैं ।[38]

मध्या नायिका

मुग्धा नायिका में लज्जा अधिक और काम का भाव कुछ कम पर मध्या नायिका में काम और लज्जा के भावों को समान रूप में विद्यमान माना गया है । काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने स्वकीया के मध्या वर्ग की नायिका में इन दोनों भावों के समभाव को स्वीकार किया है–(नन्ददासः, ग्रन्थावली–पृष्ठ 128, कृपाराम की हितरंगिणी – 2149, चिन्तामणि–शृंगार मंजरी, देव–भवानी विलास, मतिराम–रसराज, जसवंतसिंह–भाषा भूषण, पदमाकर–जगदविनोद, नन्दराम–शृंगार दर्पण 1–49, आदि) । आचार्य केशव, देव, चिन्तामणि आदि ने मध्या नायिका के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा तीन भेद, तथा किंचित सूक्ष्म अन्तर के साथ आरूढ़–यौवना, रूढ़–यौवना, उन्नत–यौवना, प्रगल्भ–वचना, वक्र–वचना, प्रादुर्भूत–मनोभवा, उन्नत–कामा, सुरत–विचित्रा, लघु–लज्जा, विचित्र–सुरता, प्ररूढ़–स्मरा, प्ररूढ़–यौवना, ईषत् प्रगल्भ वचना, मध्यम व्रीड़िता, आदि भेद किए हैं ।

सामन्ती उच्छृंखलता और मध्या नायिका

नायिका के धीरादि भेद उसके मान पर आधारित हैं । सामन्ती नायक को, विशेष रूप में ह्रासकालीन सामंती नायक को यौन सम्बन्धी अपराधों की प्रायः छूट रही है । अपनी विवाहिता पत्नी को पातिव्रत के कठोर बन्धनों में आबद्ध कर वह परस्त्री–गमन में प्रायः स्वतंत्र रहा है । ह्रासशील सामन्ती व्यवस्था इसे निरादृत भी नहीं करती । ऐसा नांयक (पति) अपनी इस रसिकता के चिन्हों सहित जब घर लौटता है, तो वह खण्डिता नायिका का नायक कहलाता है, और उसके इस व्यवहार की प्रतिक्रिया के आधार पर नायिका के धीरा, अधीरा और धीराधीरा आदि वर्गों की कल्पना की गई है । नायक की तथा प्रकारान्तर से कवि तथा तत्कालीन समाज

36. चिन्तामणि, **काव्य कल्पतरु**, 5-2-82-83, 84

37. रसलीन, **रसप्रबोध**, दोहा 65-89

38. (क) शिशुता में यौवन जहां न्यारी जानि न जाय ।
वयः सन्धि मुग्धा तियहि वरनत है कविराय ।
(ख) मुग्धा में नवमदन, नव यौवन अति ही लाज ।
भूषण रुचि, रति-वामता, वरनत सुकवि समाज ।।
रसिक रसाल, 5-42

की मनोवृत्ति और नैतिकता को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं : पद्माकर कवि का एक नायक (पति) परस्त्री–गमन कर घर लौटता है । रोषवती नायिका के चुप रहने पर नायक पूछता है– 'कहो प्रिये' । उत्तर मिलता है–'क्या कहूं' । वह जब रोष छोड़ने के लिए कहता है, तो नायिका कहती है, मैं क्यों रोष करूंगी । वह पूछता है कि फिर वह रो क्यों रही है, तो नायिका का कहना है कि वह किसके आगे रो रही है । नायक कहता है कि तुम मेरे सम्मुख ही तो रो रही हो, जिस पर वह पूछती है कि वह उसकी क्या लगती है, नायक खूब बढ़ चढ़ कर कहता है–'तुम तो मेरी प्रिया हो'– जिस पर वह झटक कर कहती है–'मैं तुम्हारी प्रिया होती तो रोना ही किस बात का था ।'[39]

उपर्युक्त कथोपकथन में मध्या धीराधीरा का सुन्दर चित्र उभरता है । जहां कथोपकथन की चुस्ती व्यवहार और क्रिया–प्रतिक्रिया की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है, वहीं रीति-युगीन आभिजात्य यौन–नैतिकता का भी अच्छा परिचय देती है ।

मध्या धीरा नायिका का एक चित्र मतिराम के रसराज में इस प्रकार व्यक्त हुआ है– अन्या नायिका के साथ रात बिता कर घर लौटे नायक को नायिका (पत्नी) व्यंग्यात्मक शब्दों में कहती है– 'ऐ प्रिय । रात को तुम नहीं आ सके, इसमें तुम्हारा क्या दोष, तुम तो कामवश (कार्य–वासना) ही कहीं रुके होगे । तुम्हारा क्या दोष ? यह तो भाग्यदोष ही है कि तुम रात भर न आ सके । यह तो आपके प्यार का ही प्रमाण है कि प्रातः होते ही दौड़े आए हो और इस हड़बड़ी में किसी की साड़ी को ही पगड़ी समझ कर बाँध कर आ गए हो । तुम्हारे अंग अलसाए हुए हैं क्योंकि तुम मेरे ही वियोग में रात भर जागते रहे, जिसे मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ, और तुम्हारी आंखों की लाली मेरे प्रति अनुराग का ही तो प्रमाण है । मुझ से अधिक मानवती और सौभाग्यवती और कौन है ?'[40]

प्रौढ़ा नायिका

प्रौढ़ा नायिका में लज्जा की मात्रा कम और काम भाव अधिक माना गया है । कुमार मणि के अनुसार-

---

39. ए बलि कहौ हो किम का कहत कंत
अरी रोस तजि, रोस के कियो मैं अचाहे कों ।
कहे 'पद्माकर' यहै तो दुख दूरि करौ ।
दोस न कछू है तुम्हें नेह निरबाहे को ।।
तो यों इत रोवती कहा है, कहौ कौन आगे ।।
मेरेई जु आगे किये सुन उमाहे को ।
को हौं मैं तुम्हारी, तू हमारी प्रान प्यारी,
अजू होती जो पियारी, तो अब रोती कहो काहे को ।।

पद्माकर...जगद्विनोद

40. तुम कहा करो कान्त, काम तें अटकि रहे,
तुम कौन दोस सो तो अपनोई भाग है ।
आये मेरे भौन बड़े भोर उठी प्यार ही ते,
अति हरबरन बनाय बांधि पाग है ।
मेरे ही वियोग रहे जागत सकल राति,
गात अलसात मेरो परम सुहाग है ।
मनहु की जानी प्रान प्यारे मतिराम यहै,
नैननि हूँ मोहि पाइयतु अनुराग है ।।

मतिराम...रसराज, 38

अधिक काम, जोवन सरत, अति रति मोदन मानि ।
विविध भाव लघु लाज ये, प्रौढ़ा तिय में जानि ।

(रस रसाल–5–61)

हृदय राम कहते हैं–

प्रौढ़ा जाके मदन अति केलि कला प्रवीन ।
पति संग भावै निस दिना, धरे लाज अति छीन ।।

(हिततरंगिणी–2–58)

नन्ददास (नन्ददास ग्रंथावली–पृष्ठ 129) देव (भवानी विलास), मतिराम (रसराज 33), पद्माकर (जगद्विनोद), नन्दराम (शृंगार दर्पण–1–62) तथा बिहारी लाल भट्ट (साहित्य सागर–पृष्ठ 182) आदि आचार्य कवियों ने प्रौढ़ा नायिका में पूर्ण यौवन, काम की अतिशयता, लाज की न्यूनता, काम कला में कौशल, प्रेमाधिक्य, कलाप्रवीणता, विपरीत रति कुशलता, काम में उन्मत्तता आदि लक्षण स्वीकार किए हैं । विभिन्न आचार्यों ने प्रौढ़ा नायिका के अनेक भेद स्वीकार किए हैं– (रतिप्रिया, आनन्दमत्ता, ज्येष्ठा और कनिष्ठा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, प्रौढ़ारतिप्रीता, समस्त–रसकोविदा, विचित्र विभ्रमा, आक्रमित लब्धपतिका, यौवन प्रगल्भा, मदनमत्ता, रतिप्रीतिमति, सुखमोदपरवशा, रति कोविदा, सविभ्रमा, सकल तारुण्या, रतिमोहिनी, विविध भावा, लघु लज्जा, उद्भट यौवना, मदनमाती, आनन्द सम्मोहिता, अन्य सुरत दुखिता, वक्रोक्ति गर्विता तथा मानवती, आदि ।) इन भेदों के नामकरण से स्पष्ट है कि रतिप्रिया, मदनमत्ता तथा उद्भट–यौवना होना प्रौढ़ा की मुख्य विशेषताएं हैं तथा इन सब का सम्बन्ध उसकी काम क्रीड़ा के प्रति भावदशा से है, किसी अन्य प्रकार की सामाजिक–नैतिक दायित्व भावना से नहीं । इससे यह भी स्पष्ट है कि इस नायिका का एकमात्र सरोकार नायक के साथ वैविध्यपूर्ण काम–क्रीड़ाओं तक ही सीमित है । प्रौढ़ा नायिका के कुछ अन्य वर्गों के उदाहरण प्रस्तुत हैं-

प्रिया ने प्रिय के साथ प्रेम प्रसंग में काम के अतिरेक में विपरीत रति का आश्रय लिया । अतः सारी सेज ही टूटे मोतियों से भर गई । घड़ी भर इस क्रीड़ा के बाद नायिका आनन्द में इस प्रकार सराबोर हुई कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही ।[41]

---

41. रति रची विपरीत रची रति प्रीतम संग अनंग झरी मैं ।
त्यों पद्माकर टूटे हरा ते सरासर सेजपरे सिगरी मैं ।।
यों करि केलि विमोहित ह्वै रही आनन्द की सुघरी उघरी में ।
नीवी न बार सम्हारिवे की सुध गई सुधि नारि का चार घरी में ।।
पद्माकर... जगद्विनोद

बिहारी लाल भट्ट की आनन्द सम्मोहिता प्रौढ़ा नायिका का एक चित्र द्रष्टव्य है, जो अपने प्रिय को छकाते–छकाते अपने आप को ही रतिरंग में भूल गई ।[42]

नायिका द्वारा प्रेमी को लिवाने भेजी दूती का नायक की भोग्या बन कर लौटने का प्रसंग भी रोचक होने पर भी विचित्र यौन–नैतिकता को रेखांकित करता है । नायिका प्रिय के पास दूती को भेजती है और जब वह लौटती है तो उसकी दशा ही कुछ और हो रही है । दूती का समस्त शृंगार अस्तव्यस्त है । नैन अंजनविहीन हो गए हैं, देह पुलक–युक्त है, कुच–कुम्भ केसर – विहीन हो गए हैं । दासी कहती है कि यह सब तो मार्ग की बावली में स्नान के कारण हुआ है, पर नायिका इस बहाने को अस्वीकार करके क्रोधवश उसे डांटती है ।[43]

स्वकीया नायिका, अर्थात् पत्नी के विभिन्न भेदोपभेदों तथा उनकी प्रणयाधारित रुचि और प्रकृति का यह हल्का–सा निदर्शक–न्यादर्शक परिचय था । रीतिकालीन कवियों का समग्र कौशल और पूर्ण रसिकता तो परकीया नायिका, अर्थात् अन्य की पत्नी अथवा अविवाहिता की रति क्रीड़ाओं के प्रति ही प्रकट हुए हैं, जिनका हल्का संस्पर्श भी विवेचन की दृष्टि से उपयोगी होगा ।

परकीया नायिका

पर-पुरुष से गुप्त रूप में यौन-सम्बन्ध रखने वाली नायिका परकीया कहलाती है । सामाजिक मर्यादा की अवहेलना करके अविवाहिता कन्या या विवाहोपरान्त पति के अतिरिक्त अपने विवाहपूर्व के प्रेमी अथवा किसी अन्य काम्य पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली नारी इसी वर्ग में परिगण्य है । रीतिकालीन कवियों का परकीया चित्रण तो अद्‌भुत ही है । स्वकीया का तो इससे जोड़ ही नहीं । इसका कारण भी प्रकट ही है । परकीया में जिस साहस, अनुराग, धैर्य, बलिदान, कष्ट-सहन-क्षमता, त्याग और सामाजिक-पारिवारिक-नैतिक विरोध का सामना करने की हिम्मत होती है, स्वकीया को न तो इसकी आवश्यकता ही है, न संगति ही । परकीया का प्रणय-मार्ग कांटों भरा है । उसे सामाजिक प्रताड़ना और विरोध तथा पारिवारिक वर्जना, उत्पीड़न और व्यंग्य का हर समय सामना करना पड़ता है । प्राकृतिक रूप में भी उसे मेघ, वर्षा, शीत, नदी-नाले, वन-पर्वत, भयानक पशु-प्राणी सब से बच कर प्रेमी से मिलने का उपक्रम करना पड़ता है । नैतिक मान्यताओं की दृष्टि से भी स्वकीया के मार्ग में केवल लाज का

---

42. बैनी छुटी कै जुटी जकरी झुलनी मुरकी के रुकी रस सानी ।
नीवी कसी कै बिसी निकसी दुलरी उलरी कै लुरी लहरानी ।।
देह दुरी उघरी के 'बिहारी' खरी के परी न परी कछु जानी ।।
यों रति रंग छकाई लला ललना सुनी आपनी आप भुलानी ।।
बिहारीलाल भट्ट–साहित्य सागर, पृष्ठ 186

43. धोय गई केसरि कपोल कुच गोलन की, पीक लीक अधर अमोलन लगाई है ।
कहै पद्‌माकर त्यों नैन निरंजन में, तज तन कम्प, देह पुलकनि छाई है ।
बाद मति ठाने झूठू वादिनी भई री, अब दूतपने छोड़ि धूतपन में सुहाई है ।
आई तोहि पीर न पराई महापापिन तू, पापी ही गई न कहूं वापी न्हाई आई है ।।
पद्‌माकर...जगद्‌विनोद

तत्त्व ही बाधक है, जिस कारण उसको अपने पति-नायक से मिलन में संकोच होता है और जिस कारण उसके मुग्धा, मध्या आदि भेदोपभेदों की परिकल्पना हुई है । पर उसकी परकीया के किसी भी वर्ग से, जिनमें विभिन्न वर्गीय अभिसारिका, अर्थात् प्रेमी नायक से छिप कर सहेट-स्थल पर मिलने वाली परकीया नायिका भी शामिल है, कोई तुलना सम्भव नहीं ।

परकीया के लक्षण पर-पुरुष में अनुरक्ति, उपपति प्रेम, पर-पुरुष में क्रियाशीलता तथा अपनी दीपक रूपी द्युति दिखा कर प्रेमी रूपी शलभ का दहन-समान रूप में प्रायः सभी आचार्यों को मान्य है । रसलीन कहते हैं :–

निज दुति देह दिखाई के हरे और के प्रान ।
नेह चहत निसिदिन रहे सुन्दरी दीप समान ।।
(रस प्रबोध-193)

उसे दीपक के समान दिन-रात नेह (स्नेह–तेल अथवा प्रेम) अपेक्षित है । उसकी विशिष्टता भी इसी में है, अन्यथा अन्य सब तो उसे पति से भी प्राप्य है । इसी प्रणय अथवा रोमांस के लिए ही तो वह परिवार और समाज के सब बन्धनों को तोड़ने का साहस करती है ।

विभिन्न आचार्यों ने परकीया के ऊढ़ा और अनूढ़ा, वाग्विदग्धा और लक्षिता (क्रियालक्षिता, वचन लक्षिता और प्रत्यक्ष लक्षिता), विदग्धा गुप्ता, कुलटा, मुदिता, स्वयंदूती, आनन्दमत्ता, निपुणा (वचन निपुणा, क्रिया निपुणा), अनुशयाना (विघटित संकेता, अप्राप्त भावि संकेता, शंकित संकेत गमना), साध्या, असाध्या (सुख साध्या, दुःख साध्या), उद्बद्धा, उद्बोधिता, सभीता, गुरुजन सभीता, दूतिवर्जिता, अतिक्रान्ता, खलपृष्ठा, वृद्धवधू, बाल वधू, नपुंसक वधू, विधवा वधू, सेवक वधू, परतियासक्त-नायक वधू, अतिरोगी नायक वधू, गुन रिझावती, निरंकुश, धीरा, प्रगल्भा, अनुरागिनी, प्रेमासक्ता, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, खण्डिता, वासकसज्जा आदि असंख्य भेदोपभेदों का लक्षण सहित सोदाहरण आख्यान किया है ।

परकीया पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करती है । समाज, परिवार और नैतिक मर्यादा का विरोध परकीयत्व की अनिवार्य शर्त है । प्रणयाकर्षण और प्रणय से उद्भूत पीड़ा उसका भाग्य है । प्रिय को भेंटना तो दूर, कई बार तो देखना भी अपने इसी दुःख के कारण आँखों में आंसू भर आने के कारण उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता : –

भेंटन पैयत कैसे तिन्हें जिन्हें आंखिन देखत पैयत नाही ।।

अपनी सुरति, प्रेम क्रीड़ा तथा रतिचिन्हों को उसे अपनी सखियों, परिजनों, गुरुजनों से सायास छिपाना पड़ता है । उसे संकेत से अथवा कूटोक्ति से मिलन-समय तथा सहेट-स्थान अपने प्रेमी को संकेतित करना पड़ता है :

(क) खेत निहारो धान कौ यों बूझो मुसकाय ।
इतो हमारो है कह्यो, सघन ज्वार दरसाय ।।
(मतिराम-रसराज–73)

(ख) इहि सज्जा अज्जा रहैं, इहि हौं चाहतु सैन ।
हे रतौंधिहे बात यह, सैन समै भूलै न ।।
(भिखारीदास ग्रंथावली 2-65)

(ग) रे रंगिया करि राखियो, सकल रंग को साज ।
सांझ परे हौं आइहौं श्याम वसन कै आज ।।
(रसलीन-रसप्रबोध-248)

(घ) जहां चम्पा कदली विमल, बिम्बा अमल अनार ।
तिहि वनमाली सकुच तज सींचत क्यों न सम्हार ।।
(बिहारीलाल भट्ट-साहित्य सागर, पृष्ठ 197)

वचन-विदग्धा कौशलपूर्ण वचन का अवलम्ब लेती है । नायक तमाल माल दिखा कर तमाल-कुंज में मिलन का संकेत करता है, तो वह छाती पर की श्वेत मालती माला दिखाकर चांदनी रात में वहां पहुंचने का आश्वासन देती है : –

दोऊ अटान चढ़े 'पद्माकर' देखि दुहुं के दुओ छवि छाई ।
त्यों ब्रज बाले गुपाल तहां वनमाल तमालहि की दरसाई ।।
चन्द्रमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछु अपने मन भाई ।
आंचल खेंचि उरोजन तें नन्दलाल को मालती माल दिखाई ।।
(पद्माकर-जगद् विनोद)

उसके सहेट-स्थल एक-एक करके नष्ट हो रहे हैं । वह इससे चिंतित है, पर नवीन स्थल की कल्पना करके वह कुछ सान्त्वना प्राप्त करती है : –

सन सूक्यौ बीत्यो बनौ, ऊखो लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं, धरि धर हरि हिय नारी ।।
(बिहारी–बिहारी सतसई)

कुलटा परकीया तो एक ही अवसर पर अनेक नायकों को अपने क्रिया-व्यवहार द्वारा आकृष्ट करती चलती है –

यों अलबेली अकेली कहूं सुकुमार सिंगारन कै चली कै चली ।
त्यों 'पद्माकर' एकन के उर में रत बीजनि ब्वै चली ब्वै चली ।।
एकन सों बतराय कछु छिन एकन को मन लै चली लै चली ।
एकन को तकि घूंघट में मुख मोरि कनैखन दे चली दे चली ।।
(पद्माकर : जगदविनोद)

एकन बैनन ही ललचाए लचाए ह एकन सैनन कै कै ।।
लै गुलचाइ नचाए लला सुखचाए हैं ओठनि को रस लै कै ।
एकहिं भेंटि दुहूं भुज 'देव' दियो दृग अंजन रंग उन्हें कै ।
चंचल नैनी दृगंचल मोरि हंसे मुख रंचक अंचल दै कै ।।
(देव-भवानी विलास)

विविध-वर्गीय परकीया नायिका की रतिक्रीड़ाओं के जितने वैविध्यपूर्ण चित्रण रीतिकाव्य में प्राप्त हैं उतने अधिक तथा रोचक प्रसंग स्वकीया के भी प्राप्त नहीं हैं । कारण स्पष्ट है । विवाह संबंध तथा यौन-नैतिकता जिस सीमा तक जटिल और जकड़न भरी होगी, उसकी रोमानी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीखी और काम्य होगी । सामाजिक व्यभिचार अथवा एडल्टरी की साहित्यिक अतिस्वीकृति तथा मान्यता का सिद्धान्त[44] इस वर्ग पर पूरी तरह लागू होता है तथा रीतियुग में सामाजिक यथार्थ तथा भावात्मक विरेचन-प्रयास के संदर्भ में युगीन यौन-नैतिकता के द्वंद्व तथा द्विविधा को रेखांकित करता है ।

सामान्या नायिका

स्वकीया तथा परकीया नायिका के बाद रीतिकालीन आचार्यों और कवियों ने सामान्या नायिका का खूब चित्रण किया है, जो युग की रुचि तथा युगीन स्थिति का परिचायक है । सामान्या नायिका खूब धन लेकर किसी भी पुरुष के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने को उद्यत रहती है । उसके प्रास जाने वाला वैशिक नायक भी प्रणय प्रदर्शित करके केवल इन्द्रिय तोष का ही अभिलाषी होता है । शरीर विक्रय द्वारा धनोपार्जन इस नायिका की आजीविका है । सामाजिक व्यवस्था में वह वेश्या अथवा गणिका है, पर साहित्य में वह नायिका का एक महत्त्वपूर्ण रूप है तथा यौन-नैतिकता के सन्दर्भ में यही विचारणीय स्थिति है ।

काव्यशास्त्रीय, कामशास्त्रीय और यहां तक कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में सामान्या का विशद वर्णन उसके महत्त्व और उसकी अनिवार्यता को रेखांकित करता है । क्लासिकी काल में गणिका अथवा नगरवधू की जो स्थिति चित्रित हुई है, वह विकसनशील सामन्ती व्यवस्था की कलाप्रियता की एक सशक्त संस्था के रूप में परिकल्पना पर बल देती है । कामसूत्र में नगरवधू के प्रासाद की कला-साहित्य और संस्कृति के केन्द्र के रूप में परिकल्पना किसी भी आधुनिकतम क्लब की अपेक्षा अधिक आकर्षक और मनमोहक है । पर विवाह संस्था की जटिलता और पुरुष की स्वतंत्र-चयन की आकांक्षा की सिद्धि का सर्वसुलभ साधन यह संस्था ही रही है । अतः कालान्तर में इस संस्था का बहुत अवमूल्यन हुआ । निःसन्देह रीतिकालीन समाज अपने पारिवारिक यौन-मूल्यों की दृष्टि से, मुट्ठी भर सामन्तों को छोड़ कर, बहुत जकड़न भरा रहा है । अतः अतिशय सामाजिक वर्जना, अवमानना और अवमूल्यन के बावजूद भी वेश्या के किसी भी रूप का आकर्षण पुरुष समाज में बना रहा है । सामन्ती व्यवस्था की अभ्युदय अथवा पराभव की अवस्थाओं के अनुकूल ही इस विरेचक संस्था का भी अधिमूल्यन या अवमूल्यन होता रहा । रीतिकालीन अवस्था निश्चित रूप में सामन्ती व्यवस्था की हीनतर स्थिति की सूचक है, अतः वेश्या के साथ भी कला-संस्कृति और सौष्ठव के स्थान पर केवल द्रव्य के बदले कृत्रिम प्रणय-प्रदर्शन पर ही युगीन कवियों ने बल दिया है ।

सामान्या नायिका के निम्नलिखित भेद विभिन्न आचार्यों ने स्वीकार किए हैं : सामान्या स्वाधीनपतिका, सामान्या खण्डिता, सामान्या प्रोषितपतिका, स्वतंत्र, जननी अधीना, नियमिता,

44. मैथिलीप्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन लोकजागरण तथा रोमांस भावना (लेख) **पंजाब सौरभ, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 10

क्लृप्तानुरागा, कल्पितानुरागा, प्रेमदुखिता, संभोगदुखिता, वक्रोक्तिगर्विता, प्रेमगर्विता, गुणगर्विता, मानवती, मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा । निःसन्देह, इनमें से अनेक भेद केवल परम्परा-पालन का प्रयास मात्र लक्षित करते हैं और तर्क द्वारा असंगत सिद्ध होते हैं । सामान्या नायिका के लक्षणों में उसका धन-प्रेम और आभूषण-प्रेम ही अधिक रेखांकित हुआ है, और नायक को कृत्रिम प्रणयाकर्षण द्वारा आकृष्ट करके बहुविध धन-आभूषण प्राप्ति की सामान्या नायिका द्वारा सतत चेष्टा ही रीतियुगीन कवियों का प्रिय विषय रहा है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं : –

आजु मिले बहुतै दिन भावते भेटत, भेंट कछु मुख भाखो ।
ये भुज भूषण मो भुज बांधि भुजा भरि के अधरा रस चाखो ।
लीजिये लाल ओढ़ाई जरी पट कीजिये जो जिय में अभिलाषो ।
'देव' हमें तुम अन्तर पारत हार उतारि इते धरि राखो ।।

(देव-भवानी विलास 7–32)

देव की एक नायिका नायक के भुजबंध, ज़री- पट तथा हार प्राप्त करने के लिए अपनी वाकपटुता, तर्क संगति तथा यौनाकर्षण का सहारा लेती है । बिहारी लाल भट्ट की एक सामान्या नायिका अपनी दूती को एक ऐसे कुशल माली रूपी नायक को लाने का आग्रह करती है, जो नायिका के अंग-प्रत्यंग रूपी बगिया की अच्छी तरह देखभाल कर सके और उसे प्रभूत प्रेम तथा द्रव्य से सींचे ।

श्रीफल सम्हारे दिव्य दाड़िम विलोके बीज ।
बिम्बा को विलाती त्यों रसाल फल गन कौ।।
चम्पक को चाह लै गुलाबन सै आब देवै ।
सेवै अंग राखै रंग कदली दलन कौ ।।
कहत 'बिहारी' सींच सलिल सपोषे सदा ।
तान तन तोषे औ न रोषै तान तन कौ ।।
बाग की बहाली करै पूर्ण रक्षपाली ऐसौ ।
लावो ढूंढ आली कहूं माली मिलै मन कौ ।।
(बिहारीलाल भट्ट, साहित्य सागर, पृष्ठ 207)

दास कवि की सामान्या नायिका भी आभूषणों से सजी-संवरी होने पर भी वैशिक नायक से कौशल के साथ लाल आदि रत्न लाकर देने का आग्रह करती है ।

ढिग आइकै बैठी सिंगार सजै नख ते सिख लौ मुक्ता लरियां ।
मुसुक्याइकै नैन नचाइकै गाइ कियो बस बैन ग्वालरियां ।।
दरसावत लाल को बाल नई जु सजे सिर भूषन कालरियां ।
छवि होति भली गजमोती के बीच जु होती बड़ी-बड़ी लालरियां ।।

(दास कवि–रस सारांश–156)

समाहार

उपर्युक्त विचार में संक्षेप में रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में उल्लिखित नायिका के तीनों मुख्य वर्गों पर कुछ विचार का प्रयास हुआ है । प्रत्येक वर्ग की नायिका के परवर्ती वर्ग तथा अवांतर भेदोपभेदों से यह संख्या सैंकड़ों तक पहुंच जाती है । आचार्यों ने इन सब वर्गों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म लक्षण देने का प्रयास किया है और रीतिबद्ध कवियों ने अपने काव्य-कौशल तथा नायक-नायिका ज्ञान-प्रदर्शन के निमित्त इनके सुन्दर और कम सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं । यहां उन सब भेदों तथा उनके लक्षणों और उदाहरणों को उद्धृत करना न तो आवश्यक ही है और न सम्भव ही । पर इस संक्षिप्त निदर्शक विचार से एक बात स्पष्ट है कि रीतिकाल में नायक-नायिका के विविध-वर्गीय और विविध-रूपी चित्रण से यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि तद्युगीन समाज में इन सब वर्गों की नायिकाएं और नायक उपलब्ध थे और उनकी सब चेष्टाएं देखने-समझने का भी समकालीन समाज को तथा उन कवियों को अवसर मिला था । इस सम्पूर्ण उपक्रम के पीछे किंचित् शान्ति और समृद्धि का वातावरण, तज्जन्य कला तथा सौंदर्याभिरुचि, आश्रयदाता की सुलभता तथा संस्कृत काव्य शास्त्र में नायक-नायिका भेद और शृंगारी साहित्य की सुदृढ़ परम्परा की विद्यमानता महत्त्वपूर्ण कारण रहे हैं । पर अधिक सशक्त कारण तो मानव की यौन, काम तथा शृंगार की वह भूख रही है, जो ह्रासकालीन सामन्ती समाज में विवाह की संस्था के अधिकाधिक जड़तापूर्ण हो जाने, पातिव्रत की मर्यादा के अधिकाधिक कठोर हो जाने, तथा अभिजात वर्ग में नारी के बाल-विवाह, पर्दा तथा नर-नारी के वैध मिलन-अवसरों के भी सीमित एवं नियंत्रित हो जाने के परिणामस्वरूप अधिकाधिक प्रबल हो जाती है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जाति के अपने अस्तित्व संघर्ष में लीन होने के कारण तथा भक्तियुग में लोक-जागरण के परिणामस्वरूप भक्ति और नैतिकता के प्रति आग्रह आधिक्य के कारण इस स्वाभाविक क्षुधा को सम्भवतः अतिरिक्त प्रबलता से अनुभव करने और उसकी शान्ति अथवा विरेचन के कला-साहित्य-परक प्रयासों के कम ही अवसर उपलब्ध रहे । पर जैसे ही मुगलकालीन शासन देश में कुछ स्थिर हुआ और कुछ शान्ति, व्यवस्था और समृद्धि का अवसर हाथ में आया तो इस भूख की शान्ति के भी साहित्यिक- कलात्मक प्रयास एक बाँध के रूप में फूट निकले, जिसकी परिणति रीतिकालीन शृंगारी काव्य, संगीत और चित्रकला के रूप में हुई । इस काव्य को युगमूल्य का वाहक कहने के बजाय युगीन अपूर्णता की पूर्ति का एक बौद्धिक, कल्पनात्मक, कलात्मक, विरेचक प्रयास ही अधिक कहा जा सकता है । जहां कालिदास का युग तथा काव्य अपने सौन्दर्य, शृंगार, कलाभिरुचि और मांसल कामाभिव्यंजना के संदर्भ में परस्पर छवि-प्रतिछवि रूप में स्वीकार्य हो सकते हैं, वहीं रीतियुगीन साहित्य को तद्युगीन ह्रासकालीन सामन्ती समाज तथा परिवार व्यवस्था से उद्भूत स्वाभाविक काम एवं शृंगार-भावना का कल्पनात्मक-कलात्मक पूरक मात्र कहा जा सकता है । इसे समग्र सामन्ती व्यवस्था की विलोम स्थिति भी नहीं कहा जा सकता । अभ्युदय-मुखी सामन्ती व्यवस्था और पतनोन्मुखी सामन्ती व्यवस्था में एक ही तत्त्व के वैविध्यपूर्ण प्रयोग की दृष्टि से क्लासिकी यौन-नैतिकता और रीतियुगीन यौन-नैतिकता के विभेद तथा विलोम स्थिति का रेखांकन इससे अवश्य सम्भव है ।

अध्याय 26

साहित्य की आत्मा

सैद्धांतिक मतभेद

साहित्य की आत्मा के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों में काफी मतभेद रहा है। अलग-अलग आचार्यों द्वारा अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस और औचित्य आदि को अपने-अपने तर्कों के आधार पर साहित्य की आत्मा सिद्ध करने के प्रयास हुए हैं। प्रत्येक सिद्धान्त के आस-पास एक-एक पूरा का पूरा सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया। पर किसी भी प्रकार के निर्णय पर पहुंचने में आचार्य कुन्तक का दो पक्षों में विभाजन काफी सहायक हो सकता है। आचार्य कुन्तक ने प्रचलित छः सिद्धान्तों या सम्प्रदायों को निम्नलिखित दो वर्गों में रखने का तर्कयुक्त प्रस्ताव किया –

1. अलंकार्य वर्ग (इसमें रस, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदाय शामिल हैं) और
2. अलंकार वर्ग (इसमें अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय शामिल हैं)।

अलंकार्य का अर्थ है... जिसे सजाया जाए, जिसे संवारा जाए, जिसका अलंकरण किया जाए, जिसे बनाव-सिंगार के बाद प्रस्तुत किया जाए। किसी वस्तु या तथ्य का होना पहली शर्त है, तभी उसका अलंकरण हो सकता है। तो यह अलंकरण किसका होता है ? आचार्य कुन्तक का मत है कि रस, ध्वनि और औचित्य युक्त शब्दार्थ का अलंकरण होता है। अतः रस, ध्वनि और औचित्य-युक्त शब्द ही अलंकार्य हैं। इस दृष्टि से अलंकार्य वर्ग के तीनों सम्प्रदाय साहित्य के सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रयोजन पर अधिक बल देते हैं। ये अन्तर्मुखी विवेचना के परिणाम हैं।

दूसरी ओर अलंकार का अर्थ है–सजाना-संवारना। वह क्रिया या वस्तु जिससे सजाया जाए, अलंकृत किया जाए। यहां जिसे सजाया जाएगा वह निश्चित रूप में अलंकार से कोई अलग वस्तु होनी चाहिए। इस प्रकार अलंकार सम्बन्धी तीनों सम्प्रदायों (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) का बाह्य तत्वों की ओर आग्रह प्रकट है। ये तीनों बहिर्मुखी और रीतिवादी हैं और शब्द-प्रयोग तथा रूप तत्व पर अधिक जोर देते हैं। अलंकार सम्प्रदाय अलंकारों के बिना काव्य की सत्ता से ही इन्कार करता है। रीति-गुण सम्प्रदाय शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानता है और गुण-विशिष्ट काव्य रचना को काव्य की आत्मा स्वीकार करता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय में शब्दार्थ को काव्य का शरीर मान कर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा गया है।

इन सभी छः सम्प्रदायों का प्रस्थान-बिन्दु या आरम्भ एक ही है। सब शब्द और अर्थ के समवाय से काव्य-आत्मा की शुरुआत मानते हैं। पर इनके विश्रान्ति-बिन्दु, गन्तव्य या मंजिल

एक ही नहीं है । अलंकार सम्बन्धी तीनों सम्प्रदाय शब्दार्थ से अपनी यात्रा आरम्भ करके रस-भाव आदि से होकर फिर शब्द पर वापस आते हैं । दूसरी ओर अलंकार्य सम्बन्धी तीनों सम्प्रदाय भी शब्दार्थ से ही आरम्भ होते हैं पर शब्दार्थ पर लौटने के बजाय रस-भाव आदि में ही विश्रान्त हो जाते हैं ।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि कुन्तक के इस वर्गीकरण में अलंकार या अलंकरण पर आग्रह स्पष्ट है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द-प्रयोग काव्य को भाषा में लिखित ज्ञान की अन्य सब शाखाओं से अलग करने के उद्देश्य से हुआ है । अर्थात् जो अलंकृत नहीं है, वह काव्य ही नहीं है । इसी से ये प्रश्न पैदा होते हैं कि अलंकरण किसका हो ? तथा अलंकरण किस विधि से हो ? यहीं से काव्य के आन्तरिक और बाह्य तत्वों का भेद स्पष्ट होने लगता है ।

रस : काव्यात्मक रूप में मान्य :

धीरे-धीरे यह विवेचन समन्वय की ओर बढ़ता है । रस-सिद्धांत के अनुसार रस साध्य है, शेष सब कुछ साधन है । रस अलंकार्य है, शेष सब तत्व अलंकार है । ध्वनि सम्प्रदाय रस को स्वीकार करता है । उसके साथ वह वस्तु और अलंकार की व्यंग्यता को भी स्वीकार करता है । यही कारण है कि बाद के रसवादी आचार्यों ने ध्वनि के इन तीनों सन्दर्भों में व्यंग्यार्थ देने वाले गुणों को रस में ही स्वीकार करके ध्वनि सम्प्रदाय को ही रस के अन्तर्गत स्वीकार करने का संकेत दिया । औचित्य सम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र रससिद्धि के लिए औचित्य को अनिवार्य मानते हैं । इस तरह यह रस के अलंकार्य या काव्य की आत्मा होने की बात को स्वीकार कर लेते हैं । मम्मट काव्य में रस, गुण और अलंकार की स्थिति मानते तो हैं पर रस को सर्वोपरि मानते हैं । आचार्य विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और उत्तम काव्य में रस की स्थिति को सर्वोपरि मानते हैं । धीरे-धीरे रस-सिद्धान्त के समक्ष शेष सिद्धान्त हटते गए । भरत मुनि के द्वारा पहले ही प्रस्तावित रस को काव्यात्मा मानने का सिद्धान्त बृहत्तर रूप में स्वीकार होता गया । भट्ट लोल्लट, आचार्य शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त जैसे आचार्य रस को स्वीकार करके इसका विस्तृत प्रतिपादन करते हैं । मम्मट ध्वनि और औचित्य का रस में ही समावेश कर देते हैं । इस तरह अलंकार्य वर्ग के सिद्धान्तों का वह रस में ही पर्यवसान कर देते हैं । चन्दशेखर शब्दार्थ को काव्य-शरीर और रस को काव्य-आत्मा होने की घोषणा करते हैं । इस तरह वह अलंकार और अलंकार्य वर्गों के भेद को स्पष्ट कर देते हैं । इस तरह अन्त में भारतीय चिन्तन में रस को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता प्राप्त हो जाती है ।

रस :

रस के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन यहां प्रासंगिक होगा । रस काव्य की आत्मा है । साहित्य में रस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलता है । यहां रस अपने सब अंगोपांगों सहित काव्य के आनन्द या काव्य के आस्वाद के लिए प्रयोग में आया है । भरत का यह सूत्र इस सिद्धान्त का आधार है – 'विभावानुभाव संचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है । इसी के आधार पर पिछले लगभग दो हजार वर्षों से भारतीय कला-साहित्य चिन्तन में यह सिद्धान्त केन्द्र और आधार रूप में रहा है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य में सहजात वासना रूप में कुछ भाव स्थायी या निश्चित रूप में विद्यमान होते हैं । सामान्यतः ये अपनी शान्त और सुप्त अवस्था में रहते हैं । आलम्बन विभाव द्वारा ये जागृत होते हैं, और उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त होते हैं । व्यभिचारी अथवा संचारी भावों द्वारा पुष्ट और व्यक्त होकर ये स्थायीभाव दर्शक, भावक या पाठक को रस-दशा में पहुंचा देते हैं, जो इन्द्रियातीत, अनिर्वचनीय और अलौकिक आनन्द की दशा है । स्थायी भाव पहले आठ माने गए थे, पर कुछ घटा-बढ़ी के साथ अब दस या ग्यारह स्थायी भाव और उतने ही रस भारतीय काव्य चिन्तन में स्वीकार्य हैं । यही भाव विभावानुभाव-संचारी आदि के संयोग से रस-दशा को प्राप्त होते हैं । स्थायीभाव तथा उनसे प्राप्त रस निम्नलिखित हैं – रति स्थायी भाव से शृंगार रस, हास से हास्य रस, शोक से करुण रस, क्रोध से रौद्र रस, उत्साह से वीर रस, भय से भयानक रस, जुगुप्सा से वीभत्स रस, विस्मय से अद्भुत रस, निर्वेद या शम से शांत रस, श्रद्धा से भक्ति रस और स्नेह से वात्सल्य रस ।

रस निष्पत्ति : एक उदाहरण

एक उदाहरण द्वारा रस निष्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सकता है –

मृग का पीछा करते राजा दुष्यन्त ऋषि कण्व की आश्रम-सीमा में प्रवेश कर जाते हैं । मृग तो गायब हो जाता है पर दुष्यन्त परम रूपवती आश्रम-बाला शकुन्तला को अपनी सहेलियों से घिरा देखते हैं । शकुन्तला का रूप-सौन्दर्य दुष्यन्त के हृदय में स्थित रति स्थायी भाव को जाग्रत करता है । सारा वातावरण बड़ा मनमोहक है । एकान्त बाग, खिले हुए फूल, सुन्दर प्रवाहित झरना और शीतल पवन इस भाव को उद्दीप्त करते हैं । भ्रमर आकर शकुन्तला के मुख-मण्डल पर मंडराता है और उसे आक्रांत करता है । उस समय भयभीत शकुन्तला की चेष्टाएं दुष्यन्त के भाव को उद्बुद्ध करती हैं । उसमें हर्ष, आनन्द, संकोच आदि के क्षणिक भाव जागृत होते हैं । वह आगे बढ़ना चाहता है, पर संकोच के कारण रुकता है । लज्जा अनुभव करता है । अन्ततः भ्रमर से बचाने के लिए 'हाय कोई बचाए' की पुकार पर वह वृक्ष-कुंज से बाहर आ जाता है । दोनों एक दूसरे को देखते ही रह जाते हैं । उनकी आंखें रतिभाव के जाग्रत होने की चरम अवस्था को सूचित करती हैं ।

प्रत्यक्ष जीवन की इस घटना को काव्य या नाटक के रूप में पढ़ने-देखने वाले दर्शक-भावक के मन में स्थित रति स्थायीभाव क्रमिक रूप में उद्बुद्ध होता है । वह इस सीमा तक जाग्रत और उद्बुद्ध होता है कि दर्शक देश-काल सम्बन्धी सम्पूर्ण बोध से अतीत होकर उस घटना में तन्मय हो जाता है । वह स्वयं को, अपनी स्थिति को, अपने परिवेश को भूल जाता है । यही रस-दशा है । यह शृंगार रस की निष्पत्ति की प्रक्रिया है ।

इस घटना-क्रम में दुष्यन्त रति स्थायीभाव का आश्रय है । शकुन्तला आलम्बन विभाव है । एकान्त वनप्रदेश तथा उसका मनोहर परिवेश उद्दीपन विभाव है । शकुन्तला के हाव-भाव और भ्रमर से भयभीत होने पर उसकी चेष्टाएं अनुभाव हैं । दुष्यन्त का संकोच, लज्जा, उत्साह, हर्ष, स्वेद आदि संचारी भाव हैं । इन सब के संयोग से ही सहृदय या सामाजिक शृंगार रस की तन्मय करने वाली रस-दशा तथा आनन्द-दशा को प्राप्त होता है । अन्य रसों के विषय में भी अपने-अपने विभाव-अनुभाव आदि के आधार पर यही क्रिया संचालित होती है ।

रस-दशा सामान्य लोक जीवन में होने वाले अनुभव से भिन्न होती है। सामान्य जीवन के भय, शोक, रति आदि इन्द्रिय स्तर के अनुभव हैं। पर रस-दशा इससे अलग अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय और यहां तक कि ब्रह्मानन्दसहोदर (ब्रह्म की प्राप्ति या समाधि) की-सी दशा है। इसीलिए इसे लोकोत्तर और परमानन्द दशा कहा गया है। रस-योजना में शृंगार को रसराज कहा गया है।

Designed, Photosypeset & Printed at
AZAD HIND STORES (P) LTD. 34, Sector 17-B, Chandigarh